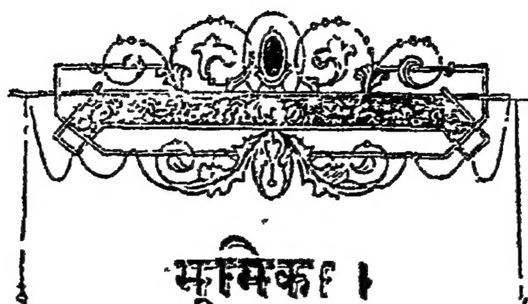
मुद्रक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रि. प्रेस, खपाटियाचकला,
लक्ष्मीनारायणकी वाड़ी—सूरत।

सूचना—कृपया हरएक पाठक अंतमें दिये हुए शुद्धिपत्रकी भूलें प्रथम ठीक करके ही इस ग्रन्थको पढ़ना आरंभ करें।

प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
व्यवस्थापक "जैनमित्र",
चंदावाड़ी—सूरत।



भूमिका ।

पाठकोंको विदित हो कि इस जगतमें हरएक मानवको सुख और शांतिकी चाह है। पर ऐसी चाह रखनेपर भी मानवोंका प्रयत्न संसारके पदार्थ संग्रहमें और उनके उपभोग करनेमें रहता है। क्योंकि चेतन व अचेतन पदार्थ सब परिणमनशील हैं, इसलिये वे उनकी इच्छानुसार न तो सदा वर्तन करते हैं, न स्थिर रहते हैं। इस कारण बड़ेसे बड़े ऐश्वर्य्यशाली मानवको भी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगकी आर्त्ति और अशांति भोगनी पड़ जाती है। जिन्होंने संसारके विषय भोगोंमें अपनेको रचाया है उन्होंने सुख शांतिको न पाते हुए अपनेको तृष्णा और आकुलताकी अग्निमें बलते हुए अनुभव किया है। अनंत प्राणी तृष्णाकी अग्निमें बलते हुए ही उसकी अपूर्त्तिसे कष्ट भोगते हुए ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण कर जाते हैं। पर यह यात्रा पूर्ण नहीं होती, क्योंकि चेतना लक्षणके धारी आत्माका कभी मरण नहीं होता, जैसे उसने यहां एक शरीर धारण किया था, वैसा ही उसको अपने बांधे हुए पाप या पुण्यके अनुसार दूसरा कोई देह धारना पड़ता है। वहां भी वह तृष्णाकी अग्निमें जलता रहकर फिर नवीन देहको रखता है।

महान ऋषियोंने अपने अनुभवसे यही बताया है कि सुख और शांति अपने ही आत्माका स्वभाव है और वह आत्माकी ओर लक्ष्य देनेसे स्वयं अनुभवमें आती है। अर्थात् जब हम अपने आत्माके वास्तव स्वरूपपर दृष्टि डालेंगे हम तुर्त सुख शांतिको प्राप्त करेंगे।

यदि हम वर्त्तमानमें अपने स्वभावमें या शुद्ध दशामें होते तो सुख शांतिके भोक्ता ही हर समय रहते जैसे कि परमात्मा सिद्ध महाराज नित्य इस सुख शांतिके विलासी हो रहे हैं। तथा यह हर मनुष्यको अनुभवसिद्ध है कि तृष्णाकी मंदता जब कुछ शांति देती तब उसकी वृद्धि अशांति देती है। विचार करनेसे विदित होगा कि तृष्णाकी उत्पत्ति मोहसे हुई है। मोह एक प्रकारका मद्य है, जिसके आवेशमें इस आत्माको सत् असत्की यथार्थ प्रतीति नहीं रहती है। परमात्माके मोह नहीं—अपने स्वभावमें तन्मयता है इसीसे सुख शांतिकी पूर्ण विलासता है। जो अंतरात्मा सम्यग्दृष्टी गृहस्थ वा मुनि हैं वे मोहके विजयी हैं, अतएव वे भी उस सुख शांतिके स्वादको भलीभांति जानते हैं। क्योंकि जब वे अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको सर्व अन्य द्रव्योंसे भिन्न विचारकर उस ओर उपयोगको थिर करते हैं, सुख शांतिका लाभ कर लेते हैं।

सुख शांति अपना स्वभाव होनेपर भी हमें प्राप्त नहीं है इसमें कारण हमारा अस्वस्थ, अशुद्ध, विकारी और मोही होना है। जैसे किसी रोगीको जब अपने रोग शमन करनेकी इच्छा होती है तब वह किसी वैद्यके पास जाता है। प्रवीण वैद्य उसकी परीक्षा कर उसको रोग होनेका कारण कह उसको प्रतीति दिला फिर रोगका इलाज बताता है। रोगी उस उपायपर विश्वास करके जब स्वयं औषधि सेवन करता है तब धीरे २ अच्छा और स्वस्थ हो जाता है। इसी तरह सुख शांतिका इच्छुक जब श्री गुरुके पास जाता है तब श्री गुरु उसके सुख शांति-में बाधक किन्हीं जड़ कर्मोंका बन्धन है ऐसा बताकर उन बन्धनोंसे मुक्त होनेका उपाय बताते हैं। जैसे वैद्यकी उपकार बुद्धि होनेपर भी विना स्वयं औषधि सेवनके रोगी अच्छा नहीं होता, उसी तरह श्री गुरुके चित्तमें महान उपकार बुद्धि होते हुए भी जब तक शिष्य स्वयं बंधसे मुक्त होनेका उपाय नहीं करता तब तक कभी भी मुक्त नहीं होसक्ता। जिन्होंने मोह और उसके परिवार—नानाप्रकारके कर्मोंको विजय कर लिया है ऐसे **जिन**के सिद्धान्त या **जैनमतमें** आत्माको अनादि कालकी परम्परासे लगे हुए इस कर्म रोगको जड़मूलसे खोदे-नेके हेतुसे नीचे लिखे सात तत्वोंका जानना और उन पर प्रतीति लाना बतलाया गया है—

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष।

ये मूल प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। क्योंकि जीवसे आपका, अजीवसे अपने साथ जिन कर्म शरीर आदिका सम्बन्ध है उनका, आश्रवसे कर्मोंके आकर्षण होनेके कारणोंका, बंधसे उनके बंध अर्थात् आत्माकी सत्तामें ठहर जानेका, संवरसे आश्रवके कारणोंको रोकनेका, निर्जरासे बंधके शनैः शनैः छेदनेका, तथा मोक्षसे पूर्ण बंधमुक्त होनेका ज्ञान होता है। अर्थात् जीव, अजीवसे मैं कौन हूं, पर कौन हैं इनका; आश्रव, बंधसे अस्वस्थ या रोगी या कर्मबंधन युक्त होनेका; संवर, निर्जरासे रोगका इलाज करनेका; तथा मोक्षसे निरोग या स्वस्थ अवस्थाका ज्ञान होता है।

हरएक सुखके वांछक प्राणीको इन सात तत्त्व अथवा पुण्य, पाप जो कर्मके दो भेद हैं इनको लेकर नौ पदार्थोंका अच्छा ज्ञान करना चाहिये। इन्हींका यथार्थ ज्ञान सो ही **जैन** सिद्धान्त या **निज** सिद्धान्तका ज्ञान है।

यद्यपि इस महान ग्रंथमें इन्हीं ९ पदार्थोंका व्याख्यान है तथापि वास्तवमें इसमें उस निर्जरा तत्त्वका ही वर्णन है जिसमें हितार्थीको आत्मज्ञान करके उसी आत्माका ध्यानमई तप करना पड़ता है। आत्मा जो जगत्को परोक्ष हो रहा है उसको प्रत्यक्ष करके ऐसा दिखा देना कि मानो वह तुम्हारे हाथपर रक्खा हुआ एक गुलाबका पुष्प है जिसको तुम प्रत्यक्ष देख देखकर उसकी सुगन्धसे संतोषी हो रहे हो, इस ग्रंथका मुख्य काम है। इसीसे यह कहना ठीक है कि यह ग्रन्थ साक्षात् मुक्ति या सच्चे आनन्दके अनुभवका द्वार है। यह ग्रन्थ

बहुत उच्चतम कोटिका एक अति गहन और सूक्ष्म मोक्ष मार्गका पथ है। जैसे किसी बहुत ऊंचे पर्वतपर जिसके दोनों ओर गहरी नीचाई हो एक बहुत सकुड़ा चलनेका मार्ग हो ऐसा कि जो चलनेवाला कुछ भी असावधानी करे तो पर्वतसे गिरकर प्राणान्त करे ऐसे ही इस ग्रंथका विचारपथ है। इसपर वही चल सक्ता है जो पहले और बहुतसे उन ग्रंथोंका मनन कर चुका है जिनमें इन सात तत्त्वोंका विस्तारसे व्याख्यान है।

इसलिये उचित है कि मुमुक्षु जीव **द्रव्य संग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थसिद्धि, गोमट्टसार जीवकांड कर्मकांडादि** सहित,– इनका अवश्य अभ्यास करे। तौ भी प्राचीन कालके अनेक रोगी किस तरह राग रहित हुए व भावोंके क्या २ फल होते हैं इनके दृष्टान्तोंको जाननेके लिये **श्री ऋषभदेव** आदि त्रेषठ महापुरुष व अन्य महापुरुषोंके चारित्रको कहनेवाले प्रथमानुयोगका अभ्यास करे; जिस लोकमें यह सब चरित्र हुए उसका विशेष स्वरूप जाननेको **त्रिलोकसार** आदि करणानुयोगका अभ्यास करे; गृहस्थ और साधुओंको कैसे बाह्य आचरण करना, आहार, विहार व व्यवहार करना इनका विशेष जाननेको **रत्नकरंड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, मूलाचार,** आदि चरणानुयोगका अभ्यास करे। फिर पीछे सूक्ष्म आत्मतत्वकी ओर लक्ष्य जमानेके लिये **परमात्मा प्रकाश, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय**का अभ्यास करे तथा जैन न्यायका स्वरूप परीक्षामुख आदि ग्रंथोंसे जाने। फिर जो कोई इस **समयसार** ग्रंथका अभ्यास करेगा वह इसके सूक्ष्म और आनंदमय पथ पर स्थिर रहकर अपना हित कर सकेगा।

यद्यपि यह गहन है पर इसकी प्राकृत भाषा बहुत सरल व अर्थ भी सरल है। तथा भाषामें इतना मीठापन है कि जिसने और शास्त्रोंको नहीं भी जाना है पर आत्माका कल्याण करना चाहता है उसको सुनते ही बड़ा ही प्रिय और रोचक मालूम होता है। इससे हरएक मुमुक्षुको इसका पाठ तो अवश्य कर जाना चाहिये। पर जो अल्पज्ञानी हैं उनको इसका मर्म समझनेके लिये ऊपर लिखित ग्रंथोंका अभ्यास अवश्य कर जाना चाहिये।

इस ग्रंथके कर्त्ता महाराज श्री १००८ **कुंदकुंदाचार्य देव** हैं जिनका स्मरण प्रत्येक जैनी शास्त्र सभाके पढ़नेके पहले इस नीचेके श्लोकसे करता है:—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं **कुंदकुंदार्यो** जैन धर्मोस्तु मंगलं॥

दिगम्बर जैनके मूलसंघ आम्नायकी जो २ पट्टावलियां कई सौ वर्ष पहलेकी लिखी हुई मिलती हैं उनमें उक्त आचार्यका नाम श्री **उमास्वामी** के पहले आता है जो **तत्त्वा-**

श्री सूत्र या मोक्षशास्त्र के कर्ता होगए हैं और जिनका समय विक्रम सम्वत् ८१ है। यह स्वामी कुंदकुंद श्री उमास्वामीके गुरु थे क्योंकि गृद्धपिच्छ जो कि श्री कुंदकुंदजीकी एक उपाधि थी वह उपाधि उमास्वामी महाराजके साथ भी थी जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्रकी प्रशस्तिके नीचेके श्लोकसे प्रगट है। जो बहुधा प्राचीन लिखित पुस्तकोंमें मिलता है।

तत्त्वार्थसूत्र कर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितं॥ वंदे गणीन्द्र संजात मुमास्वामि मुनीश्वरं॥

पट्टावलियोंके अनुसार श्री कुंदकुंदाचार्यका काल आचार्य होनेका विक्रम संवत् ४९ है।

इस महान आचार्यने वीर भगवान व प्रसिद्ध गणधर गौतमस्वामीके सदृश पदार्थका अनुभव किया था इसीसे नित्य मंगलाचरणमें उनके साथ ही स्वामी कुंदकुंदको याद किया जाता है। कोई२ वर्तमानमें इन कुंदकुंदको श्रुतावतार कथामें आए हुए कौंड-कुंडपुर निवासी पद्मनंदि मानकर श्री उमास्वामीके पीछे हुए ऐसा अनुमान लगाते हैं। पर यह अनुमान ठीक नहीं है। स्वामीने अपने पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थोंमें तीर्थंकर, केवली और श्रुतकेवलीको ही नमस्कार किया है तथा यत्र तत्र गाथाओंमें कहा है कि जैसा सर्वज्ञोंने कहा है वैसा कहता हूं। इससे इनकी बहुत प्राचीनता झलकती है। श्री उमास्वामीके पीछे भए होते तो यह श्री उमास्वामी ऐसे महान आचार्यको जिन्होंने सात तत्त्वोंका बहुत सुन्दर और अकाट्य शब्द रचनामें वर्णन किया है अवश्य कहीं न कहीं स्मरण करते।

इस ग्रंथकी दो संस्कृत टीकाएं मिलती हैं। एक आत्मख्याति जिसको श्री अमृतचंद्र आचार्यने बहुत ही उत्तम न्यायकी शैलीसे रचा था, दूसरी तात्पर्यवृत्ति जिसकी रचना बहुत विस्तार और भावार्थके साथ बहुत सरल है।

पहली टीकाका हिन्दी अनुवाद जयपुरके प्रसिद्ध पंडित जयचंदजी कृत प्रचलित हो रहा है। दूसरी टीकाका हिन्दी अनुवाद कहीं भी प्रसिद्ध न देखकर हमने संस्कृतके अनुसार इसलिये लिखनेका साहस किया कि हमारा स्वाध्याय भी सूक्ष्मतासे हो जायगा तथा जो संस्कृतज्ञ नहीं हैं वे इस भाषा द्वारा समझकर अपना हित करेंगे। इस संस्कृत वृत्तिको बम्बई चौपाटीके रत्नाकर पैलेसके चैत्यालयमें पुनः२ अभ्यास करनेसे इसकी प्रसिद्धि हो ऐसी गाढ़ रुचि भी हो गई थी जिसने प्रेरित किया कि इसकी भाषा की जाय।

इसका प्रारंभ बम्बईमें असाढ़ सुदी १४ बृहस्पतिवार वि० सं० १९७० ता० १८ जुलाई १९१३ को किया था। इधर उधर भ्रमण करते रहनेसे धीरे २ उल्था होकर इसकी समाप्ति इंदौरमें मिती आश्विन सुदी २ सोमवार वि. सं. १९७२ ता० ११–१०–१५को हुई थी। करीब एक वर्ष तक ऐसा नियम कर लिया गया था कि जब तक नित्य कुछ न कुछ उल्था लिख न लिया जायगा, आहार ग्रहण नहीं किया जायगा।

इस तात्पर्य्यवृत्तिके कर्त्ता जयसेनस्वामी कहे जाते हैं पर वृत्तिमें कहीं इनका नाम नहीं है तथा अमृतचंद्रकृत श्लोक वृत्तिमें लिये हैं, इससे प्रकट होता है कि तात्पर्य्य वृत्तिके कर्त्ता अमृतचंद्रजीके पीछें हुए हों। अमृतचंद्रजीका समय वि० सं० ९६२ सनातन जैनग्रंथ माला (छपी निर्णयसागर वम्बई सन् १९०९) की भूमिकाके अनुसार है।

इस भाषा करनेमें हमने अति साहस किया है। यह काम न्याय व व्याकरणके विद्वानोंका था पर हमारे समान विद्वत्तारहित व्यक्तिका न था। तौ भी आत्म प्रेमवश जो यह साहस किया है उसपर विद्वज्जन हास्य न करके कृपादृष्टि द्वारा इसे अवलोकन करेंगे और जहां कोई भूल मालूम पड़े उसे अवश्य सूचित करेंगे, क्योंकि मुझ जैसे अति अल्पज्ञानी द्वारा भी भूलें हो जाना संभव है। पहले सामान्यार्थ इसलिये दिया कि गाथाका कुछ भाव झलक जावे। फिर शब्दार्थ और विशेषार्थ संस्कृत टीकाके अनुसार दिया तथा मध्यमें प्राकृत गाथाका अन्वय करके अन्वयके क्रमसे शब्दोंको **कौन्स**में रख दिया जिससे पढ़नेवालेको शब्दका अर्थ भी अलग २ झलक जावे। तथा यदि कोई प्राकृतके अन्वय व शब्दपर ध्यान देना न चाहे व जो **कौन्स** छोड़कर पढ़े तो उसे वाक्य रचना सीधी २ समझमें आती जाय तथा अन्तमें भावार्थ जो दिया है वह अपनी ही समझसे लिखा गया है।

पाठकगण इसे पढ़कर आत्मज्ञान प्राप्त कर सच्चे सुखके भोक्ता
हों ऐसी भावना करनेवाला—

सर्व मुमुक्षुओंका दास–

चन्दावाड़ी, **सूरत।**
वैशाख सुदी १ वीर सं० २४४४
वि. सं. १९७५ ता० ११-५-१८

शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी।

सूची आवश्यक विषय।

सूची आवश्यक विषय।

नोट–यहां ४३७ गाथाओंका सूचीपत्र है जब कि तात्पर्यवृत्तिमें ४३९ गाथाओंकी वृत्ति करनेका उल्लेख पातनिकाकी सूचनामें है। २ गाथाओंका अंतर मोक्ष अधिकारमें पड़ता है। मोक्ष तत्त्वकी सूचनामें २२ गाथाओंके ४ स्थल हैं। इसमें दूसरे स्थलमें सूत्र पांच कहे हैं पर जिस लिखित प्रतिसे हमने उल्था किया था जो बम्बई चौपाटीके रत्नाकर पैलेस मंदिरमें है उसमें तथा जो कलकत्तेकी मुद्रित संस्कृत प्रति है दोनोंमें ४ ही सूत्र मिले। तथा चौथे स्थलमें सूत्र ६ बताए हैं हमने भी ६ ही गाथा ली हैं पर नीचे लिखी गाथाको उक्तं च समझ कर उसपर क्रम नं० नहीं डाला है।

"अपड़िक्कमणं अप्पड़िसरणं अप्पड़िहारो अधारणा चेव। अणियत्तीय अणिंदा अगुरुहा विसोहिय अमिय कुंभो" (सफा २५४) इसतरह समाधान समझना चाहिये।

धन्यवाद.

विश्वव्यापी महायुद्धके कारण कागजकी अतीव मंहर्गीके समयमें भी हम अपने सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "जैन मित्र" के १९वें वर्षके ग्राहकोंको यह बृहद् ग्रन्थ उपहार स्वरूप भेट दे सके हैं जिसका खास कारण यह है कि इस ग्रन्थको प्रकट करनेके लिये हमारे मान्यवर संपादक ब्रह्मचारीजी शीतलप्रसादजीकी प्रेरणानुसार निम्न लिखित सज्जनों द्वारा ७००)की सहायता प्राप्त हुई है जिससे ही ऐसा शास्त्रीय ग्रन्थ उपहार स्वरूप देनेका सौभाग्य "जैनमित्र" को प्राप्त हुआ है–

४००) श्रीमती चमेलीबाई, धर्मपत्नी लाला अजितप्रसादजी खजांची, देहरादून।

१००) श्रीयुत बाबू निर्मलकुमार देवकुमारजी रईस, आरा।

१००) जैनमहिलारत्न श्रीमती मगनबाईजी, संचालिका, श्राविकाश्रम, बम्बई।

१००) लाला बद्रीदासजी वकील, बिजनौर।

७००)

उपरोक्त अध्यात्मप्रेमियोंको हम कोटिशः धन्यवाद देते हुए अन्य श्रीमानोंको भी ऐसा शास्त्रदान समयानुसमय करनेके लिये प्रेरणा करते हैं।

प्रकाशक।



नमः सिद्धेभ्यः ।

समयसार टीका ।

अथ श्री समयसारकी तात्पर्य्यवृत्तिके अनुसार देशभाषामें बालबोध वचनिका लिख्यते।
सोरठा—समयसार अविकार, बंदौ ज्ञानानंद मय ॥ शिवस्वरूप शिवकार, मनवचकाय सम्हारिके ॥
॥ दोहा ॥ आतम निधि जाके प्रगट, ताहि भोग करतार । निज सुखके सुन्दर रसिक, वन्दौं वृषदातार ॥ रिषभदेवसे वीर लौं, चौवीसों जिनराय। भरतकाल अवसर्पिणी, वन्दौं भवि सुखदाय ॥ सिद्धालयमें राजते, सर्वसिद्ध समुदाय । सत स्वभावके सत धनी, नमूं हृदय उमगाय॥ गुरु गणधर गौतम प्रणमि, नमि आचारज और । उपाध्यायके चरण जुग, नमूं ज्ञानके ठौर ॥ साधत जे शिव-मार्गको, आतम रस स्वलीन । वन्दौं निर्मल भाव करि, कर्म बन्ध हो छीन ॥ जिनवाणी अमृतमई, समाधान करतार । मत विवादके फन्दको, सुलझावत गुणकार ॥ जे पदार्थ हैं अप्रगट, प्रगट दिखावन हार । सत स्वरूप सातामई, वन्दौं भवदधि तार ॥ समयसार सत ग्रन्थको, मर्म सुवेदन हार । कर्ता गुरु कुंदकुंदको, नमहुं ज्ञान दातार ॥ ताकी वृत्ति संस्कृत—तात्पर्य्य है नाम । ताके कर्ता जिनरमी, वन्दौं आठो जाम ॥ याकी भाषा वचनिका, नहीं प्रगट यह देख । निज परको हित जानिके, लिखूं नागरी लेख ॥

प्रथम ही वृत्तिकार मंगलाचरण करते हैं:—

श्लोक—वीतरागं जिनं नत्वा, ज्ञानानंदैकसंपदं । वक्ष्ये समयसारस्य, वृत्तिं तात्पर्य्यसंज्ञिकां ॥

भावार्थ—ज्ञानानंद रूप एक परम धनके धनी, रागद्वेषादि विकारोंसे रहित और आत्मघाती कर्मोंके विजेता श्री जिनेन्द्रको नमस्कार करके इस समयसार ग्रंथकी तात्पर्य्य संज्ञिका नाम टीकाको कहूंगा ॥

अथानंतर शुद्ध परमात्म तत्त्वके विषयमें कहनेकी मुख्यता करके विस्तारसे सुनने व जाननेकी रुचिको रखनेवाले शिष्योंको समझानेके लिये श्री कुंदकुंदाचार्य्य देव द्वारा संपादित इस समयसार प्राभृत ग्रंथका अधिकार शुद्धि पूर्वक पातनिकाके साथ व्याख्यान किया जाता है। तहां प्रथम ही " वंदितु सव्व सिद्धे " इत्यादि नमस्कार गाथा है इसको आदि लेकर पाठके क्रमसे पहले स्थलमें स्वतंत्र गाथाएं छह हैं। इसके आगे दूसरे स्थलमें भेदरत्नत्रय और अभेद रत्नत्रयका वर्णन करते हुए "ववहार णुवदिस्सदि" इत्यादि दो गाथाएं हैं। फिर तीसरे स्थलमें

निश्चय श्रुतकेवली और व्यवहार श्रुतकेवलीके स्वरूपके व्याख्यानकी मुख्यता करके "जो हि सुदेण" इत्यादि दो सूत्र हैं। इसके आगे चौथे स्थलमें भेद और अभेद रत्नत्रयकी भावनाके लिये तैसे ही इस भावनाके फलको वर्णन करनेके लिये "णाणम्हि भावणा" इत्यादि दो सूत्र हैं। तिसके पश्चात् पंचम स्थलमें निश्चयनय और व्यवहारनयका व्याख्यान करते हुए "ववहारोऽभूदत्थो" इत्यादि दो सूत्र हैं। इस प्रकार पांच स्थलोंमें चौदह (१४) गाथाओंके द्वारा समयसार ग्रंथकी पीठिकाका व्याख्यान स्वरूप एक समुदायपातनिका है। (समुदायपातनिकाको अध्यायके नामसे कह सक्ते हैं।

पीठिका पातनिकाका विस्ताररूप व्याख्यान।

अब प्रथम ही पहली गाथाके पूर्वके आधे पदसे मंगलाचरणके अर्थ इष्ट देवताको नमस्कार है और उत्तरके आधे पदमे समयसार ग्रंथका व्याख्यान करता हूं ऐसी प्रतिज्ञा है। ऐसा अभिप्राय मनमें धारण करके श्री कुंदकुंदाचार्य देव यह प्रथम सूत्र कहते हैं।:—

गाथा—**वंदित्तु सव्वसिद्धे। धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।**
वोछामि समय पाहुड़। मिणमो सुद केवली भणिदं॥ १ ॥

संस्कृतार्थः—वंदित्वा सर्व्वसिद्धान्। ध्रुवाममलामनुपमां गतिं प्राप्तान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृत। मिदमहो श्रुत केवलिभणितं ॥ १ ॥

सामान्यार्थः—अविनाशी, निर्मल और उपमारहित गतिमें विराजमान सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके, हे भव्यजीवो, मैं श्रुतकेवलियोंसे वर्णन करे हुए समयसार ग्रंथको कहूंगा।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—अब 'वंदित्तु' इत्यादि पदोंको अलग २ करके व्याख्यान किया जाता है। ('वंदितु') निश्चयनयके द्वारा परमात्मा ही आराधन करने योग्य है और वही आराधनेवाला है ऐसी एक भावरूप जो निर्विकल्प समाधि सो ही है लक्षण जिसका ऐसा जो भावनमस्कार उससे और व्यवहारनयके द्वारा परमात्माकी वचनरूप स्तुति सो ही है द्रव्य नमस्कार उससे नमस्कार करके किनको, (सव्वसिद्धे) अपने आत्मस्वरूपका लाभ अर्थात् अनुभव ऐसी जो सिद्धि उस लक्षणके धारी सर्व सिद्धोंको, कैसे हैं वे सिद्ध, (पत्ते) प्राप्त कर चुके हैं, किसको (गदिं) सिद्ध गति अर्थात् सिद्ध परिणति या पर्यायको, कैसी है वह गति, (धुवं) टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टामई एक स्वभावरूप होनेके कारणसे ध्रुव अर्थात् अविनाशी है; (अमलं) भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि, इन तीनोंके मैलसे रहित होनेके कारणसे और शुद्ध स्वभावसे भरे हुए होनेके कारणसे निर्मल है अथवा (अचलं) [ऐसा भी पाठ है] द्रव्य क्षेत्र, काल, भव, भावमई जो पांच प्रकारका संसारमें भ्रमण उससे रहित होनेके कारणसे और अपने स्वरूपमें निश्चल होनेके कारणसे चंचलता रहित

अचल है तथा (अणोवमं) जगतकी सम्पूर्ण उपमाओंसे रहित होनेके कारणसे और उपमा रहित आश्चर्य्यमई अपने स्वभावमें तन्मय होनेके कारणसे अनुपम है।

इस प्रकार पूर्वार्द्ध गाथासे नमस्कार करके उत्तरार्द्ध गाथाके द्वारा संबंध, अभिधेय और प्रयोजनकी सूचनाके अर्थ आचार्य्य प्रतिज्ञा करते हैं। (वोछामि) कहता हूं, किसको (समय पाहुडं) समय प्राभृतको, कैसा है समय प्राभृत, सम्, कहिये भले प्रकारसे अयः कहिये ज्ञान जिसके हो उसको समय अर्थात् आत्मा कहते हैं। अथवा समं कहिये एकीभाव रूपसे अयनं कहिये गमन अर्थात् ज्ञानका परिणमन जिसमें हो उसका नाम समय है। प्राभृत नाम सार अर्थात् शुद्ध अवस्थाका है। समय अर्थात् आत्मा उसका जो प्राभृत अर्थात् सार सो समय प्राभृत है अथवा समय है सो ही प्राभृत अर्थात् सार शुद्ध अवस्था स्वरूप है ऐसा यह समय प्राभृत है। (इणं) वह प्रत्यक्ष स्वरूप जो समयसार ग्रंथ उसे, (उ) अहो भव्य जीव! कैसा है यह ग्रंथ (सुद केवली भणिदं) (नोट—प्राकृत लक्षणके बलसे यहां केवली शब्द दीर्घ है) श्रुते अर्थात् परमागममें केवलिभिः अर्थात् सर्वज्ञ भगवानके द्वारा भणितं अर्थात् कहा गया है अथवा श्रुत-केवली जो गणधरदेव उन्होंने कहा है। भावार्थ—यह एक आत्मस्वरूपको झलकानेवाला ग्रन्थ है अतएव आत्मस्वरूपको सिद्ध करनेवाले ऐसे ध्रुव, निर्मल, उपमारहित, पंचमगतिको प्राप्त सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे हुए समय प्राभृतको कहूंगा ऐसी प्रतिज्ञा श्री कुंदकुंदाचार्य्यजीने की है। अब संबंध, अभिधेय और प्रयोजन कहा जाता है। व्याख्यान और व्याख्येयके सम्बन्धको सम्बन्ध कहते हैं। व्याख्यानरूप यह वृत्ति ग्रंथ अर्थात् टीकारूप शास्त्र है। व्याख्येय उस व्याख्यानको प्रगट करनेवाला सूत्र है। सूत्र और उसकी वृत्ति इन दोनोंका यहां सम्बन्ध है। सूत्रको अभिधान कहते हैं तथा सूत्रार्थ सूत्रके भावको अभिधेय कहते हैं। इन दोनोंके सम्बन्धको अभिधान अभिधेय सम्बन्ध कहते हैं। विकारोंसे दूरवर्ती ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा शुद्धात्म स्वरूपका परिज्ञान अथवा उसकी प्राप्ति अर्थात् उपलब्धि सो प्रयोजन है अर्थात् वृत्ति लिखनेका अभिप्राय है ऐसा जानना॥ १॥

आगे गाथाके पूर्वार्द्ध भागसे स्वसमय और उत्तरार्द्धसे परसमयको कहता हूं ऐसा अभिप्राय मनमें धार करके आगेका सूत्र कहते हैं—

गाथा—**जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाणे।**
पुग्गल कम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं॥ २॥

संस्कृतार्थः—जीवश्चारित्रदर्शन, ज्ञानस्थितस्तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च। तं जानी हि परसमयं॥ २॥

सामान्यार्थ—जब यह जीव शुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्रमें लय होता है तब निश्चय करके

इस जीवको स्वसमयरूप जानो। और जब यह जीव पुद्गल कर्मकी उदयजनित अवस्थाओंमें तिष्ठता है अर्थात् उपयोगको लगाता है तब निश्चयसे इस जीवको पर समयरूप जानो।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जीवो) शुद्ध निश्चयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई जो निश्चय प्राण उस करके, वैसे ही अशुद्ध निश्चयसे क्षयोपशम रूप अशुद्धभाव प्राणों करके तथा असद्भूत (जो वस्तुकी स्वरूपसत्तामें न हो, केवल बाह्यसे सम्बन्ध हो।) व्यवहारनयसे यथासंभव द्रव्यप्राणों करके जो जी रहा है, आगामी जीवेगा तथा पहलेसे जीता आया है सो जीव है। यथासंभवसे प्रयोजन यह है कि पंचेन्द्रीके १०, चौन्द्रीके ८, तेन्द्रीके ७, द्वेन्द्रीके ६ तथा एकेन्द्रीके ४ प्राण ही होते हैं। (चरित्तदंसणणाण ठिदो तं हि ससमयं जाणे) वही जीव जब चारित्र, दर्शन, ज्ञानमें स्थित होता है तब उसको प्रगटपने स्वसमय रूप जानो—विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावमई अपने परमात्म स्वरूपमें जो रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है, उस ही परमात्म स्वरूपके सम्बन्धमें जो रागादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है, तथा उस ही परमात्म स्वरूपमें जो निश्चल अनुभव रूप होना सो वीतराग चारित्र है इस प्रकार लक्षण सहित जो निश्चय रत्नत्रय उसके साथ परिणमन करता जो जीव पदार्थ उसको हे शिष्य स्वसमय जानो। (पुग्गल कंमुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं) पुद्गल कर्म्मके उदयसे अनेक अवस्थाओंको लिये हुए नामोंमें जो जीव तिष्ठता है उसीको ही परसमय स्वरूप जानो। अर्थात् पुद्गलमई जो द्रव्य कर्म्म उसके उदयसे उत्पन्न हुई जो नर नारक आदि पर्याय स्वरूप संज्ञाएं इनमें जब यह जीव निश्चय रत्नत्रयके लाभके विना तिष्ठता है अर्थात् इन पर्यायोंमें ही रम जाता है उस समय इस जीवको परसमय रूप जानो। ऐसा स्वसमय और परसमयका लक्षण जानने योग्य है।

आगे अपने आत्मीक गुणोंमें एकत्वके निश्चयको प्राप्त हुआ जो शुद्धात्मा सो ही उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य, ध्यान करने योग्य व मनन करने योग्य है तथा कर्मोंके बंधके साथ एकताको प्राप्त हुआ जो अशुद्धात्मा सो हेय अर्थात् त्यागने योग्य है अथवा स्व-समय ही शुद्धात्माका स्वरूप है न कि परसमय ऐसा अभिप्राय मनमें धरकर अथवा पिछले सूत्रके आगे यह अगला सूत्र कहना उचित ही है ऐसा निश्चय करके आगेका सूत्र कहते हैं। इस प्रकारकी पातनिकाका लक्षण इस ग्रंथमें सर्व ठिकाने जानने योग्य है।

गाथा—**एयत्तणिच्छय गदो समओ। सव्वत्थ सुंदरो लोगे।**
बंधकहा एयत्ते। तेण विसंवादिणी होदि ॥ ३ ॥

संस्कृतार्थ—एकत्वनिश्चयगतः समयः। सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बंधकथैकत्वे। तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

सामान्यार्थः—अपने अभेद रत्नत्रयकी एकताके निश्चयको प्राप्त हुआ आत्मा इस

लोकमें सर्व ही नर नारकादि अवस्थाओंमें सुन्दर प्रतिभासित होता है। कर्म बंधजनित अवस्थाओंमें तनमई होते हुए जो बंधकी कथा प्रवर्तती है सो कथा पूर्वोक्त जीव पदार्थके साथमें विसंवाद युक्त अर्थात् असत्य है।

शब्दार्थ सहित विशेपार्थः—(एयत्तणिच्छय गदो) अपने ही शुद्ध गुण और पर्यायोंमें परणमता हुआ अथवा अभेद रत्नत्रयमें परणमता हुआ अर्थात् अपनी एकताके निश्चयमें प्राप्त हुआ (समउ) यह आत्मा (समय शब्दसे आत्मा लेना योग्य है क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति इस तरह बनती है कि 'सम्यक् अयते गच्छति परिणमति कान् स्वकीय गुण पर्यायान्' अर्थात जो भले प्रकार अपने ही गुण और पर्यायोंको परणमन करै सो समय अर्थात् आत्मा है।) (सव्वत्थ सुंदरो) सर्व ही ठिकाने समीचीन अर्थात सत्यार्थ है। (लोगे) इस लोकमें। अथवा सर्व ही एकेन्द्रिय अवस्थाओंमें शुद्ध निश्चयनय करके सुन्दर अर्थात् उपादेय है। (बंधकहा) कर्म बंधसे उत्पन्न जो गुणस्थानादि पर्याय (एयत्ते) उनमें तनमई होते संते जो बंधकी कथाएं प्रवर्तती हैं (तेण) सो उस पूर्वमें कहे हुए जीव पदार्थके साथ (विसंवादिणी) विसंवाद करनेवाली (प्राकृतमें पुलिङ्गमें स्त्रीलिंगका निर्देश होसक्ता है) अर्थात् असत्य कथाएं (होदि) होती हैं। अर्थात् शुद्ध निश्चयनय करके शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं होसक्ती इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वसमय ही आत्माका निज रूप है। भावार्थ—निश्चय रत्नत्रय स्वरूप ही जीव पदार्थ सर्वथा उपादेय, कार्य्यकारी और परमानन्द प्रदायक है तथा इसके विरुद्ध जो यह कहना कि यह जीव मिथ्याती है, नारकी है, नर है व व्रती है सो सब अशुद्ध जीवका स्वरूप है अतएव हेय, अकार्य्यकारी और परमानन्द नाशक है इसलिये निज शुद्ध स्वरूपको ही ग्रहण करना कार्य्यकारी है।

आगे कहते हैं कि अभेद रत्नत्रयकी एकतामें परणमन करता हुआ जो शुद्ध आत्माका स्वरूप उसका पाना सहज नहीं है।

गाथाः—**सुद परिचिदाणुभूदा। सव्वस्स वि कामभोयबंधकहा।**
एयत्तस्सुवलम्भो। णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥ ४ ॥

संस्कृतार्थ—श्रुतपरिचितानुभूता। सर्वस्याऽपिकाम भोग बंध कथा।
एकत्वस्योपलंभः। किन्तु न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

सामान्यार्थः—काम भोग सम्बन्धी कथा तो इस सर्व ही जीवलोकके वारवार सुननेमें आई, जाननेमें आई तथा अनुभवमें आई है इससे सुलभ है—सहजमें आजाती है परन्तु अभेद रत्नत्रयमें रागादि भावोंके त्यागसे जो एकताकी प्राप्ति होनी सो इस जीवके सुलभ नहीं है, अर्थात् दुर्लभ है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(सव्वस्सवि) सर्व ही जीवलोकके (कामभोयबंध कहा) काम रूप जो भोग अथवा काम शब्दसे स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रियजनित भोग और भोग शब्दसे घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय सम्बन्धी भोग इन पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंकी कथा अथवा बंध शब्दसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध और इस बंधका फल नर नारकादि रूप लेना योग्य है। इस कारण काम, भोग और बंध तीनोंकी कथा सो (सुद परिचिदाणुभूदा) अनंत वार सुननेमें आई, जाननेमें आई, तथा अनुभवमें आई है। इसलिये ऐसी कथा व ऐसी अवस्था दुर्लभ नहीं है किन्तु सुलभ ही है। (नवरि) किन्तु (विभत्तस्स) रागद्वेषादि रहित (एयत्तस्स) एकताका अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रमें एक परिणति स्वरूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बलसे स्वसंवेदनगम्य जो शुद्धात्म स्वरूप उसका (उवलंभो) प्राप्त होना व लाभ होना (ण सुलभो) सुलभ नहीं है अर्थात् दुर्लभ है क्योंकि ऐसे आत्म स्वरूपका कथन सुननेमें नहीं आया, यदि सुननेमें भी आया तो परिचयमें नहीं आया, यदि कदाचित् परिचयमें भी आया तो अनुभव करनेमें नहीं आया। भावार्थ—यह है कि लोगोंमें काम भोग सम्बन्धी कथाओंका आना तो बहुत ही सुगम है परन्तु आत्म स्वरूपका अनुभव अतिशय दुर्लभ है। प्रयोजन यह है कि इस दुर्लभ स्वरूपके लाभके लिये दृढ़ प्रयत्न कर्तव्य है।

आगे आचार्य्य कहते हैं कि जब रत्नत्रयकी एकता सुलभ नहीं है तब इसका ही कथन प्रयोजन भूत जान किया जाता है।

गाथाः—**तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**
जइ दाइज्ज पमाणं। चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥ ५॥

संस्कृतार्थः—तमेकत्वविभक्तं। दर्शयेऽहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं। च्युतो भवामि छलं न ग्राह्यं॥ ५॥

सामान्यार्थ—श्री कुंदकुंदाचार्य्य कहते हैं कि मैं अपने आत्माकी ही बुद्धिमत्तासे उस अभेद रत्नत्रय वीतराग आत्म स्वरूपको दिखलाता हूं। यदि मैं दिखलाऊंतो उसको प्रमाण करना योग्य है। यदि इस उद्योगमें मैं कहीं च्युत हो जाऊं तो दुर्जनके समान छल ग्रहण करना योग्य नहीं है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(अप्पणो सविहवेण) आत्माकी अपनी ही मतिकी विभवसे अर्थात् आगम, तर्क, परम गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा (तं एयत्त-विभत्तं) तिस पूर्वोक्त एकत्व विभक्तको अर्थात अभेद रत्नत्रयमई जो एक स्वरूप उसमें परणमन करने वाले तथा मिथ्यात्वरागादि रहित परमात्म स्वरूपको (दाएहं) मैं दिखलाता हूं। (जइ दाइज्ज) यदि मैं दिखलाऊं (पमाणं) तो स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा परीक्षा करके उसे प्रमाण करना योग्य है। (चुक्किज्ज) यदि मैं चूक जाऊं (छलं न घेत्तव्वं) तो दुर्जनके

समान मेरा छल ग्रहण करना योग्य नहीं है । **भावार्थ**—श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि जब वह स्वसमयरूप परम वीतराग परमात्माका स्वरूप अति दुर्लभ है तब उसको दिखलाना अतिशय आवश्यक है । सो मैंने आगम द्वारा और तर्कसे जानकर तथा परम गुरू द्वारा प्राप्त उपदेशसे मिलानकर तथा अपने स्वयं अनुभवसे विचार कर जो निर्णय किया है सो मैं भव्य जीवोंके हितार्थ कहता हूं । यदि मेरे इस कथनमें मेरे प्रमादके द्वारा कहीं चूक हो जाय तो मेरा छल ग्रहण न किया जाय, किन्तु विशेष ज्ञानी विचारकर ठीक कर लेवैं, सज्जनके समान मेरे साथ व्यवहार करैं, दुर्जनके सदृश न करैं । ऐसी मेरी इच्छा है ॥ ५ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि यह शुद्धात्मा कौन है। उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं:-

गाथाः—**णवि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।**
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

संस्कृतार्थः-नापिभवत्यऽप्रमत्तोः न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धाः ज्ञातां यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

सामान्यार्थः—जो पदार्थ न अप्रमत्त है न प्रमत्त है, परन्तु ज्ञायक है ऐसा शुद्ध नयके ज्ञाता कहते हैं । इसलिये जो ज्ञाता है सो ही शुद्ध आत्म पदार्थ है ।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(णवि होदि अपमत्तो ण पमत्तो) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे इस आत्माके शुभ अशुभ परिणमनका अभाव है इस कारण यह आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है । प्रमत्त शब्दसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर प्रमत्त संयत छठे गुणस्थान तक, व अप्रमत्त शब्दसे अप्रमत्तसे ले अयोगी गुणस्थान तक ऐसे चौदह गुणस्थान जानने उन स्वरूप जो नहीं है । (जाणगो दु जो भावो) परंतु जो ज्ञान स्वरूप पदार्थ है सो ही शुद्धात्मा है (एवं भणंति सुद्धा) ऐसा शुद्धनयको अवलम्बन करनेवाले महान पुरुष कहते हैं (णादा जो सो दु सो चेव) इस कारण जो ज्ञाता शुद्धात्मा कहा जाता है सो ज्ञाता ही है ऐसा अर्थ जानना । **भावार्थ**—यह है कि वह शुद्धात्मा कषाय सहित है व कषाय रहित है इन विकल्पोंसे दूर है । मिथ्यात्वसे ले अयोगि पर्यंत गुणस्थान इस आत्मामें अशुद्ध नयसे कहे जाते हैं । शुद्ध निश्चयनयसे यह आत्मा स्व और परका ज्ञाता दृष्टा है, रागी व द्वेषी नहीं है। ऐसा शुद्ध जो आत्माका स्वरूप है सो ही उपादेय कहिये मनन करने योग्य व ध्यान करने योग्य है । ऐसे स्वतंत्र छह गाथाओंमें प्रथम स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे कहते हैं कि जैसे प्रमत्त आदि चौदे गुणस्थानके भेद इस जीवके व्यवहार नयसे हैं परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं हैं वैसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद भी नहीं हैं ऐसा उपदेश करते हैं—

गाथा:—ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७॥

संस्कृतार्थ:—व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानं।
नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

सामान्यार्थ—इस ज्ञानी जीवके दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहे जाते हैं, निश्चयनयसे न इसके ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है; परन्तु शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:—(ववहारेण) सद्भूत व्यवहारनय करके (णाणिस्स) इस ज्ञानी जीवके (चरित्तदंसणं णाणं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (उवदिस्सदि) कहे जाते हैं, परन्तु शुद्ध निश्चयनय करके (णविणाणं ण चरित्तं ण दंसणं) न तो ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है। तो फिर यह आत्मा कैसा है ? (जाणगो) ज्ञायक शुद्ध चैतन्य स्वभाव है तथा (सुद्धो) शुद्ध ही है–रागद्वेषादि करके रहित है। यहां यह प्रयोजन है कि जैसे निश्चयनय करके अभेद स्वरूप होनेसे अग्नि एक रूप ही है। पीछे भेद रूप व्यवहारनय करके यह कहनेमें आता है कि जो दहन करती अर्थात् जलाती है सो दाहक है, जो पकाती है सो पाचक है, जो प्रकाश करती है सो प्रकाशक है। इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षासे–विषय भेदसे तीन प्रकार भेद अग्निके किये जाते हैं। वास्तवमें वही अग्नि दाहक, पाचक तथा प्रकाशक स्वरूप है तैसे ही यह जीव भी निश्चय स्वरूप जो अभेद नय उसकी अपेक्षासे शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही है, ऐसा होने पर भी भेद रूप व्यवहारनय करके यह कहनेमें आता है–जो जानता है सो ज्ञान है, जो देखता है व श्रद्धान करता है सो दर्शन है, जो आचरण करता है सो चारित्र है। इस व्युत्पत्तिके कारण विषयके भेदसे तीन प्रकार भेद किये जाते हैं। परमार्थसे तो दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप आत्मा ही है। **भावार्थ**—ऐसा आत्मा जो शुद्धनिश्चयसे अभेद स्वरूप और सद्भूत व्यवहारसे भेद स्वरूप है सो ही ध्यान करने योग्य उपादेय है। आगे कहते हैं कि यदि शुद्ध निश्चयनय करके इस जीवके दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं है तो एक इसी परमार्थ स्वरूपको ही कहना योग्य है।

व्यवहार स्वरूप कहनेकी कोई आवश्यक्ता नहीं है ऐसी शंका किये जानेपर आचार्य्य कहते हैं—

गाथा:—जह णवि सक्कमणज्जो। अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा। परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

संस्कृतार्थ:—यथा न शक्योऽनार्य्यो। ऽनार्य्यभाषां विना तु ग्राहयितुं।
तथा व्यवहारेण विना। परमार्थोपदेशनमशक्यं ॥ ८ ॥

सामान्यार्थ:—जैसे म्लेच्छ म्लेच्छ भाषाके बिना किसी बातके समझनेको असमर्थ है वैसे व्यवहारके बिना व्यवहारी जीवोंको परमार्थका उपदेश होना अशक्य है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (अणज्जो) अनार्य्य अर्थात् म्लेच्छ (अणज्ज भासं विणादु) अनार्य्य जो म्लेच्छ भाषा उसके विना (गाहेदुं) अर्थ ग्रहण करनेको अर्थात् समझाये जानेको (णविसक्कं) नहीं शक्तिमान होते। (तह) तैसे (ववहारेण विणा) व्यवहार नयके विना (परमत्थुवदेसणम्) परमार्थका उपदेश करना (असक्कं) अशक्य है। यहां यह अभिप्राय है कि जैसे कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छ लोगोंकी पल्ली अर्थात् बस्तीमें गया वहां उसको म्लेच्छने नमस्कार किया। तब उस ब्राह्मण या यतिने उसके उत्तरमें 'स्वस्ति' ऐसा कहा। तब वह म्लेच्छ स्वस्तिके अविनश्वर अर्थको नहीं जानता हुआ कुछ भी नहीं समझा और मेढ़ेके समान उस ब्राह्मण वा यतिको ताकने लगा। तैसे ही यह अज्ञानी मनुष्य भी 'आत्मा' ऐसा कहे जाने पर आत्मा शब्दके सत्य अर्थको नहीं जानता हुआ भ्रम बुद्धिसे ताकता रहता है अर्थात् आत्मा किसे कहते हैं इस बातको कुछ भी नहीं समझता। परन्तु जैसे वह म्लेच्छ अपनी म्लेच्छ भाषामें जब उस ब्राह्मण द्वारा आशीर्वाद सूचक वचनको सुनता है तब बहुत ही हर्षित होता है और 'स्वस्ति' शब्दको भी समझ लेता है तैसे ही जब यह अज्ञानी व्यवहारी जीव किसी निश्चय और व्यवहारके ज्ञाता पुरुषसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र स्वरूप जीव है ऐसा जीव शब्दका अर्थ समझता है तब जीव पदार्थको ठीक २ जान संतुष्ट होता है। भावार्थ—परमार्थ स्वरूपका कथन और जानपना व्यवहारनयके आश्रय विना हो नहीं सक्ता इसलिये व्यवहारनयका आश्रय लिया जाता है। जो परमार्थके ज्ञाता परमार्थ तत्त्वमें आरूढ़ हैं उनके लिये व्यवहार नयका उपदेश कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार भेद और अभेद रत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यता करके दो गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे पहली गाथामें जो यह कहा है कि व्यवहार करके परमार्थ जाना जाता है उस ही अर्थको फिर कहते हैं:—

गाथाः—जो हि सुदेणभिगच्छदि। अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो। भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ ९ ॥
जो सुदणाणं सव्वं। जाणदि सुद केवली तमाहु जिणा।
सुदणाणमादा सव्वं। जम्हा सुद केवली तम्हा ॥ १० ॥

संस्कृतार्थः—यो हि श्रुतेनाभिगच्छति। आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धं।
तं श्रुतकेवलिन मृषयो। भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥
यो श्रुतज्ञानं सर्वं। जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहु जिनाः।
श्रुतज्ञानमात्मा सर्वं। यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

सामान्यार्थ—जो कोई निश्चयसे भावश्रुतके द्वारा इस आत्माको असहाय और शुद्ध जानता है उसको लोक स्वरूपके प्रकाशक परम ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं ॥ ९ ॥ जो कोई

सर्व द्वादशांग श्रुतज्ञानको जानता है उसको जिनेन्द्रदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि सर्व ही श्रुतज्ञान आत्मा है इसलिये द्वादशांगका ज्ञाता द्रव्य श्रुतकेवली होता है ॥ १० ॥

विशेषार्थः—(जो) जो कोई (हि) स्फुटरूपसे (सुदेण) भावश्रुत अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान व विकल्प रहित समाधिके द्वारा (इणं) इस प्रत्यक्षीभूत (अप्पाणं) आत्माको (तु) पुनः (केवलं) सहाय या आलम्बन रहित तथा (सुद्धं) रागद्वेषादि रहित शुद्ध (अभिगच्छति) ऐसा भले प्रकार जानता है अर्थात् अनुभव करता है व उस स्वरूपका स्वादी होता है (तं ; तिस पुरुषको (लोयप्पदीवयरा) लोकको प्रदीप या प्रगट करनेवाले (इसिणो) परम ऋषि (सुदकेवली) श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं। भावार्थ–जो केवल स्वरूपी शुद्धात्माको अनुभवै सो ही श्रुतकेवली है। इस प्रकार इस गाथासे निश्चय श्रुतकेवलीका लक्षण कहा गया ॥ ९ ॥ (जो) जो कोई (सव्वं) सर्व परिपूर्ण (सुदणाणं) द्वादशांग द्रव्य श्रुतको (जाणदि) जानता है (जिणा) जिनेन्द्र सर्वज्ञ (तं) उस पुरुषको (सुदकेवली) व्यवहार श्रुतकेवली (आहु) कहते हैं। (जम्हा) क्योंकि (सव्वं) सर्व आत्मजानन रूप व परमार्थ जानन रूप (सुदणाणं) द्रव्यश्रुतके आधारसे जानने योग्य जो भावश्रुत ज्ञान (आदा) सो आत्मा है (तम्हा) इसलिये (सुदकेवली) द्रव्य श्रुतकेवली श्रुतकेवली होता है। यहां यह प्रयोजन है कि जो भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा शुद्धात्माको जानता है व अनुभवता है वह निश्चयश्रुतकेवली है। परंतु जो कोई अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं अनुभव करता है व उसकी भावना नहीं करता है परन्तु बाह्य विषय रूप द्रव्यश्रुतके अर्थको जानता है सो व्यवहार श्रुतकेवली है। भावार्थ—जब कोई मुनि द्वादशांगके अर्थको जान रहा है परन्तु शुद्धात्म रूपके अनुभवमें उपयोग नहीं लगाए है उस समय वह मुनि निश्चयसे श्रुतकेवली नहीं है परन्तु व्यवहारसे द्रव्य श्रुतकेवली है। क्योंकि इसी श्रुतके अर्थको विचारते हुए शुद्ध आत्माके अनुभवमें चला जाता है। उस अनुभवके लिये यह व्यवहार सहारा रूप है। आधाररूप होनेके कारणसे ही द्रव्यश्रुतकेवलीको श्रुतकेवली कहते हैं। यहां कोई शंका करता है कि जब आत्मस्वरूपके अनुभवसे अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे श्रुतकेवली होते हैं तब इस पंचमकालमें अब भी श्रुतकेवली होने चाहिये क्योंकि स्वरूपका अनुभव तो अब भी होता है फिर आगममें श्रुतकेवलियोंका अब अभाव क्यों कहा गया है। इसका समाधान यह है कि पूर्वकालके महात्माओंके जिस तरहका शुक्ल ध्यान स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान व स्वरूपका अनुभव होता था तैसा इस कालमें (शक्तिके अभावसे) नहीं होता परन्तु इस कालके योग्य अपूर्ण धर्मध्यान ही है। इसलिये द्वादशांगके ज्ञाता श्रुतकेवलियोंका अब अभाव है।

इस तरह निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवलीका व्याख्यान करते हुए दो गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे आधी गाथामें भेद रत्नत्रयकी भावना और उत्तरार्द्ध गाथामें अभेद रत्नत्रयकी भावनाको कहते हैं—

गाथा—णाणह्मि भावणा खलु। कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुणु तिण्णि वि आदा। तम्हा कुण भावणं आदे॥ ११॥

संस्कृतार्थः—ज्ञाने हि भावना खलु कर्तव्या दर्शने चारित्रे च।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावना आत्मनि॥ ११॥

सामान्यार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र इन तीन रूप भेद रत्नत्रयमें प्रगटरूपसे भावना करनी योग्य है। परन्तु निश्चयसे इन तीन स्वरूप आत्मा ही है इसलिये शुद्धात्म स्वरूपमें हे भव्य! भावना कर। **भावार्थ**—व्यवहारनयसे व्यवहार सम्यग्दर्शन जैसे सात तत्त्वोंका व देव गुरु धर्मका श्रद्धान करना, व्यवहार सम्यग्ज्ञान जैसे जिनवाणीका पठन पाठन करना, व्यवहार सम्यग्चारित्र जैसे श्रावक व मुनिका आचरण पालना, इस प्रकार भेद रत्नत्रयमें उपयुक्त होना योग्य है। इस व्यवहार रत्नत्रयके प्रभावसे निश्चय रत्नत्रयका लाभ हो ऐसी भावना करनी योग्य है। तथा अपने शुद्ध आतमस्वरूपकी भावना करनी सो वास्तवमें निश्चय रत्नत्रयकी भावना है। प्रयोजन यह है कि शुद्धात्माकी भावना ही मोक्षार्थी जीवके लिये उपादेय अर्थात् कार्यकारी है परन्तु शुद्धात्म भावनाके अलाभमें व्यवहार रत्नत्रयकी भावना करनी योग्य है कि जिससे शुद्धात्म भावनाका शीघ्र लाभ हो जावे।

आगे भेद और अभेद रत्नत्रयकी भावनाके फलको दिखलाते हैः—

गाथा—जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं। पावदि अचिरेण कालेण॥ १२॥

संस्कृतार्थ—यः आत्मभावनामिमां। नित्योद्यतः मुनिः समाचरति।
सः सर्वदुःखमोक्षं। प्राप्नोत्य चिरेण कालेन॥ १२॥

सामान्यार्थः—जो मुनि नित्य उद्यमवन्त होकर इस आत्म भावनाको आचरण करता है सो थोड़े ही कालमें सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो) जो (मुणी) मुनि तपोधन (णिच्चुवजुत्तो) नित्य उद्यमवन्त होकर (इणं) इस (आद भावणम्) आत्म भावनाको (समाचरदि) भले प्रकार भावता है (सो) वह मुनि (अचिरेण कालेन) थोड़े ही कालमें (सव्व दुक्खमोक्खं) सर्व दुःखोंसे मुक्ति (पावदि) पालेता है। **भावार्थ**—यह है कि यह संसारी जीव चतुर्गति मय संसारमें निज आत्म सुखको नहीं जानता हुआ भ्रमण किया करता है और सुखकी तृष्णा करके इन्द्रिय जनित सुखोंको सुख मान भूला रहता है और कभी भी निराकुल आनन्दको

नहीं पाता। अतः जब यह गृह ममत्व त्याग मुनि पदवीको धा-

त्रयकी भावनामें रत होकर आत्मस्वरूपकी भावना ... रण करता है और निश्चय रत्न-

कर्मोंको नाश करके मुक्तिका लाभ करता है ... रता है तब यह मुनि वीतराग हो कर

इस प्रकार निश्चय और व्यवह- ... और सदाके लिये परम सुखी हो जाता है।

करते हुए दो गाथाओंमें चौथा ... र रत्नत्रयकी भावना और भावनाके फलको व्याख्यान

आगे कहते हैं ... स्थल पूर्ण भया।

म्लेच्छ भाषा ... अज्ञानी ... जैसे कोई भी ब्राह्मणादि विशिष्ट जन किसी म्लेच्छको समझानेके समयमें ही ... लता है परन्तु शेष काल अर्थात् और समयोंमें नहीं बोलता है तैसे ही ज्ञानी पुरुष भी ... समझानेके समयमें ही व्यवहारका आश्रय लेता है परन्तु और समयमें नहीं क्योंकि व्यवहार नय अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है। निश्चय रूपके समझानेके प्रयोजनमें ही इस नयका ग्रहण कार्य्यकारी है—

गाथा—ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु। सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ १३॥

संस्कृतार्थ—व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु। सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः॥ १३॥

सामान्यार्थ—व्यहवार नय असत्यार्थ है और शुद्ध नय सत्यार्थ है इसलिये जो सत्यार्थ शुद्ध नयका आश्रय लेता है वही जीव निश्चयसे सम्यग्दृष्टि होता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(ववहारो) व्यवहार नय (अभूदत्थो) अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है अर्थात् वास्तविक स्वरूपको प्रयोजनवश अन्यप्रकारका बतलाती है (दु सुद्दणउ) परन्तु शुद्ध निश्चय नय (भूदत्थो) भूतार्थ सत्यार्थ (देसिदो) कही गई है। कारण कि जैसा असली वस्तुका स्वरूप है उसीको बतलाती है इसलिये (भूदत्थम्) सत्यार्थ निश्चय नयको (अस्सिदो) आश्रय करनेवाला (जीवो) जीव (खलु) स्फुटरूपसे अर्थात् निश्चयसे (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (हवदि) होता है। इस गाथाका दूसरा व्याख्यान यह है कि (ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसितः) व्यवहार नयको असत्यार्थ और सत्यार्थ दोनों रूप उपदेश किया गया है। निश्चय नयकी अपेक्षासे व्यवहार नय असत्यार्थ है परन्तु अपने विषयकी अपेक्षासे यह सत्यार्थ है जैसे आत्माको देव कहना यह व्यवहार है। सो आत्मा देव पर्य्यायमें है इस बातको सूचना करनेकी अपेक्षा देव कहना सत्यार्थ है परन्तु निश्चयसे आत्मा देव पर्य्याय आदि रहित शुद्धज्ञानानंद स्वरूप है इस अपेक्षासे आत्माको देव कहना असत्यार्थ है। (सुद्धनउ दु) केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार नहीं है किन्तु शुद्धनय भी दो प्रकार हैं एक अशुद्ध निश्चयनय और दूसरा शुद्ध निश्चय नय। इनमें अशुद्ध निश्चय नय जो आत्माको रागीद्वेषी बतलाती है शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे असत्यार्थ है। शुद्ध

निश्चय नय वास्तवमें सत्यार्थ है क्योंकि यह आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रतिपादन करती है। इस प्रकार नयोंके चार भेद हुए। यहां यह तात्पर्य्य है कि जैसे कोई ग्रामीण अविवेकी पुरुष कर्दमसे मिला हुआ मैला पानी पीता है। परन्तु नगरनिवासी विवेकी पुरुष उस मैले पानीमें कतक फल अथवा फटकरी डालकर निर्मल जलका पान करता है तैसे ही स्वसंवेदनरूप भेद विज्ञानकी भावनासे शून्य मनुष्य मिथ्यात्व व रागद्वेषादि विभाव परिणाम सहित इस आत्माका अनुभव करता है। परंतु सम्यग्दृष्टी जीव अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखने वाली संकल्पविकल्प रहित समाधिके बलसे कतक फलकी जगहमें निश्चय नयको आश्रय करके शुद्ध आत्माका ही अनुभव करता है। भावार्थ यह है कि शुद्ध होनेके लिये शुद्धस्वरूपका ही अनुभव करना योग्य है॥ १३॥

आगे पूर्व गाथामें कहा है कि सत्यार्थनयको आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है। अब यहां कहते हैं कि केवल सत्यार्थ निश्चयनय ही विकल्प रहित समाधिमें रत पुरुषोंके लिये प्रयोजनवान नहीं है किन्तु जिनको निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति नहीं है ऐसें प्रथम अवस्थाके धारी पुरुषोंके लिये किसी काल सविकल्प अवस्थामें मिथ्यात्व व विषय कषाय आदि खोटे ध्यानोंको हटानेके लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है जैसे किसीको शुद्ध सोला वानीके सुवर्णका लाभ न हो तो नीचेके ही सुवर्णका लाभ कार्य्यकारी है ऐसा कहते हैं—

गाथाः—सुद्धो सुद्धादेसो। णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदो पुण। जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥ १४॥

संस्कृतार्थः—शुद्धः शुद्धादेशो। ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशितः पुनः। ये त्वपरमे स्थिता भावे॥ १४॥

सामान्यार्थ—शुद्ध नय शुद्ध द्रव्यको कथन करनेवाली है सो शुद्ध भावके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा अनुभव करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचेकी अवस्थामें स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय उपदेश की गई है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(सुद्धो) शुद्ध निश्चय (सुद्धादेसो) शुद्ध द्रव्यका आदेश अर्थात वर्णन करने वाली है (परमभाव दरिसीहिं) सो परमभाव अर्थात् शुद्ध आत्मीक भावको देखने जानने वाले महा पुरुषोंके द्वारा (णादव्वो) जानने, भावने, व अनुभव करने योग्य है। क्योंकि जैसे शुद्ध सोला वानीके सुवर्णका लाभ कार्य्यकारी है तैसे यह शुद्ध नय अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधिके कालमें प्रयोजनवान होती है। (पुण) तथा पुनः (जेदु) जो कोई पुरुष (अपरमे) अशुद्ध भावमें अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा तथा श्रावककी अपेक्षासे सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणमई शुभोपभोग रूप व प्रमत्त और अप्रमत्त संयत मुनिकी अपेक्षासे भेद रत्नत्रय स्वरूप (भावे) जीव पदार्थमें (ट्ठिदा) स्थित हैं। तिनको (ववहार देसिदो) व्यवहार अर्थात् विकल्प रूप भेदसे या पर्याय रूप दिखलाई हुई जो व्यवहार नय सो नीचेके सुवर्णके लाभके समान प्रयोजनवान होती है॥१४॥

भावार्थ—वास्तवमें शुद्ध सुवर्ण जैसा प्रयोजनवान है तैसा अशुद्ध सुवर्ण नहीं । परन्तु जिसको शुद्ध सुवर्णका लाभ होना कठिन है तिसको अशुद्ध सुवर्णका लाभ ही कार्यकारी है, वे मतलब नहीं है । क्योंकि अशुद्ध सुवर्ण शुद्ध सुवर्णमें बदला जा सक्ता है । तैसे ही वास्तवमें शुद्ध द्रव्यका विचार जैसा प्रयोजनवान है तैसा भेद रूप अशुद्ध द्रव्यका विचार नहीं परन्तु जिसको शुद्ध आत्मद्रव्यका अनुभव होना कठिन है तिसके लिये व्यवहारनयसे भेद रूप जीव पदार्थका विचार ही कार्यकारी है क्योंकि यह भेद रूप जीवपदार्थका विचार शुद्ध आत्मद्रव्यके अनुभवमें बदला जासक्ता है । इससे सिद्ध हुआ कि व्यवहार और निश्चयनय दोनों ही इस साधक मुमुक्षु जीवके लिये प्रयोजनवान हैं ॥ १४ ॥

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नयका व्याख्यान करते हुए दो गाथाओंमें पंचम स्थल पूर्ण हुआ । यहां तक १४ गाथाओंके द्वारा पांच स्थलोंमें ग्रंथकी पीठिका पूर्ण हुई ।

आगे कहते हैं कि कोई निकट भव्य जीव इस समयसारके पीठिका मात्र व्याख्यानसे ही हेय अर्थात् त्यागने योग्य और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य तत्त्व स्वरूपको जानकर विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमई अपने आत्मस्वरूपकी भावना करता है । परन्तु जिस भव्यको तत्त्वका स्वरूप विस्तारसे जाननेकी रुचि है या जो विस्तारके विना समझ नहीं सक्ता ऐसा जीव नव अधिकारोंसे समयसारको जानकर पीछे शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावना करता है । इसी कारण विस्ताररुचिवाले शिष्यके लिये जीव आदि नव अधिकारोंसे समयसारका व्याख्यान किया जाता है । तिनमें पहले ही नव पदार्थोंके अधिकारकी गाथामें यह कहा जाता है कि आर्त्त रौद्र ध्यानका त्याग है लक्षण जिसका ऐसी जो संकल्प विकल्प रहित सामायिक उसमें स्थिर होनेवाले महात्माओंको जो शुद्ध आत्मस्वरूपका दर्शन, अनुभव, अवलोकन, लाभ, संवेदन, प्रतीतभाव व उस स्वरूपकी ख्याति तथा अनुभूति होती है सो ही अनुभूति या अनुभव निश्चयनयसे निश्चय चारित्रके साथ अवश्य होनेवाला अर्थात् अविनाभावी निश्चय सम्यक्त या वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है । सो ही वीतराग सम्यक्त गुण और गुणीके अभेदरूप निश्चयनयकी अपेक्षासे शुद्धात्म स्वरूप है अन्य कोई पदार्थ नहीं है ऐसी एक पातनिका है । अथवा जीवादि नव पदार्थ जब सत्यार्थपने जाने जाते हैं तब ये ही अभेद उपचारनयसे सम्यक्तके विषय होनेके कारणसे व्यवहार सम्यक्तके निमित्त होते हैं । निश्चयसे तो अपने ही आत्माका जो शुद्ध परिणाम है सो ही सम्यक्त है ऐसा कहते हुए दूसरी पातनिका है । इस तरह दोनों पातनिकाओंको मनमें धरके अगाड़ीका सूत्र कहते हैं—

गाथा—**भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।**
आसव संवर णिज्जर । बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

संस्कृतार्थ—भूतार्थेनाऽभिगता जीवाऽजीवौ पुण्यपापं च ।
आश्रवसंवरनिर्जरा । बंधो मोक्षश्च सम्यक्तं ॥ १५ ॥

सामान्यार्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष सत्यार्थपने जाने हुए व श्रद्धान किये हुए सम्यक्तरूप होते हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जीवाऽजीवाय पुण्ण पावं च आसव संवर णिज्जर बंधो मुक्खो) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष यह नव पदार्थ (भूदत्थेणाभिगदा) सत्यार्थपने निर्णय किये हुए, निश्चय किये हुए व जाने हुए (संमत्तं) अभेद उपचारसे सम्यक्दर्शनका विषय होनेके कारणसे सम्यक्तरूप होते हैं निश्चयसे तो आत्माका परिणाम ही सम्यग्दर्शन है। भावार्थ—नव पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है क्योंकि शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान स्वरूप निश्चय सम्यक्तके लिये यह निमित्त कारण हैं। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि जो आपने कहा कि नौ पदार्थ सत्यार्थ रूपसे जाने हुए सम्यक्त होते हैं तो कहिये किस प्रकारसे उनका सत्यार्थ जानपना होवे—इस प्रश्नका टीकाकार यह उत्तर करते हैं कि यद्यपि यह नव पदार्थ धर्मतीर्थकी वर्तनाके निमित्त प्रथम अवस्थाके शिष्यकी अपेक्षासे सत्यार्थ कहेगए हैं तथापि अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिके कालमें यह पदार्थ अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ हैं अर्थात् शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं हैं। उस परम समाधिके कालमें इन नव पदार्थोंके मध्यमें शुद्ध निश्चय नय करके एक शुद्ध आत्मा ही उद्योतित होता है, प्रकाशित होता है, प्रतीतिमें आता है या अनुभव किया जाता है ऐसी जो अनुभूति, प्रतीति या शुद्ध आत्मस्वरूपकी उपलब्धि सो ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। वही निजस्वरूपकी अनुभूति निश्चय नयसे गुण और गुणीकी अभेद विवक्षासे शुद्ध आत्माका स्वरूप है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है यह तात्पर्य्य है। क्योंकि जो प्रत्यक्षादि प्रमाण, नैगमादि नय व नामादि निक्षेप परमात्मा आदि तत्वोंके विचारके समयमें सहकारी कारणरूप हैं वे भी विकल्प सहित प्रथम अवस्थामें ही सत्यार्थ हैं अर्थात् प्रयोजनवान हैं। परन्तु वे सब आत्माकी परम समाधिके समयमें असत्यार्थ हैं अर्थात् कार्य्यकारी नहीं हैं। उस समय तो इन नव पदार्थोंके मध्यमेंसे सत्यार्थपने एक शुद्ध जीव ही प्रतीतिमें आता है। भावार्थ—नौ पदार्थोंका सत्यार्थ जानना जब ही होता है जब व्यवहार अपेक्षा जीव और अजीवके सर्व भेदोंको जानकर आश्रव और बंधको त्यागने योग्य और संवर, निर्जरा तथा मोक्षको ग्रहण करने योग्य मानता है परंतु निश्चयसे एक शुद्ध निज आत्म स्वरूपके ही अनुभवको उपादेय जानता है। जब यही ज्ञानी निज स्वरूपकी भावनामें तन्मय होता है तब नौ पदार्थोंका सर्व विचार गौण हो जाता है।

इस प्रकार नव पदार्थोंके अधिकारकी गाथा पूर्ण हुई।

आगे इन नव अधिकारोंमेंसे प्रथम ही यहांसे २८ गाथा पर्यंत जीवाधिकारका व्याख्यान करते हैं तिसका विवरण यह है कि सहज आनंद मई एक स्वभाव रूप शुद्धात्माकी भावनाकी मुख्यता लेकर " जो पस्सदि अप्पाणम् " इत्यादि सूत्र पाठके क्रमसे प्रथम स्थलमें गाथा तीन हैं। तिसके पीछे दृष्टांत और दार्ष्टांतके द्वारसे भेद और अभेदरूप रत्नत्रयकी भावनाकी मुख्यता करके "दंसण णाण चरित्ताणि" इत्यादि द्वितीय स्थलमें गाथा तीन हैं। तिसके बाद इस संसारी जीवके अज्ञानपनेको कहते हुए प्रथम गाथा, तथा बंध और मोक्ष योग्य परिणामोंको कहते हुए दूसरी गाथा और यह जीव अशुद्ध निश्चयसे रागादि परिणामोंका ही कर्ता है ऐसी तीसरी गाथा इस प्रकार "कम्मे णोकम्मं हिय" इत्यादि तीसरे स्थलमें परस्पर संबंधकी अपेक्षा रहित स्वतंत्ररूपसे तीन गाथाएं हैं। इसके पश्चात् ईंधन और अग्निका लक्षण कहनेके लिये "अहमेव" इत्यादि चौथे स्थलमें तीन सूत्र हैं। तत्पश्चात् शुद्धात्म तत्त्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव लक्षण जो अभेद रत्नत्रय उसकी भावनाके विषयमें जो कोई असमझ है उसको संबोधनेके अर्थ "अण्णाणमोहिदमदी" इत्यादि पांचवें स्थलमें सूत्र तीन हैं। फिर जो कोई निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध आत्मातत्त्वको न जानता हुआ देह ही आत्मा है ऐसा पूर्व पक्ष करता है उसका स्वरूप कहनेके लिये " जदिजीवो " इत्यादि पूर्व पक्ष रूपसे गाथा एक है पश्चात् व्यवहार नयसे देहकी स्तवन है तथा निश्चय नयसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी स्तुति है ऐसा नय विभाग द्वारा प्रतिपादनकी मुख्यता करके " ववहार णउ भासदि " इत्यादि उस पूर्व पक्षके खंडनरूप चार सूत्र हैं। फिर परम उपेक्षा स्वरूप जो शुद्धात्माका स्वसंवेदन मई निश्चय स्तुति तिसकी मुख्यता करके " जो इंदिए जिणित्ता " इत्यादि सूत्र तीन हैं। इस प्रकार ८ गाथाओंमें छठा स्थल है। पश्चात् निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही विषय और कषायादि पर द्रव्योंका प्रत्याख्यान कहिये त्याग है ऐसा कहते हुए "णाणं सव्वे भावा" इत्यादि ७वें स्थलमें गाथा चार हैं। तिसके बाद अनंत ज्ञानादि लक्षण स्वरूप जो शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव मई अभेद रत्नत्रय तिस रूप जो स्वसंवेदन सो ही भावना किये हुए आत्माका स्वरूप है। इस तरह संकोचकी मुख्यता करके "अहमेक्को खलु सुद्धो" इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार दंडकोंके सिवाय २८ सूत्रोंके द्वारा सात अंतर स्थलोंमें जीवाधिकार है तिसकी समुदाय पातनिका पूर्ण हुई। अब इसीका व्याख्यान करते हैं। अब प्रथम गाथामें यह बात कहते हैं कि संसार अवस्थामें भी यह जीव शुद्ध नयसे कमलपत्र पर जलकी तरह कर्मोंसे बंधा व स्पर्श हुआ नहीं है, मट्टी और उसके बने हुए घटादिकी तरह अपनी पर्यायोंमें अन्य रूप नहीं अनन्य है, क्षोभ रहित समुद्रकी तरह निश्चल है, सुवर्णका अपने गुणोंमें व्याप्त होनेकी तरह अपने स्वरूपमें विशेष रहित सामान्य है, तथा उष्णता रहित जलकी तरह किसी अन्य द्रव्यसे संयुक्त नहीं है ऐसे पांच विशेषणोंसे विशिष्ट यह शुद्धात्मा है।

गाथाः—जो पस्सदि अप्पाणं अवद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं। तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १६ ॥

संस्कृतार्थ—यः पश्यति आत्मानं अवद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं।
अविशेषमसंयुक्तं। तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १६ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई इस आत्माको अवद्धस्पष्ट, अनन्य, निश्चल, अविशेप और असंयुक्त देखता है उसको शुद्ध नय स्वरूप जानो।

शब्दार्थ सहित विशेपार्थः—(जो) जो कोई (अप्पाणं) इस शुद्ध आत्माको (अवद्धपुट्ठं) द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि तथा नो कर्म तैजस, औदारिक शरीरादिसे नहीं स्पर्श किया हुआ, अर्थात् जैसे कमलके पत्तेपर पानीकी बूंद है परन्तु उससे स्पर्शित नहीं होती है अलग ही रहती है उस प्रमाण कर्मोंके बीचमें रहता हुआ भी उनसे स्पर्शित नहीं है ऐसा (अणण्णयं) तथा नर नारक देव आदि पर्यायोंमें द्रव्य रूपसे कोई अन्य नहीं है, वही है जैसे थाल, गिलास, प्याला, घड़ा आदि पर्यायोंमें वही मिट्टी द्रव्य है कोई दूसरा नहीं है ऐसा तथा (णियदं) जैसे समुद्र तरंग नीचे ऊपर उठनेकी अवस्थावोंमें भी नियत है वैसा अपने स्वरूपमें ठहरा हुवा है ऐसा तथा (अविसेसं) जैसे सुवर्ण अपने भारीपने, चिकनेपने, पीलेपने, आदि स्वभावोंसे अभिन्न है तैसे अपने ज्ञानदर्शन आदि स्वभावोंसे भेद रहित अभिन्न है ऐसा तथा (असंजुत्तं) जैसे उष्णता रहित जल अपने स्वभावमें है तैसे रागादि विकल्परूप भाव कर्मोंसे रहित अपने स्वभावमें है किसीसे संयोगरूप नहीं है ऐसा (पस्सदि) देखता है, जानता है व अनुभव करता है। (तं) तिस पुरुपको (सुद्धणयं) अभेद नयसे शुद्ध नयका विपय होनेके कारणसे व शुद्धात्म स्वरूपका साधक होनेके कारणसे व शुद्ध अभिप्रायमें परणमन करनेके कारणसे शुद्ध स्वरूप (वियाणीहि) जानो ऐसा भावार्थ है। भावार्थ—जो पुरुप अपने आत्माको परद्रव्य, परभावसे रहित, अपने गुणोंसे तन्मय अभेदरूप अनुभव करता है सो ही महात्मा शुद्ध नय स्वरूप है अर्थात् शुद्ध है क्योंकि शुद्ध अवस्थाका साधन कर रहा है। अतएव अपने आत्माको शुद्ध नयसे शुद्धरूप अनुभव करना ही इस मुमुक्षु जीवका हित है। इस कारण तिस स्वरूपको ही ग्रहणकर आनन्द मग्न होना योग्य है ॥ १६ ॥

आगे दूसरी गाथामें जिस शुद्धात्मानुभूतिका इसके पूर्व वर्णन किया गया है वही विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानकी अनुभूति है ऐसा कहते हैं—

गाथाः—जो पस्सदि अप्पाणं। अवद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं। पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १७ ॥

संस्कृतार्थः—यः पश्यति आत्मानं। अवद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषं।
अपदेशसूत्रमध्यं। पश्यति जिनशासनं सर्वं ॥ १७ ॥

सामान्यार्थ—जो अपने आत्माको अवद्ध, अस्पर्श, अनन्य, और विशेष रहित अनुभव करता है सो द्रव्यश्रुत द्वारा जानने योग्य सर्व ही जिन शासनको जानता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ–(जो) जो कोई (अप्पाणं) आत्माको अर्थात् अपने शुद्ध आत्म स्वरूपको (अवद्धपुट्ठं) द्रव्यकर्म और नोकर्मसे कमलपत्रपर जलकी तरह नहीं स्पर्श किये हुए। (यहां बंध शब्दसे सम्बन्धरूप बंध ग्रहण करना तथा पृष्ठ शब्दसे संयोग मात्र लेना) (अणण्णं) मृत्तिका द्रव्यकी तरह अपने पर्यायोंमें एकरूप (अविसेसं) सुवर्णकी तरह अपने स्वभावोंमें एकरूप सामान्य तथा समुद्रकी तरह अक्षोभित निश्चल तथा उष्ण रहित जलकी तरह निश्चयसे परद्रव्यके संयोग रहित इस प्रकार पांच विशेषणों सहित। (नोट—यहां नियत और असंयुक्त विशेषण सूत्रमें नहीं है परन्तु सामर्थ्यसे ग्रहण किये हैं सो भी इसलिये कि श्रुत विशेषकी सामर्थ्य युक्त ही सूत्रका अर्थ होता है) (पस्सदि) देखता जानता है, वह पुरुष (सव्वं) सर्व परिपूर्ण द्वादशांगरूप (जिण सासणं) जिनशासन अर्थात् अर्थ आगमरूप जिनमतको (पस्सदि) देखता जानता है। वह जिन शासन (अपदेससुत्तमज्झं) अपदेश सूत्र मध्य कहलाता है। जिसके द्वारा पदार्थोंका उपदेश किया जाय सो अपदेश अर्थात् द्रव्यश्रुत है। जितना द्रव्य श्रुत है तितना सूत्रोंका जाननरूप भावश्रुत है सो ही ज्ञान समय अर्थात् ज्ञान आगम है। इस कारण शब्दागम द्वारा कहने योग्य व ज्ञानागमद्वारा जानने योग्य जो हो उसको अपदेश सूत्र मध्य कहते हैं। यहां यह भाव है कि लूणकी डली एक अपने लूणस्वादको ही रखनेवाली है तथापि फल, साग, पत्ता आदि पर द्रव्यके संयोगसे भिन्न २ स्वादरूप अज्ञानी जीवोंको प्रतिभासमान होती है। परंतु ज्ञानी जीवोंको तो एक रस रूप ही मालूम होती है—ज्ञानी जीव भेद विज्ञानसे यह अनुभव करलेते हैं कि मिले हुए स्वादमें कितना अंश लूणका व कितना अंश परद्रव्यका स्वाद है। तैसे ही यह आत्मा भी अखंड ज्ञान स्वभाव है तथापि स्पर्श, रस, गंध, शब्द, नीला, पीला आदि वर्ण रूप ज्ञेय पदार्थोंके विषयभेदसे निर्विकल्प समाधिसे भ्रष्ट अज्ञानी जीवोंको खंड २ ज्ञानरूप प्रकट होता है। परंतु ज्ञानी जीवोंको तो यह आत्मा अखंड केवलज्ञान स्वरूप ही अनुभवमें आती है क्योंकि भेद ज्ञानसे यही भासता है कि ज्ञेय पदार्थोंके आकारोंको झलकाता हुआ भी वह आत्मा अपने गुण गुणीके अभेदपनेसे ज्ञान स्वभावको नहीं त्यागता। इसकारण यह कहा गया है कि जिसने अखंड ज्ञान स्वरूप शुद्धात्माको जाना उसने सर्व जिन आगमको जानलिया। ऐसा मानकर हे भव्य! तुझे समस्त मिथ्यात्व रागद्वेषादि भावोंको त्याग कर तिस ही शुद्धात्म स्वरूपमें ही भावना करनी योग्य है। यहां मिथ्यात्व शब्दसे दर्शन मोह और रागादि शब्दसे चारित्र मोह ग्रहण करना—इन शब्दोंका यही अर्थ इस ग्रंथमें सब ठिकाने जानने योग्य है। **भावार्थ**—जिसने अपने शुद्धात्माको टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वरूप जाना उसने सर्व जिनवाणीको जाना क्योंकि विना

अपने शुद्ध स्वरूपको जाने जिनवाणीका पाठ कुछ भी कार्य्यकारी नहीं है। इस लिये शुद्ध आत्माको भली प्रकार जानकर उसीके अनुभवमें तन्मय हो अपने अशुद्ध आत्माको शुद्ध स्वरूप करना योग्य है। इसीमें इस जीवका कल्याण है और यही मोक्ष मार्ग है ॥ १७॥

आगे तीसरी गाथामें कहते हैं कि शुद्धात्म स्वरूपकी भावनाके मध्यमें ही सर्व सम्यग्ज्ञानादिकका लाभ होता है।

गाथाः—**आदा खु मज्झ णाणे। आदा मे दंसणे चरित्ते य।**
आदा पच्चक्खाणे। आदा मे संवरे जोगे ॥ १८॥

संस्कृतार्थः—आत्मा स्फुटं मम ज्ञाने। आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने। आत्मा मे संवरे योगे ॥ १८॥

सामान्यार्थ—प्रगटपने मेरे ज्ञानमें आत्मा है, मेरे दर्शन और चारित्रमें आत्मा है, प्रत्याख्यानमें आत्मा है तथा मेरे संवर और योगमें आत्मा है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(आदा) शुद्धात्मा (खु) स्फुटरूपसे (मज्झ) मेरे (णाणे) सम्यग्ज्ञानमें है। (आदा) शुद्धात्मा (मे) मेरे (दंसणे) दर्शन (चरित्ते य) और चारित्रमें है। (आदा) शुद्धात्मा (पच्चक्खाणे) प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग सम्बन्धमें है। तथा (आदा) शुद्ध आत्मा (मे) मेरे (संवरे) आश्रवनिरोधरूप संवर भावमें है (जोगे) तथा योगमें है—निर्विकल्प समाधि, परम सामायिक और परमध्यानमें एक भाव रूप होजाना इसका नाम योग है। भाव यह है जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योगकी भावना की जाती है तब वहां आत्मा ही अनुभवमें आता है। इस कारण जो भोगोंकी इच्छा रूप निदान बंध व माया मिथ्यादि शल्योंसे रहित होकर अपने शुद्धात्माको ध्याता है उसको यह सम्यग्ज्ञानादि सर्व गुण प्राप्त हो जाते हैं। भावार्थ—और विकल्पोंको छोड़कर जो शुद्ध आत्म स्वरूपको ध्याता है सो सर्वगुणोंका पात्र हो जाता है। क्योंकि आत्मामें ठहरा तब रत्नत्रयका लाभ हुआ ही, पर द्रव्योंका त्याग हुआ ही, कर्मोंका संवर हुआ ही और योग साधन हो ही गया अतएव सर्व उपाय करके एक शुद्धात्माकी ही भावना कर्तव्य है। इस तरह शुद्ध नयके व्याख्यानकी मुख्यता करके प्रथम स्थलमें तीन गाथाएं समाप्त हुईं ॥ १८॥

आगे भेद और अभेद रत्नत्रयकी मुख्यता करके तीन गाथाएं कहते हैं तिनमें पहली गाथाके पूर्वार्द्धसे भेदरत्नत्रयकी भावना और उत्तरार्द्धसे अभेद रत्नत्रयकी भावनाको कहते हैं:—

गाथाः—**दंसणणाणचरित्ताणि। सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।**
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१९॥

संस्कृतार्थः—दर्शनज्ञानचारित्राणि। सेवितव्यानि साधुना नित्यं।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि। आत्मानं चैव निश्चयतः ॥ १९॥

सामान्यार्थ—साधुको नित्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी सेवा करनी योग्य है परन्तु निश्चयसे इन तीन गुण स्वरूप आत्माको ही जानना योग्य है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(साहुणा) साधु करके (दंसणणाणचरित्ताणि) सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र (णिच्चं) व्यवहारनयसे नित्य अर्थात् सर्वकाल (सेविदव्वाणि) सेवने योग्य अर्थात् ध्यावने योग्य हैं। (पुण) तथा फिर भी (ताणि) इन (तिण्णिवि) तीनोंको ही (अप्पाणं चेव) शुद्धात्मा ही (णिच्छयदो) निश्चयनयसे (जाण) जानो। यहां यह अर्थ है कि पंचेन्द्रियके विषयोंको और क्रोधादि कषायोंको त्याग करके निर्विकल्प समाधिके मध्यमें जो तिष्ठते हैं उनको वहां सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि शुद्धात्माका श्रद्धान दर्शन है, उसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसीका अनुभव सम्यग्चारित्र है। भावार्थ—सर्व संसारके विकल्प जालोंसे मन हटाकर जो शुद्ध आत्मा स्वरूपको ध्याता है सो निश्चयसे अभेद रत्नत्रयको पाता है परंतु जब शुद्ध स्वरूपकी समाधिमें ठहरनेको अशक्य हो तब इस मुमुक्षु साधुको व्यवहार रत्नत्रयकी सेवा कभी भी त्यागने योग्य नहीं है। उसे आगमके अनुसार तत्त्व विचार, आगमका अभ्यास तथा महाव्रतादि पालने योग्य हैं क्योंकि इन्हींके सहारेसे ही फिर निश्चय स्वरूपमें चढ़ सक्ता है। अतएव सर्व उपाय बनाकर जिस तरह हो अपने शुद्ध आत्म स्वरूपमें रमना योग्य है॥१९॥

आगे दो गाथाओंसे तिस ही भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनाको दृष्टान्त और दार्ष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं:-

गाथाः—**जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।**
तो तं अणुचरदि पुणो। अत्थत्थीओ पयत्तेण॥ २०॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहे दव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो। सो चेव दु मोक्खकामेण॥ २१॥

संस्कृतार्थः—यथानाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन॥ २०॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन॥ २१॥

सामान्यार्थः—जैसे कोई भी पुरुष किसीको राजा है ऐसा जानकर श्रद्धान करता है और फिर आजीविकाका अर्थी होकर पुरुषार्थ करके उसकी सेवा करता है। तैसे ही मोक्षार्थी जीव करके यह जीव राजा जानने योग्य है, वही श्रद्धान करने योग्य है तथा वही अनुभव करने योग्य है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(जह) जैसे (कोवि) कोई भी पुरुष (रायाणं) राजाको (नाम) स्फुटपने (जाणिऊण) छत्र चमर आदि राज्यके चिन्होंसे जान करके (सद्दहदि) श्रद्धान करता है अर्थात् यही राजा है दूसरा नहीं है ऐसा निश्चय करता है (ततो) ज्ञान और श्रद्धान होनेके बाद (तं) तिस राजाको (अत्थत्थीओ) अर्थार्थी अर्थात् आजीविकाकी इच्छा करता हुआ

(पयत्तेण) सर्व तात्पर्यसे अर्थात् सर्व उपायों करके (अणुचरदि) अनुचरता है अर्थात् उसका आश्रय लेता है उसकी आराधना करता है। यह दृष्टान्त गाथा हुई। (एवं) इसी प्रकार (मोक्ख कामेण) मोक्षको चाहनेवाले पुरुषके द्वारा (हि) स्फुटरूपसे (जीवराया) यह शुद्ध जीवरूपी राजा (णादव्वो) विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है। (तहय) तैसे ही (सद्दहेदव्वो) यह आत्मा नित्य आनन्द मई एकसा भाव स्वरूप तथा रागादिसे रहित शुद्ध ही है ऐसा निश्चय करना योग्य है (पुणो) तथा (अणुचरिदव्वोय) सो ही शुद्धात्मा निर्विकल्प समाधिके द्वारा अनुभव करने योग्य है। यहां यह तात्पर्य्य है कि भेदाभेद रत्नत्रयकी भावना स्वरूपी परमात्माकी चिन्ता करके ही हमारा कार्य्य पूर्ण होता है तब फिर विशेष शुभ व अशुभ विकल्प जालोंसे क्या प्रयोजन? भावार्थ—मुमुक्षु जीवको चाहिये कि निज शुद्ध आत्मस्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव करे।

इस प्रकार भेद और अभेद रत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यता करके तीन गाथाएं दूसरे स्थलमें पूर्ण हुई॥ २०-२१॥

आगे स्वतंत्र व्याख्यानकी मुख्यता करके गाथाएं तीन कही जाती हैं—

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जब तक स्व और परके भेद विज्ञानका अभाव रहता है तब तक यह जीव अज्ञानी रहता है सो तो ठीक है परन्तु कितने काल तक ऐसा रहता है सो मालूम नहीं हुआ, इसका उत्तर प्रथम गाथासे देते हैं—

गाथाः—**कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहयं च कम्म णोकम्मं।**
जा एसा खलु बुद्धी। अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ २२॥

संस्कृतार्थः—कर्मणि नोकर्मणि च अहमिति अहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धि। रप्रतिबुद्धो भवति तावत्॥ २२॥

सामान्यार्थ—कर्म्म और नोकर्म्ममें मैं हूं तथा मैं हूं सो ही कर्म्म नोकर्म है इस प्रकारकी बुद्धिया प्रतीति जबतक इस जीवके रहती है तब तक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(कम्मे)ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म्म व रागादि भाव कर्ममें (णोकम्मह्मि य)तथा शरीरादि नोकर्म्ममें (अहमिदि) मैं हूं(च) तथा (अहयं) मैं (कम्म णोकम्मं) कर्म्म व नोकर्म्म हूं। जैसे घटमें वर्णादिक गुण तथा घटाकार परिणत पुद्गलस्कंध हैं व वर्णादिकोंमें घट है इस तरह गुण गुणी व पर्याय पर्य्यायीके अभेदरूपसे (जा) जो (एसा) यह प्रत्यक्ष-रूप (बुद्धी) बुद्धि अर्थात् कर्म्म और नोकर्म्मके साथ शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव अपने परमात्म वस्तुकी एकताकी बुद्धि जब तक इस जीवके रहती है (ताव) उस काल पर्यंत यह जीव (अप्पडिबुद्धो) अप्रति बुद्ध अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानसे शून्य बहिरात्मा (हवदि) रहता है। यहां यह प्रयोजन है कि जो पुरुष स्वतः अर्थात् स्वयंबुद्ध होकर व परतः कहिये दूसरेसे

समझाए जाने पर समझ कर भेद विज्ञान है मूल जिसका ऐसी शुद्धात्माकी अनुभूतिको प्राप्त करते हैं वे पुरुष शुभ अशुभ बाह्य द्रव्योंके रहते संते भी दर्पणके समान विकार रहित रहते हैं। **भावार्थ**—जबतक यह आत्मा द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मोंको अपना मानता है व आपको उन रूप मानता है तबतक इसके भेद विज्ञान नहीं होता, इसी लिये बहिरात्मा रहता है। भेद विज्ञान होते ही शुद्धात्माका अनुभव होता है तब इस जीवको सर्व अन्य द्रव्योंका शुभ व अशुभ परिणमन एक नाटकके दृश्यके समान प्रति भासता है। जैसे दर्पणके सामने कोई मुंह बनाकर टेढ़ा करे व कोई मुंहको सजावे दोनोंके वैसे ही हृदय दर्पणमें दिख जांयगे कुछ भी विकार दर्पणके द्रव्यमें नहीं होगा तैसे ही ज्ञानीकी आत्मामें जगतका शुभ व अशुभ परिणमन किसी प्रकारका विकार नहीं पैदा कर सक्ता ॥ २२ ॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध जीवमें जब रागादि रहित परिणाम होता है तब मोक्ष होती है और जब जीवत्व रहित देहादिक अजीव पदार्थमें रागादि परिणाम होता है तब कर्मोंका बंध होता है:—

गाथा:—**जीवेव अजीवे वा संपदि समयह्मि जत्थ उवजुत्तो।**
तत्थेव बंध मोक्खो। होदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥ २३ ॥

संस्कृतार्थः—जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः।
तत्रैव बंधोमोक्षो। भवति समासेन निर्दिष्टः ॥ २३ ॥

सामान्यार्थः—जीवमें या अजीवमें वा देहादिमें जिस ठिकाने वर्तमानकालमें यह आत्मा अपने उपयोगको लगाता है तहां बंध या मोक्ष होता है ऐसा कथन संक्षेपसे श्री सर्वज्ञ देवने किया है ॥

शब्दार्थ सहित विशेपार्थ-(जीवे) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें (वा) अथवा (अजीवे) जीव रहित धर्मादि द्रव्योमें (वा) अथवा देहादिकोंमें इनमेंसे (संपदि समयह्मि) इस वर्तमानकालमें (जत्थ) जिस किसी ठिकाने (उवजुत्तो) उपयुक्त होता है अर्थात् जहां कहीं तन्मयी पनेसे उपादेय बुद्धिसे परिणमन करता है (तत्थेव) तिस ही ठिकाने में ही (बंध मोक्खो) बंधमोक्ष अर्थात् अजीव वा देहादिसे उपयुक्त होने पर बंध और शुद्ध जीव पदार्थसे तन्मयी होने पर मोक्ष (होदि) होता है। (समासेण) संक्षेपसे ऐसा (णिद्दिट्ठो) सर्वज्ञ देवके द्वारा कथन किया गया हैं। **भावार्थ**—यदि यह आत्मा उपादेयबुद्धिसे देहादि परद्रव्योंको ग्रहण करता है और उनमें अपनेको रंजायमान करता है तो कर्मोंसे बंधता है और जो अपने शुद्धस्वरूपमें तन्मय होता है तो नवीन बंध रोक प्राचीन कर्मोंसे मुक्ति पाता है। यहां यह तात्पर्य्य है कि ऐसा जानकर सहज आनंद मई एक स्वभावरूप अपने आत्मामें रति अर्थात् प्रीति करनी योग्य है। और निजस्वरूपसे विलक्षण, भिन्न जो परद्रव्य उससे विरति अर्थात् विरागता भजनी योग्य है। जो अपने स्वरूपमें रमते हैं वे ही स्वरूपारूढ़ होकर मोक्ष महलमें जा विराजते हैं ॥ २३ ॥

आगे कहते हैं कि अशुद्ध निश्चय नय करके यह आत्मा रागादि भाव कर्मोंका कर्ता है। और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय करके द्रव्य कर्मोंका कर्ता है। उपचार रहित सत्तामें सदाकाल अस्तित्वके विना जो व्यवहारको कहे उसको अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं—

गाथाः—**जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।**
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥ २४ ॥

संस्कृतार्थः—यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
निश्चयतः व्यवहारात्। पुद्गलकर्मणां कर्त्ता ॥ २४ ॥

सामान्यार्थः—आत्मा जो भाव करता है सो अपने उस भावका कर्ता होता है यह कथन निश्चयसे है। व्यवहारसे यह आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता कहा जाता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जं) जिस (भावं) रागादिभावको (आदा) आत्मा (कुणदि) करता है (सो) वह आत्मा (तस्स भावस्स) तिस रागादिभावका (कत्ता) कर्ता (होदि) होता है। (णिच्छयदो) अशुद्ध निश्चयसे अशुद्ध भावोंका और शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध भावोंका कर्ता होता है। यहां आत्माके भावोंका परिणमना ही कर्तापना है। (ववहारा) अनुपचरित असद् भूत व्यवहार नयसे (पोग्गल कम्माण) पुद्गल मई द्रव्य कर्मोंका (कत्तारं) कर्त्ता है'ऐसा कहा जाता है (नोट—प्राकृत व्याकरणकी अपेक्षा कारक और लिंगका व्यभिचार होता है इससे कर्मपदको कर्तामें लिया है। यहां यह अभिप्राय है कि जिन रागादि भावोंका कर्त्ता जीवको कहा गया है वे रागादि भाव संसारके कारण हैं इसलिये संसार भ्रमणसे भयभीत तथा मोक्षार्थी पुरुषको योग्य है कि समस्त रागद्वेपादि विभाव भावोंसे रहित और शुद्ध द्रव्य तथा गुण पर्याय स्वरूप अपने परमात्म स्वभावमें भावना करै। भावार्थ—रागद्वेपादि भावोंका कर्ता जीव अशुद्ध नयसे है। अशुद्ध जीव ही अशुद्ध भावोंका कर्त्ता है। यह अशुद्धता जीवको हितकारी नहीं है। अतएव व्यक्तिमें भी इस जीवके शुद्ध भावोंका परिणमन रहा करै ऐसी भावना निरंतर करनी चाहिये। भावना करते २ अशुद्धता हटेगी और शुद्धता प्रगट होगी।

इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यानकी मुख्यता करके तीसरे स्थलमें गाथा तीन समाप्त हुईं ॥२४॥

आगे कहते हैं कि जैसे कोई भी नासमझ अज्ञानी ऐसा कहता है कि अग्नि ईंधन होजाती है या ईंधन अग्नि हो जाता है, अग्नि ईंधन होगई थी व ईंधन भी अग्नि हो गया था, अग्नि ईंधन हो जायगी या ईंधन अग्नि हो जायगा। तैसे ही जो भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों ही कालोंमें देह और रागद्वेपादि परद्रव्योंको अपनी आत्मामें जोड़ता है अर्थात् ऐसा कहता है कि मैं अमुक था, अमुक हूं व अमुक हो जाऊंगा या मैं रागी व क्रोधी था अब क्रोधी लोभी या मानी हूं या आगामी राग द्वेष लोभ मानादि करूंगा सो जीव अप्रतिबुद्ध बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी है।

गाथाः—अहमेदं एदमहं । अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं । सचित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २५ ॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं । अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥
एवंतु असंभूदं आदवियप्पं करेदि सम्मूढ़ो ।
भूदत्थं जाणंतो । ण करेदि दु तं असम्मूढ़ो ॥ २७ ॥

संस्कृतार्थः—अहमिदं इदमहं । अहमेतस्य एव भवामि मम इदम् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं । सचित्ताचित्त मिश्रं वा ॥ २५ ॥
आसीन्मम पूर्वमेतत् । अहमिदं चैव पूर्वकाले ।
भविष्यति पुनरपि मम । अहमिदं चैव भविष्यामि ॥ २६ ॥
एवं त्वसद्भूत । मात्म विकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन् । न करोति पुनः तमसंमूढ़ः ॥ २७ ॥

सामान्यार्थ—आत्मासे अन्य जो देह व पुत्र व धनादि सचित्त, अचित्त, या सचित्त-अचित्त मिश्र वस्तु हैं उनके विषैं अज्ञानी यह विकल्प करता है कि मैं इन रूप हूं या यह मेरे रूप हैं, मैं इनका ही हूं या यह मेरे ही हैं, यह चीज़ पहले मेरी थीं, या मैं पहले इन रूप ही था, यह चीज़ मेरी ही हो जायगी या मैं इन रूप ही हो जाऊंगा इस प्रकार तीन काल सम्बन्धी अनेक मिथ्या परिणाम अज्ञानी जीव अपने किया करता है। परंतु ज्ञानी सम्यग्दृष्टी सत्यार्थ वस्तुको जानता हुआ इन मिथ्या विकल्पोंको नहीं करता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(अहमेदं एद महं) मैं इस शरीर रूप परद्रव्यमय हूं जैसे मैं पुरुष हूं या स्त्री हूं, या यह शरीर मुझरूप है जैसे मैं अमुक ज्ञानवान हूं। यहां पर दृष्टि बाह्य शरीर ही पर है (अहमेदस्स एव होमि मम एदं) अथवा मैं इसका सम्बन्धी हूं या मेरा सम्बन्ध रखनेवाली यह वस्तु है (वा) इसी प्रकार (अण्णं जं परदव्वं) शरीरसे भिन्न जो पुत्र स्त्री आदि परद्रव्य (सचित्ताचित्तमिस्सं) सचित्त, अचित्त या मिश्र रूप है उसमें भी ऐसा भाव करता हैं। यहां गृहस्थकी अपेक्षासे सचित्त पदार्थ स्त्री व पुत्रादि हैं अचित्त पदार्थ सुवर्ण चांदी लोहा आदि हैं, मिश्रद्रव्य आभूषण व वस्त्रादि सहित स्त्री पुत्रादि हैं अथवा तपोधन अर्थात तपस्वीकी अपेक्षा सचित्त द्रव्य शिष्य आदि हैं, अचित्त द्रव्य पीछी, कमंडल, पुस्तकादि हैं और मिश्र पदार्थ उपकरण सहित छात्र आदि हैं। अथवा सचित्त द्रव्य रागद्वेषादि मिश्रद्रव्य द्रव्यकर्म्म और भावकर्म दोनोंका सम्बन्ध है अथवा विषय कषाय रहित निर्विकल्प समाधिमें स्थित पुरुषकी अपेक्षासे सचित्त द्रव्य सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप है, अचित्त द्रव्य पुद्गल आदि पांच द्रव्योंका रूप हैं, मिश्र द्रव्य

गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदिमें परिणमन करता हुआ संसारी जीवका स्वरूप है। वर्तमानकालकी अपेक्षा इन पर वस्तुओंके भीतर अहं व मम बुद्धि करता है। तथा (आसि मम पुव्व मेदं) यह पदार्थ पूर्वकालमें मेरा था (अहमेदं चा वि पुव्वकालं मि) या पूर्वकालमें मैं इस रूप ही था (होहिदि पुणोवि मज्झं) या यह वस्तु मेरी हो जायगी (अहमेदं चावि होसामि) अथवा मैं इस रूप हो जाऊंगा, इस प्रकार भूत और भावी कालकी अपेक्षासे परमें अहं वा मम बुद्धि करता है। (एवं तु) इसी प्रकार (सम्मूढो) यह अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी (असंभूदं) तीनकालके पर द्रव्य सम्बंधी असत्यार्थ मिथ्या (आद वियप्पं) आत्मविकल्प अर्थात् अशुद्ध निश्चयसे जीव सम्बन्धी परिणामोंको (करेदि) करता है। (दु) परंतु (असम्मूढो) सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा ज्ञानी भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनामें रत (तं) तीनकालके परद्रव्य सम्बन्धी मिथ्या विकल्पोंको (भूदत्थं) भूतार्थ अर्थात् निश्चय नयको अर्थात् निश्चय नयसे जीव पुद्गलादि द्रव्योंके भिन्न २ असली स्वरूपको (जाणंतो) जानता हुआ (ण करेदि) नहीं करता है। यहां यह प्रयोजन है कि जैसे कोई भी अज्ञानी जीव अग्निको ईंधन और ईंधनको अग्नि तीनों भूत भविष्यत् वर्तमानमें निश्चयसे अर्थात् एकांत अभेद रूपसे कहता है। तैसे ही देह व रागादि परद्रव्य स्वरूप इस समय मैं हूं व पूर्वं मैं था व आगामी में हो जाऊंगा ऐसा जो कोई कहता है वह अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी है। परंतु जो इसके विपरीत समझता है अर्थात् तीनों कालोंमें परद्रव्यका सम्बन्ध होते हुए भी अपने पदार्थको सर्व द्रव्य कर्म, नोकर्म, भाव कर्मसे भिन्न ज्ञाताद्दष्टा आनन्दमय परमवीतराग स्वरूप अनुभव करता है सो ही पुरुष ज्ञानी, सम्यग्दृष्टी और अंतरात्मा है। इस प्रकार अज्ञानी और ज्ञानीजीवका लक्षण जानकर जो महापुरुष निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण भेद ज्ञानमें तिष्ठकर भावना करते हैं तिस ही भावनाको दृढ़ किया गया है। जैसे कोई भी राज्यका सेवक पुरुष उस राज्यके शत्रुसे सम्बन्ध रखता हुआ उस राज्यका आराधनेवाला नहीं हो सक्ता तैसे ही परमात्माको आराधनेवाला पुरुष परमात्म स्वरूपसे उल्टे जो मिथ्यात्त्व रागद्वेषादि भाव उनमें परणमन करता हुआ परमात्माका आराधक या सेवक नहीं होसक्ता यह भावार्थ है। भावार्थ—मुमुक्षु जीवको अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये निरंतर अपने शुद्ध स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये। जो ऐसे निजरूपको सत्यार्थपने जानता और भावता है वही प्रतिबुद्ध और ज्ञानी है। और जो परस्वरूपोंमें अहंकार व ममकार करता है वह अज्ञानी है इस लिये कभी भी निज आत्माका आराधक नहीं होसक्ता ॥ २५-२६-२७ ॥

इस तरह अप्रतिबुद्धका लक्षण कहते हुए चौथे स्थलमें गाथा तीन समाप्त हुइ।

आगे इसी अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीवको समझानेके लिये उद्यम किया जाता है-

गाथाः—अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
वद्धमवद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥ २८ ॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वी भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥ २९ ॥
जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्का वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥ ३० ॥

संस्कृतार्थः—अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलद्रव्यं।
बद्धमवद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥ २८ ॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यं।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ॥ २९ ॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ॥ ३० ॥

सामान्यार्थः—अज्ञानसे जिसकी वुद्धि मोहित हो रही है ऐसा मोही जीव अपने साथ बंधे हुए इस शरीरको और नहीं बंधे हुए पुत्र कलत्रादिकोंके शरीर रूपी पुद्गलद्रव्यको मेरा है ऐसा कहता है तैसे ही अपने जीव द्रव्यमें मिथ्यात्व रागादि अनेक भावोंका संयोग करता रहता है ॥ २८ ॥ सर्वज्ञ भगवानने अपने ज्ञानमें देखा है कि यह जीव पदार्थ नित्य ज्ञान दर्शन उपयोग लक्षणवान है तब फिर जीव कैसे पुद्गल द्रव्य होसक्ता है जिससे तू ऐसा कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है ॥ २९ ॥ यदि ऐसा होता हो कि यह जीव पुद्गल द्रव्य हो जाय और पुद्गल द्रव्य जीवपनेको प्राप्त हो जावे तब तो ऐसा कहा जा सक्ता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा हैं ॥ ३० ॥

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ-(अण्णाणमोहिदमदी) अज्ञान अर्थात् मिथ्या ज्ञानसे मूढ़ हो रही है मति जिसकी ऐसा मोही जीव (वद्धम्) अपने साथमें बंधको प्राप्त तैजस कार्माण औदारिकादि देह रूप (च) और (अवद्धम्) अपने आत्माके प्रदेशोंसे सम्बन्ध न रखनेवाले अपने शरीरसे भिन्न रूप पुत्र स्त्री आदि सम्बन्धी (पुग्गलं दव्वं) पुद्गलद्रव्यको (मज्झमिणं) यह मेरा है ऐसा (भणदि) कहता है। (तहा) तथा (जीवे) जीव द्रव्यमें (बहुभावसंजुत्तो) मिथ्यात्व रागद्वेष क्रोध मान माया लोभादि अनेक भावोंसे संयोग करता हुआ रहता है अर्थात् मैं रागी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं, ऐसा मानता है। इस तरह इस गाथामें अज्ञानी जीवकी असत्त्य प्रतीतिका वर्णन किया। आगे इस वहिरात्माको संवोधन करते हुए आचार्य्य कहते हैं-रे दुरात्मन्!

(सव्वण्हु णाणदिट्ठो) सर्वज्ञ भगवानने अपने ज्ञानमें देखा है कि (जीवो) यह जीव पदार्थ (णिच्चं) सर्व ही कालमें (उवओगलक्खणो) केवलज्ञान और केवलदर्शनमई शुद्ध उपयोग लक्षणको शुद्ध नयसे रखनेवाला है (किहं) तब कैसे (सो) वह जीव (पुग्गलदव्वी भूदो) पुद्गल जड़ मई द्रव्य हो सक्ता है अर्थात् किसी तरह भी नहीं हो सक्ता (जं) जिस कारणसे (भणसि) तू ऐसा कहता है कि (मज्झमिणं) यह पुद्गलद्रव्य मेरा है । भावार्थ—जब सर्वज्ञ देवने पुद्गलसे भिन्न चेतना लक्षणधारी जीव पदार्थको देखा है और ऐसा ही ज्ञानी जीवोंके अनुभवमें आता है तब तेरा यह कहना कि यह शरीरादि मेरा है मैं इसका हूं सो सर्व मिथ्या है। इस प्रकार दूसरी गाथा हुई ॥ २९ ॥ (जदि) यदि (सो) वह जीवद्रव्य (पुग्गल दव्वीमूदो) पुद्गल अर्थात् जड़ स्वरूप द्रव्य हो जाय और (इदरं) जीवसे भिन्न शरीरादि पुद्गल द्रव्य (जीवत्तं) जीवपनेको (आगदं) प्राप्त हो जाय (तो सक्का वुत्तुं) तब यह कहनेको समर्थ हो सके हो (जे) अहो भव्य जीव (मज्झमिणं पोग्गलदव्वं) कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। सो ऐसा कभी हो नहीं सक्ता । जैसे वर्षाकालमें कठोर लूणकी डली पानी रूप हो जाती है व गर्मीकी ऋतुमें खाराजल लूणकी डली रूप हो जाता है। इस प्रकार कालके निमित्तसे परस्पर एक दूसरे रूप हो जाते हैं तैसे ही जो कहीं यह जीव द्रव्य अपने चैतन्यपनेको छोड़कर पुद्गल द्रव्य स्वरूप परिणमन करता हो तथा पुद्गल द्रव्य अपने मूर्तीक अचेतन स्वभावको त्याग कर चैतन्य स्वरूप और अमूर्तीक हो जाता हो तब तो हे दुर्बुद्धी ! तुम्हारा वचन सत्य हो सक्ता है। परंतु ऐसा नहीं है क्योंकि यह बात प्रत्यक्षसे ही विरोध रूप है। यह जीव ज्ञान दर्शनवान है सो प्रत्यक्ष अनुभव गोचर है तथा यह शरीर पुद्गलसे बन कर सदा जड़रूप ही रहता है यह बात भी बाल गोपाल सब जानते हैं। इस कारण न जीव पुद्गल होसक्ता है और न पुद्गल जीव हो सक्ता है। इस लिये यह सिद्ध हुआ कि यह जीव द्रव्य देहसे भिन्न अमूर्तीक शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव है। यहां यह तात्पर्य है कि इस प्रकार देह और आत्माके भेद ज्ञानको जानकर और मोहनी कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हुए जो सर्व मोह रूप विकल्प जाल तिनको त्याग कर विकार रहित चैतन्य चमत्कार मात्र जो अपना परम आत्म तत्त्व है उसमें भावना करनी योग्य है। भावार्थ—संसारी जीव यद्यपि व्यवहारमें शरीरादि परद्रव्योंको अपने हैं ऐसा कहता है तथापि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा इन परद्रव्योंको सदा ही अपने स्वरूपसे भिन्न अनुभव करता है। जो कोई भूलसे इन शरीरादिकोंको निश्चयसे भी अपना मान बैठता है और इसी लिये उनमें और उनकी नाना अवस्थाओंमें तन्मय होकर कभी हर्ष और कभी विषाद करता है वह जीव अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। आचार्य्यने इसी अज्ञानी जीवको समझाया है कि प्रगट जुदे २ दीखते जो परद्रव्य उनमें तूं आत्मबुद्धि

त्याग। जैसे घटाकाशका व्यवहार होते हुए भी आकाश अमूर्तीक घट रूप नहीं हो सक्ता और न मूर्तीक घट कभी आकाश रूप हो सक्ता है। इसीतरह जीवमें कभी पुद्गलका व्यवहार होते हुए भी न जीव कभी पुद्गल होसक्ता है और न पुद्गल कभी जीव होसक्ता है। अतएव जीव और पुद्गलका भेदज्ञान प्राप्त कर अपने कल्पाणके लिये मुमुक्षु जीवको सदा अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी ही भावना करनी चाहिये—उसीका मननकर आत्माकी अशुद्धताको मेट उसे निरंजन, निर्विकार परम शुद्ध वनादेना चाहिये ॥ ३० ॥

इस तरह अप्रतिबुद्धको समझानेके लिये पांचवें स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई। आगे अज्ञानी जीवके पूर्वपक्षको खंडन करते हुए गाथा आठ कही जाती हैं तिनमें एक गाथामें अज्ञानीका पूर्व पक्ष कथन है, चार गाथाओंमें निश्चय और व्यवहारको समर्थन करते हुए उस पक्षका खंडन है तथा तीन गाथाओंमें निश्चय स्तुति रूपसे पूर्व पक्षका परिहार है इसतरह छठे स्थलकी समुदाय पातनिका है।

आगे प्रथम ही अज्ञानी शिष्य अपना पूर्व्व पक्ष करता है कि यदि जीव और शरीरकी एकता नहीं है तो जो तीर्थंकर और आचार्य्यकी स्तुति की जाती है सो वृथा, निरर्थक हो जायगी।

गाथाः—**जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चैव।**
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥

संस्कृतार्थः—यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥ ३१ ॥

सामान्यार्थः—यदि जीव शरीररूप नहीं हैं तो तीर्थंकर और आचार्य्यकी स्तुति सर्व ही मिथ्या हो जायगी इस कारणसे यह आत्मा देह रूप है ऐसा ही ठीक है।

शब्दार्थ सहित विषेशर्थ—हे भगवन् (जदि जीवो ण सरीरं) यदि यह जीव पुद्गल जड़ शरीररूप नहीं होता है तो(तित्थयराइरिय संथुई चैव) ' द्वौ कुंदेन्दु तुषार हार धवलौ ' इत्यादि तीर्थंकर भगवानकी स्तुति कि आप कुंदके फूल व चंद्रमा व वर्फके समान सफेद रंग हैं इत्यादि ' तथा देश कुलजाइ शुद्धा ' इत्यादि आचार्य्यकी स्तुति कि जिनका देश और कुल शुद्ध हो इत्यादि (सव्वावि हवदि मिच्छा) सर्व ही मिथ्या अर्थात् असत्यार्थ हो जायगी (तेणदु आदा हवदि देहो) तिसकारणसे तो यह आत्मा देह रूप है ऐसी मेरी एकांत रूप प्रतीति है। ऐसा पूर्व पक्ष शिष्यने किया तिसकी गाथा पूर्ण हुई। इसका परिहार आगे आचार्य्य कहते हैं कि हे शिष्य ! जो तूने कहा है वन नहीं सक्ता क्योंकि तू निश्चय और व्यवहार

नयोंके परस्पर साध्य साधक भावको नहीं जानता है अर्थात् किस प्रकार निश्चय नय साध्य है और व्यवहार नय साधनवाली है, या कैसे निश्चयको समझनेके लिये व्यवहार नय निमित्त रूप पड़जाती है।

गाथाः—ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥ ३२ ॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ ३२ ॥

सामान्यार्थः—व्यवहार नय यह कहता है कि जीव और देह बिलकुल एक हैं परंतु निश्चय नयका यह अभिप्राय नहीं है कि जीव और देह किसी भी कालमें एक होते हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(ववहारणओ) व्यवहारनय (भासदि) कहती है (जीवो) यह जीव (देहो य) और यह देह (खलु) बिलकुल (इक्को) एक (हवदि) हैं (दु) परंतु (णिच्छयस्स) निश्चय नयके अभिप्रायसे (जीवो) यह जीव (देहो य) और यह शरीर (कदावि) किसी भी नर नारकादि पर्यायोंके कालमें (एकट्ठो) एक पदार्थ रूप (ण) नहीं हैं। जैसे कनकपाषाण और खास सुवर्ण इन दोनोंके एक साथकी अवस्थामें रहनेके कारणसे व्यवहारसे दोनोंमें एकता होने पर भी निश्चयसे दोनों भिन्न२ हैं तैसे ही जीव और शरीरादिमें व्यवहारसे एक साथ रहते हुए एकता होने पर भी निश्चयसे दोनों भिन्न २ हैं ऐसा अभिप्राय है। इस कारण व्यवहार नयसे देहकी स्तुति करनेसे आत्माका स्तवन युक्त है इसमें कोई दोष नहीं है। इसीको कहते हैः—

गाथाः—इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ ३३ ॥

संस्कृतार्थः—इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥ ३३ ॥

सामान्यार्थ—जीवसे अन्य इस पुद्गल मयी देहकी स्तुति करके मुनि महाराज ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवानकी वंदना और स्तुति करी ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जीवादो) इस जीवसे (अण्णं) अन्य (इणं) इस (पोग्गलमयं देहं) पुद्गल मयी देहकी (थुणित्तु) स्तुति करके (मुणी) मुनि (मण्णदि हु) पीछे व्यवहारसे ऐसा मानते हैं कि (मए) मुझ करके (केवली भयवं) केवली भगवान (संथुदो) स्तुति किये गए व (वंदिदो) वंदना किये गए। तात्पर्य्य यह है कि जैसे सुवर्ण और चांदी मिले हुए हैं इन दोनोंकी एकता देखकर व्यवहारसे ऐसा कह दिया जाता है कि यह सफेद सोना है परन्तु

निश्चयसे सुवर्णको शुक्ल नहीं कहा जासक्ता। तैसे ही केवली भगवान सफेद या लाल पाषाण-मणिके वर्ण रूप हैं इत्यादि देहकी स्तुति करते हुए व्यवहारसे आत्माका स्तवन होता है परन्तु निश्चय नयसे नहीं होसक्ता। क्योंकि निश्चय नय एक पदार्थको अन्य रूप नहीं कह सक्ती ॥ ३३ ॥

आगे इसी वातको दृढ़ करते हैं कि निश्चयनयसे शरीरकी स्तुति करते हुए केवली महाराजका स्तवन नहीं होसक्ता।

गाथाः—**तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।**
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ ३४ ॥

संस्कृतार्थः—तन्निश्चयेन न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥ ३४ ॥

सामान्यार्थ—ऊपर लिखी वात कि देहकी स्तुतिसे केवलीकी स्तुति हो जायगी निश्चयनयसे उचित नहीं है क्योंकि शरीरके पुद्गल मयी गुण वास्तवमें केवली परमात्माके गुण नहीं होसक्ते इस लिये जो केवल ज्ञानीके आत्मीक गुणोंकी स्तुति करता है वही वास्तवमें केवली भगवानकी स्तुति करता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(णिच्छयेण) निश्चयनयसे (तं) पूर्वोक्त देहकी स्तुतिसे केवलीका स्तवन (ण जुज्जदि) योग्य नहीं है क्योंकि (सरीरगुणा) शरीरके शुक्ल, कृष्ण आदिक गुण (हि) निश्चयसे (केवलिणो) केवली भगवानके गुण (ण होंति) नहीं होसक्ते। तब फिर केवलीका स्तवन कैसे होता है इसके लिये कहते हैं कि (जो) जो कोई (केवलिगुणे) केवली महाराजकी आत्माके अनंत ज्ञान दर्शन आदि गुणोंकी (थुणदि) स्तुति करता है (सो) सो ही (तच्चं) वास्तवसे वा स्फुट रूपसे (केवलिं) केवली भगवानकी (थुणदि) स्तुति करता है। जैसे शुक्ल वर्ण चांदी होती है परंतु कोई शुक्ल या रजत शब्दसे सुवर्णको कहे तो निश्चयसे नहीं कह सक्ता। तैसे ही केवली भगवानका शरीर शुक्ल आदि रूप है ऐसा स्तवन करनेसे चिदानंद मई एक स्वभाव जो केवली भगवान परम पुरुष परमात्मा हैं तिनका स्तवन निश्चयसे नहीं होसक्ता ॥ ३४ ॥

आगे शरीरकी प्रभुता कहने पर भी परमात्माके शरीरका स्तवन करनेसे निश्चयनयसे आत्माका स्तवन नहीं होता है इसीकी दृढ़ताके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गाथाः—**णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।**
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३५ ॥

संस्कृतार्थः—नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणेस्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवंति ॥ ३५ ॥

सामान्यार्थ—जैसे नगरकी शोभा वर्णन करते हुए निश्चयसे राजाका वर्णन हो ही नहीं सक्ता तैसे शरीरके गुणोंकी स्तुति किये जाने पर भी केवलीके आत्म गुणोंका स्तवन नहीं होसक्ता।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जह) जैसे (णयरंमि) महल, उपवन, खाई आदि संयुक्त नगरका (वण्णिदे) वर्णन करते हुए (रण्णो) राजाका (वण्णणा) वर्णन (ण वि) नहीं (होदि) होता है तैसे (देहगुणे) शुक्ल कृष्ण आदि देहके गुणों (थुव्वंते) का स्तवन करनेसे (केवलिगुणा) केवली भगवानके अनंत ज्ञानादि गुण (थुदा) स्तुति किये हुए (ण) नहीं (होंति) होते हैं। भावार्थ—यद्यपि व्यवहारसे नगरकी शोभा व सफाईसे राजाका ही यश होता है। परंतु निश्चयसे वनादि व महलादिकी शोभासे राजाके भीतर जो न्यायपना, शूरपना, दयालुता, धर्मज्ञता, प्रजावत्सलता आदि गुण हैं तिनका वर्णन नहीं होता। तैसे ही यद्यपि व्यवहारसे केवली भगवानकी देहकी शोभा वर्णन करते हुए केवली महाराजकी ही स्तुति होती है तथापि निश्चयसे शरीरके वर्णादिका वर्णन करनेसे सकल परमात्माके अनंत ज्ञानादि गुणोंका वर्णन नहीं होता है ऐसा जानना। इस प्रकार निश्चय व्यवहार रूपसे गाथा चार पूर्ण हुई ॥ ३९ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जो देहके गुणोंका स्तवन करनेसे निश्चय स्तुति नहीं होती तो फिर निश्चय स्तुति कैसी होती है सो कहिये। जिसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जो कोई द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय मई जो पांच इन्द्रिय हैं इनके विषयोंको अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्धी भोगाभिलाषोंको स्वसंवेदन लक्षण स्वरूप भेद ज्ञानके द्वारा जीत करके अपने शुद्ध आत्म स्वरूपका अनुभव करता है सो ही जित है अर्थात् जितेन्द्रिय है इस प्रकार करी हुई स्तुति सो निश्चय स्तुति है सो ही दिखलाते हैं—

गाथा—जो इंदिए जिणित्ता, णाण सहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३६ ॥

संस्कृतार्थः—यो इंद्रियान् जित्वा। ज्ञानस्वभावाधिकमनुते आत्मानं।
तं खलु जितेन्द्रियं ते, भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥ ३६ ॥

सामान्यार्थ—जो इन्द्रियोंको जीत कर ज्ञान स्वभावसे पूर्ण आत्माको अनुभव करता है उसको जो निश्चयके ज्ञाता साधु हैं वे प्रगटपने जितेन्द्रिय कहते हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जो) जो पुरुष (इंदिए) द्रव्येन्द्रिय स्वरूप पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छाओंको (जिणित्ता) जीत करके अर्थात् अपने आधीन करके (णाण सहावाधिअं) शुद्ध ज्ञान चेतना गुणसे परिपूर्ण (आदं) शुद्धात्माको (मुणदि) मानता है, जानता है, तथा अनुभवमें लाता है (तं) तिस पुरुषको (जो) जो (णिच्छिदा) निश्चय नयके ज्ञाता (साहू) साधु जन हैं (ते) वे (खलु) प्रगटपने (जिदिंदियं) जितेन्द्री

(भणंति) कहते हैं। यहां यह तात्पर्य्य है कि जानने योग्य ज्ञेय तो स्पर्शादि पंचेन्द्रियके विषय हैं और इनको जानने वाले ज्ञायक स्पर्शन आदि पांच द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय हैं। इन सबका जो इस जीवके साथ संकर अर्थात् संयोग या संबंध सो ही एक दोष है तिस दोषको परम समाधिके बलसे जो कोई जीतता है सो ही जितेन्द्रिय या जिन है इस प्रकार यह प्रथम निश्चय स्तुति है। भावार्थ—आत्मा जब निज समाधि स्वरूप परम सामायिकमें होता है तब स्वयं ही पांचों इन्द्रियोंकी सर्व चाहनाएं रुक जाती हैं। इस कारण जितेन्द्रिय कहलाता है। इस तरहकी स्तुति करनेसे आत्माकी तरफ स्तुतिकर्ताका उपयोग जाता है इससे इस प्रकारकी स्तुतिको निश्चय स्तुति कहते हैं॥ ३६ ॥

आगे तिस ही निश्चय स्तुतिको दूसरे प्रकारसे भाव्य भावक संकर दोषको दूर करते हुए कहते हैं। अथवा उपशम श्रेणीकी अपेक्षा आत्मा जित विमोह है ऐसा कहते हैं:—भाव्य-भावक संकर दोष क्या है सो इसी गाथाकी व्याख्यामें कहेंगे।

गाथा—**जो मोहं तु जिणित्ता। णाण सहावाधियं मुणदि आदं।**
तं जिद मोहं साहुं। परमट्ठवियाणया वेंति॥ ३७॥

संस्कृतार्थ—यो मोहं तु जित्वा। ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानं।
तं जितमोहं साधुं। परमार्थविज्ञायका ब्रुवंति॥ ३७॥

सामान्यार्थ—जो मोहको जीतकर ज्ञान स्वभावसे पूर्ण आत्माको अनुभवमें लाते हैं उस साधुको परमार्थके जानने वाले 'जितमोह' ऐसा कहते हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जो) जो पुरुष (मोहं) उदयमें प्राप्त मोहको अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें एकाग्रताको रखनेवाली विकल्प रहित समाधिके बलसे (जिणित्ता) जीत करके (णाणसहावाधियं) शुद्ध ज्ञान गुणसे परिपूर्ण (आदं) आत्माको (मुणदि) मानता है, जानता है, तथा भावता है (तं) तिस (साहुं) साधुको (परमट्ठवियाणया) परमार्थके ज्ञाता (जितमोहं) जितमोह (वेंति) कहते हैं। यह दूसरी निश्चय स्तुति है। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि इस स्तुतिमें भाव्य भावक संकर दोषका परिहार कैसे हुआ सो कहिये। इसके उत्तरमें व्याख्याकार कहते हैं कि भाव्य तो रागादिमें परणमन करते हुए आत्माको कहते हैं और भावक राग उत्पन्न करनेवाले उदयमें प्राप्त मोहको कहते हैं। इन भाव्य और भावकका शुद्ध जीवके साथ संकर अर्थात् संयोग या संबंधको भाव्यभावक संकर दोष कहते हैं। इस दोषको स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे जो त्यागता है सो ही जित मोह है। भावार्थ—उदय रूप मोह कर्म और राग परिणत आत्मा है इन दोनोंका त्याग जित मोहके हो जाता है क्योंकि उपशांत मोह ग्यारहवे गुणस्थान वर्ती साधुके न तो कोई राग परणति है और न किसी भी मोहकी प्रकृतिका उदय है॥ ३८॥ इसी ही प्रकारसे मोह पदको पलटकर

राग, द्वेष, क्रोध मान, माया, लोभ, कर्म्म, नोकर्म्म, मन, वचन, काय ऐसे ग्यारह शब्द बीचमें जोड़ कर ११ सूत्र कर लेना तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस, स्पर्शन इन पांचों पदोंको देकर पांच सूत्र और करलेना इसी ही प्रकारसे और भी जो असंख्यात लोक मात्र विभाव परिणाम हैं तिनको सूत्रमें लगा कर पाठ करना और व्याख्यान समझना, जैसे जो रागको जीते वह जित राग, जो द्वेषको जीते वह जित द्वेष, जो कर्मोको जीते वह जित कर्म, जो श्रोत्रइंद्रिय जीतें सो जितेन्द्रिय, जो तपका मद जीते सो जित मद इस प्रकार व्याख्यान समझना। **भावार्थ**—यहां प्रयोजन आत्म स्वरूपका अनुभव करानेका है। अतएव विभाव परिणामोंको स्मरण कर उनसे मैं रहित हूं या परमसाधुका आत्मा रहित है ऐसी भावना करके विभाव भाव हटते और परिणति शुद्ध होती है। इसी लिये इस स्तुतिको निश्चय स्तुति कहते हैं ॥ ३७ ॥

आगे भाव्यभावक भावको अभाव रूप कहते हुए तीसरी निश्चय स्तुति कही जाती है अथवा क्षपक श्रेणीकी अपेक्षासे क्षीण मोह हैं इस प्रकार इस स्तुतिको कहते हैं—

गाथा—**जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।**
तइया दु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३८ ॥

संस्कृतार्थ—जितमोहस्य तु यदा क्षीणोमोहो भवेत्साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥ ३८ ॥

सामान्यार्थ—जितमोह उपशम श्रेणीवाले मुनिके जब मोहका क्षय हो जाता है तब उस साधुको निश्चयके ज्ञाता क्षीण मोह कहते हैं—

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जिदमोहस्स साहुस्स) उपशम श्रेणी प्राप्त जित मोह साधुके (जइया दु) जिस समय पर अर्थात क्षपक श्रेणीपर निर्विकल्प समाधिके कालमें (मोहो) मोहकर्म (खीणो हविज्ज) क्षय हो जाता है (तइया दु) तिस समय पर अर्थात् मनवचन कायकी गुप्ति रूप समाधिके समयमें (सो) सो साधु (णिच्छयविदूहिं) निश्चय अर्थात् परमार्थके ज्ञाता गणधर देवादि महापुरुषोंके द्वारा (खीणमोहो) क्षीणमोह (भण्णदि) कहे जाते हैं।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि भाव्यभावकके अभाव रूप यह स्तवन कैसे हुआ तिसका समाधान व्याख्यानकार कहते हैं कि भाव्य तो रागादिकोंमें परणमता हुआ आत्मा और भावक राग उत्पन्न करनेवाला उदय प्राप्त मोहकर्म इन दोनोंका भाव स्वरूप जो दोष तिसका अभाव क्षय या विनाश जिसने किया सो क्षीणमोह हैं। यह तीसरी स्तुतिका अभिप्राय है। **भावार्थ**—इस मोहकर्मके उदयसे जो रागादि दोष था तिसका जड़ मूलसे नाश करके क्षीण-मोह हो गए। अब मोह कभी भी अपनी जड़ नहीं पकड़ेगा—अतः क्षीण मोह ऐसा कहनेसे मोह रहित आत्माका अनुभव होता है। इस कारण यह निश्चय स्तुति है। इसी प्रकार मोह

पदके स्थानमें राग व द्वेष आदि पद जोड़ लेना, जैसे जिसने रागका अभाव किया सो वीतराग, जिसने द्वेषको हटाया सो क्षीण दोष, जिसने क्रोधको नाश किया सो क्षीणक्रोध। इस तरह भावना करनी योग्य है।

इस प्रकार प्रथम गाथामें पूर्व पक्ष करके फिर ४ गाथाओंसे निश्चय और व्यवहारको समर्थन करते हुए उस पक्षका उत्तर है फिर तीन गाथाओंसे निश्चय स्तुति करके उसी पक्षका विशेष समाधान है। इस तरह पूर्व पक्षका खंडन करते हुए ८ गाथाओंमें छठा स्थल पूर्ण हुआ॥ ३८॥

आगे रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित जो स्वसंवेदन ज्ञान सो ही है लक्षण जिसका ऐसा जो प्रत्याख्यान तिसका व्याख्यान करते हुए चार गाथाओंको कहते हैं, तिनमें स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा कथन करते हुए प्रथम गाथा है, फिर प्रत्याख्यानके सम्बन्धमें दृष्टान्त रूपसे दूसरी गाथा है इस तरह गाथा दो हैं। फिर मोहका त्याग करानेके हेतु प्रथम गाथा तथा ज्ञेय पदार्थोंका त्याग कराते हुए दूसरी गाथा इस तरह गाथा दो हैं। ऐसे सातवें स्थलमें समुदाय पातनिका कही गई॥३८॥

अब शिष्यने जो यह पूर्व पक्ष किया था कि तीर्थंकर व आचार्यकी स्तुति निरर्थक है क्योंकि इससे शरीरको ही आत्मा कहना पड़ेगा तिसका समाधान सुनकर यह जान गया कि जीव और देहकी कभी भी एकता नहीं की जासक्ती।

अत्र प्रतिबुद्ध होकर यह प्रश्न करता है कि हे भगवन्! रागादिकोंका प्रत्याख्यान क्या वस्तु है? इसका उत्तर आचार्य्य कहते हैं—

गाथा—**णाणं सव्वेभावे पच्चक्खादि य परेत्ति णादूण।**
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं॥ ३९॥

संस्कृतार्थ—ज्ञानं सर्वान्भावान् प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात् प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् मन्तव्यम्॥ ३९॥

सामान्यार्थ—स्वसंवेदन ज्ञान सर्व रागादि भावोंको अपनेसे पर जान करके त्याग देता है तिस कारण जो ज्ञान है सो ही निश्चयसे प्रत्याख्यान है ऐसा जानना योग्य है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(णाणं) जो जानै सो ज्ञान इस व्युत्पत्ति करके स्वसंवेदन ज्ञानको ही आत्मा कहते हैं सो ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान स्वरूप आत्मा (सव्वे भावे) सर्व मिथ्यात्व रागद्वेषादि भावोंको (परेत्ति णादूण) पर स्वरूप हैं अपने आत्म स्वरूपसे भिन्न हैं ऐसा जान करके (पच्चक्खादि य) प्रत्याख्यान करता है, त्यागता है अथवा निराकरण करता है (तम्हा) तिस कारणसे (णाणं) निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही (पच्चक्खाणं) प्रत्याख्यान है ऐसा (णियमा) नियमसे अर्थात् निश्चयसे (मुणेदव्वं) मानना चाहिये, जानना चाहिये और अनुभवना चाहिये।

यहां यह तात्पर्य है कि परम समाधि अर्थात् समताभावके समयमें स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे जो शुद्धात्माका अनुभव किया जाता है सो ही अनुभव करना निश्चय प्रत्याख्यान है। भावार्थः— प्रत्याख्यान नाम त्यागका है सो व्यवहारसे भोजन त्याग, विषय सेवन त्याग, कषाय त्याग, गमन त्याग आदिको प्रत्याख्यान कहते हैं। परन्तु निश्चयसे जब यह आत्मा अपने शुद्ध आत्म स्वरूपमें आरूढ़ होता है और उसके रससे भीज जाता है तब ही प्रत्याख्यान होता है क्योंकि उस समय आपसे ही सर्व रागद्वेषादि विभाव छूट जाते हैं। इसलिये निश्चय प्रत्याख्यान शुद्धात्म स्वरूपका अनुभव ही है। अतएव सर्व विकल्प त्याग एक निज स्वरूपकी ही भावना करनी योग्य है ॥ ३९ ॥

आगे प्रत्याख्यान विषय सम्बन्धी दृष्टान्त कहते हैं:—

गाथा—**जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।**
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी ॥ ४० ॥

संस्कृतार्थ—यथानाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ॥ ४० ॥

सामान्यार्थ—जैसे कोई भी पुरुष यह पर द्रव्य है ऐसा जान कर उसे छोड़ देता है। तैसे ज्ञानी सर्व ही पर भावोंको अपनेसे पररूप हैं ऐसा जानकर त्याग देता है ॥ ४० ॥

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जह) जैसे (णाम) प्रगटपने (कोवि पुरिसो) कोई भी पुरुष (परदव्वमिणंति) यह वस्त्र आभरणादिक जो मैंने पहन रक्खे हैं मेरे नहीं हैं दूसरेके यह पदार्थ हैं ऐसा (जाणिदुं) जानकर (चयदि) उनको त्यागदेता है। (तह) तैसे ही (णाणी) स्वसंवेदन ज्ञानी (सव्वे परभावे) सर्व मिथ्यात्व रागादि परभावोंको अर्थात् विभाव रूप पर्यायोंको परस्वरूप अपनेसे भिन्न (णाऊण) अपने स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे जानकर (विमुंचदे) विशेष रूपसे अर्थात् मनवचकायकी शुद्धतासे छोड़ देता है। यहां यह तात्पर्य्य है कि जैसे कोई देवदत्त नामका पुरुष धोबीके घरसे अपनी चादरकी जगह दूसरे आदमीकी चादरको भूलसे अपनी मानकर लाया और उसे ओढ़कर सोगया, पीछे उसी वस्त्रका स्वामी उधर आ निकला, उसने उस चादरको अपनी जान कपड़ेका आंचल पकड़ खींचा। ओढ़नेवाला नग्न होगया और यकायक चौंक कर उठा और उस कपड़ेके लक्षणको देख पहचान लिया कि यह चादर मेरी नहीं है इस दूसरे आदमीकी है। तब फिर तुरत ही विना किसी मोहके उसे छोड़ देता है। ऐसे ही यह ज्ञानी जीव भी जिन रागादि भावोंको पहले अज्ञान भावसे अपने मान रहा था ज्ञानी गुरु द्वारा समझाये जानेपर कि यह मिथ्यात्व रागादि तेरे स्वरूप नहीं है, तू तो इनसे भिन्न एक ज्ञान स्वरूप है, इन सर्व परभावोंको पर रूप निश्चय करके छोड़ देता है और शुद्धात्माकी अनुभूतिका अनुभव करने लगता है। भावार्थ—जैसे अपने शरीरसे वस्त्र भिन्न हैं, व आत्मासे

शरीर भिन्न हैं तैसे शुद्धात्म स्वरूपसे यह सर्व उपाधिजनित कर्म सम्बन्धसे पैदा होनेवाले रागादि भाव भिन्न हैं ऐसा जानकर इनको रुचिसे त्याग करके निज आत्मद्रव्य और उसकी अनंत गुणनिधिका ही भोक्ता होना योग्य है। इस प्रकार दो गाथाएं संपूर्ण हुईं ॥ ४० ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि शुद्धात्माकी अनुभूतिका अनुभव किस प्रकार होता है इसका उत्तर कहते हुए आचार्य्य मोहादिके त्याग करनेकी विधि बतलाते हैं—

गाथा—णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोह णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ४१ ॥

संस्कृतार्थ—नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः ब्रुवंति ॥ ४१ ॥

सामान्यार्थः—मोह मेरा कोई भी नहीं है। मैं तो एक उपयोग स्वरूप ही आत्मा हूं ऐसा ज्ञानमें झलकता है, इसलिये शुद्धात्माके जानने वाले मुझे मोह ममत्त्वसे रहित कहते हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(मोहो) द्रव्यकर्म रूप मोह तथा भावरूप मोह अर्थात् मोहनीकर्म वा मोहभाव (मम) शुद्ध निश्चयनयसे टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावको रखनेवाला ऐसा जो मैं सो मेरा (को वि) कोई भी सम्बन्धी (णत्थि) नहीं है। क्योंकि जब मैं शुद्ध ज्ञायक स्वरूप हूं तब यह मोह मुझे रागादि परभावरूप भावना करानेके लिये या मुझे रंजित करनेके लिये असमर्थ है। (अहम्) मैं (एक्को) एक स्वरूप हूं ऐसा (उवओग एव) ज्ञानदर्शन उपयोग लक्षणका धारी होनेसे यह आत्मा ही (बुज्झदि) जानता है अथवा विशुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप ही मैं एक अकेला हूं ऐसा जाना जाता है। इसलिये (तं मोह णिम्ममत्तं) उस द्रव्य या भावरूप मोहके विषय में ममता रहित हूं अथवा मुझे मोह रहित शुद्धात्म भावना स्वरूप ऐसा निर्ममत्त्व (समयस्स वियाणया) शुद्धात्म स्वरूपके जाननेवाले पुरुष (विंति) कहते हैं। यहां यह विशेष है कि पहले यह कहाथा कि स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है उसी स्वसंवेदन ज्ञानको ही यहां निर्मोह स्वरूप कहा गया है।

भावार्थः—मोहादिसे दिल हटानेके लिये ऐसी भावना करनी योग्य है कि मैं तो एक शुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोगका धारी अकेला हूं, शुद्ध निश्चय जो सत्यार्थ नय है वह तो यही बतलाती है कि मेरी और सिद्ध भगवानकी जाति एक है। तब जैसे मोहका कोई निजका सम्बन्ध सिद्ध भगवानसे नहीं है तैसा मुझसे भी नहीं है। मोह तो मेरा बंधु नहीं है सो प्रगट ही है। जब मैं वीतराग भावनाको पाता हूं तब निराकुल सुखी रहता हूं और जैसे ही मोह आकर मेरे मनको दबाता है मैं आकुलताके समुद्रमें डूब जाता हूं और महादुःखका अनुभव करता हूं। ऐसा मेरा धन लूटनेवाला मोह मेरा हितू कैसे हो सक्ता है ? इस प्रकार बार २ विचार कर मोहको हटावे। ज्यों २ मोह हटेगा शुद्धात्माकी अनुभूति अपने अनुभवमें आवेगी।

इसी प्रकार मोह पदको पलटकर सूत्रमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इस तरह सोलह पद रखकर व्याख्यान समझना और भावना करनी । इसी तरह अन्य जो असंख्यात लोक मात्र विभाव परिणाम हैं उनको भी विचार कर भावना करनी योग्य है । जैसे राग भाव मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, क्रोध भाव मेरा कोई नहीं है, द्रव्य कर्म मेरे नहीं हैं, शरीरादि नोकर्म मेरे नहीं हैं यह पांच इन्द्रियां मेरी नहीं हैं, ग्रह वेद मेरे नहीं हैं, यह विकथा मेरी नहीं है, यह धन मेरा नहीं है । इस प्रकार निश्चयसे अपने स्वरूपरूप धनको अपना मानकर पकड़ले और उसके सिवाय सर्व अन्य भावोंको पर जान ममता छोड़े । इस तरह भेदज्ञानका अभ्यास करते २ मोहादि दूर होते हैं और निज शुद्धस्वरूपका अनुभव प्रगट होता है ॥ ४२ ॥

आगे कहते हैं कि धर्मास्तिकायको आदि लेकर ज्ञेय पदार्थ भी मेरे आत्माका स्वरूप नहीं है—

गाथाः—णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्म णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ४२ ॥

संस्कृतार्थः—नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः ब्रुवंति ॥ ४२॥

सामान्यार्थ—यह धर्म्म अधर्म्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं मैं तो एक उपयोग स्वरूप ही हूं ऐसा ज्ञानी जानता है इसलिये मेरा स्वरूप धर्म्म आदि पर द्रव्योंके ममत्त्वसे रहित है ऐसा आत्मस्वरूपके ज्ञाता कहते हैं ।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(धम्मादी) यह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय तथा कालद्रव्य व अन्य जीव द्रव्यको आदि लेकर जितने ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ हैं वे सब (मम) मेरे सम्बन्धी (णत्थि) नहीं हैं । (अहं) मैं (उवओग एव) विशुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोग स्वरूप ही हूं क्योंकि आत्माका लक्षण ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग मय है । इन दोनोंको अभेदसे उपयोग कहते हैं । अभेदसे जो उपयोग है सो ही आत्मा है क्योंकि आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें उपयोग है, मैं आत्मा हूं, अपनेको इस प्रकार जानता हूं कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव रूप मैं हूं तथा (एक्को) एक अकेला हूं (बुज्झदि) ऐसा ज्ञानी जानता है । (तं धम्मणिम्ममत्तं) इस कारण तिन धर्मादि द्रव्यों प्रति मैं ममत्त्व रहित हूं, यद्यपि दही और शक्करकी शिखरिणीके समान व्यवहार नयसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धकी अपेक्षासे परद्रव्योंके साथ मेरी एकता है तौभी शुद्ध निश्चय नयसे यह पर द्रव्य मेरा स्वरूप नहीं है । क्योंकि मैं शुद्धात्म भावना स्वरूप हूं, इस कारण पर द्रव्योंसे ममत्त्व रहित हूं । (समयस्स वियाणयाः) ऐसा शुद्धात्माके जाननेवाले पुरुष (वेंति) कहते हैं । यहां यह तात्पर्य्य है कि पहले स्वसंवेदन ज्ञानको ही प्रत्याख्यान कहा था उसीका यहां परद्रव्यसे

ममत्व रहितपना विशेषण वतलाया है। भावार्थ—परद्रव्योंको मैं जानता हूं ऐसा भी जो अहंकार है सो त्यागने योग्य है। सर्व पर द्रव्योंसे भी मोह करना स्वसंवेदन ज्ञानमें वाधक है इस कारण ऐसी ममता भी त्यागने योग्य है। निर्विकल्प होकर निज शुद्धस्वरूपका ध्याना ही कार्यकारी है। यद्यपि आत्माके ज्ञानस्वभावमें ज्ञेयोंका प्रतिभासपना होना उचित ही है तथापि उन ज्ञेयों प्रति जो ममत्व भाव सो स्वरूप समाधिमें निषेधने योग्य है। मैं ज्ञाता हूं परद्रव्य ज्ञेय हैं यह विकल्प योग्य नहीं है॥ ४२॥

इस प्रकार दो गाथाएं समाप्त हुईं। इस तरह ४ गाथाओंके समुदायसे सातवां स्थल पूर्ण हुआ।

आगे शुद्धात्मा ही एक उपादेय ग्रहण करने योग्य व अनुभव करने योग्य है ऐसा जो श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है, तिस ही शुद्धात्म स्वरूपमें स्वसंवेदन ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है, तथा तिस ही अपने शुद्ध आत्म स्वरूपमें वीतरागताके साथ स्वसंवेदन पने निश्चल रूप रहना सो सम्यग्चारित्र है इस तरह निश्चय रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाले जीवका कैसा स्वरूप होता है उसको दिखलाते हुए जीवाधिकारको संकोचते हैं—

गाथाः—**अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सयारूवी।**
णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणुमित्तं चि॥४३॥

संस्कृतार्थः—अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नैवास्ति मम किंचिद्, प्यन्यत् परमाणुमात्रमपि॥ ४३॥

सामान्यार्थः—प्रगटपने मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञान मई हूं और सदा अरूपी हूं। मेरे सिवाय अन्य परमाणु मात्र भर भी कोई चीज़ मेरी नहीं है॥

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(खलु) स्फुट रूपसे प्रगटपने (अहम्) मैं जो अनादि कालसे देह और आत्माकी एक मानता रूप भ्रमात्मक अज्ञानके कारण अप्रतिवुद्ध अर्थात् वेखवर हो रहाथा। परंतु अव परमगुरुके प्रसादसे जाग्रत हुआ अपने आपको जानकर अपने शुद्ध आत्म स्वरूपमें रत हुआ। ऐसा हूं जैसे किसीकी हथेलीमें सुवर्ण रक्खा हो परंतु वह भूलजाय और सो रहे, पीछे जव निद्रा दूर हो तव स्मरण करे और शीघ्र ही अपने पास सुवर्ण देखकर आनन्दित हो उसे ग्रहण करले। तैसे ही मैं अपने स्वरूपको आप भूला हुआ था, वेखवर हो अज्ञानकी नींदमें सो रहा था। अव ज्यों ही जागा, अपने स्वरूपको पहचाना, त्यों ही आनन्दित हो उसे ग्रहण कर लिया है। ऐसा मैं वीतराग चैतन्यमात्र ज्योति स्वरूप (एक्को) यद्यपि व्यवहार करके नर नारक आदि रूपोंकी अपेक्षा अनेक हूं तथापि विशुद्ध निश्चय नयसे टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव रूप होनेके कारणसे एक हूं। (शुद्धो) व्यवहारमई नव पदार्थोंसे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे भिन्न हूं अथवा रागादि दोषोंसे भिन्न निर्दोष अर्थात् शुद्ध हूं। (दंसण णाण मइओ) केवलदर्शन केवलज्ञानमयी तथा (सयारूवी) निश्चयनय करके, रूप,

रस, गंध, स्पर्शसे रहित होनेके कारणसे सदा ही अमूर्तीक हूं। (किंचिव) कोई भी (अण्णं) दूसरा (परमाणुमित्तं वि) परमाणुमात्र भी पर द्रव्य (मज्झ) मेरा (णवि अत्थि) नहीं है, अर्थात् कोई पर द्रव्य ऐसा नहीं है जो मेरे साथ एक रूप होकर व मुझे रागी द्वेषी करके मेरेमें मोह उत्पन्न करा देवे और कर्म बंधमें गिरा देवे; क्योंकि मैं निश्चयसे परम विशुद्ध ज्ञानमें परणमन करनेवाला हूं। भावार्थ—इस गाथामें अभेद रत्नत्रयकी भावना किस प्रकार करनी उसकी कुंजी बतलाई गई है। यद्यपि भावना करनेवाला पर्याय अपेक्षा शुद्ध नहीं है तथापि निश्चय-नयसे अपनी शक्तिकी भावना ही आत्माकी शक्तिको प्रगट करनेके लिये समर्थवान है, इसलिये जो कोई इस गाथाके अर्थके अनुसार भावना करके सर्व पर द्रव्य, पर भाव और पर पर्यायोंसे भिन्न शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक चैतन्यमई आत्म स्वरूपमें लीन होवे। सो अभेद रत्नत्रयका लाभ लेकर निश्चयसे यथार्थ मोक्षमार्गी हो कर्म बंध नसावे, अपनी शुद्धता बढ़ावे, मोहजाल हटावे, निज अनुभूति जगावे, तिस ही रसमें रसिक हो परम अद्भूत स्वाद पावे और निजानंद महलमें राज्य करनेको बढ़ता चला जावे। तात्पर्य्य यह है कि मुमुक्षु जीवको सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो अपने शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूपमें ही तन्मय होना योग्य है।

इस प्रकार समयसार ग्रंथकी शुद्धात्मानुभूतिलक्षणस्वरूप व्याख्याके विषयमें तात्पर्य्यवृत्ति टीकाके सात स्थलोंसे 'जो पस्सदि अप्पाणं' इत्यादि २७ गाथा और उसके पीछे उपसंहारकी एक गाथा इस तरह समुदायसे २८ गाथाओंके द्वारा जीवाधिकार समाप्त हुआ।

इति प्रथम रंगः।

---

(२) अजीवाधिकार।

अब इस समयसार नाटककी दूसरी रंगभूमिमें श्रृंगार किये हुए मनुष्यकी तरह जीव और अजीव एकीभूत होकर प्रवेश करते हैं। तहां स्थल तीनमें ३० गाथा पर्यंत अजीवा-धिकारका वर्णन किया जाता है। तिनमें पहले स्थलमें शुद्ध नयकी अपेक्षा देह व रागादि परद्रव्य हैं, जीवका स्वरूप नहीं हैं ऐसे निषेधकी मुख्यता करके "अप्पाणमयाणंता" इत्यादि गाथाको आदि करके पाठ क्रमसे १० गाथा तक व्याख्यान करते हैं। इन दस गाथाओंके मध्यमें पर द्रव्य आत्मा है इस पूर्व पक्षकी मुख्यता करके पांच गाथाएं हैं। तिसके बाद इसके खंडनकी मुख्यता करके सूत्र एक है फिर आठ प्रकार कर्म पुद्गलद्रव्य है ऐसे कथनकी मुख्यता करके सूत्र एक है, पश्चात् व्यवहारनयको समर्थन करते हुए तीन गाथाओंका वर्णन है। इस प्रकार समुदाय पातनिका हुई सो ही कहते हैं।

देह व रागादि जो पर द्रव्य हैं सो निश्चयसे जीव है ऐसा पूर्व पक्ष कहते हैः—

गाथा:—अप्पाणमयाणंता मूढ़ा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं, कम्मं च तहा परूविंति ॥ ४४ ॥

अवरे अज्झवसाणे, सुतिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥ ४५ ॥

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तण, गुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४६ ॥

जीवो कम्मं उदयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४७ ॥

एवं विहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥ ४८ ॥

संस्कृतार्थ:—आत्मानमजानंतो मूढ़ास्तु परमात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ॥ ४४ ॥

अपरेऽध्यवसानेषु, तीव्रमंदानुभावगं जीवं।
मन्यन्ते तथाऽपरे, नोकर्म चापि जीवमिति ॥ ४५ ॥

कर्मणउदयं जीवमपरे कर्म्मानुभागमिच्छन्ति।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥ ४६ ॥

जीवकर्म्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥ ४७ ॥

एवं विधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः।
ते न तु परात्मवादिनः निश्चयवादिभिः निर्दिष्टाः ॥ ४८ ॥

सामान्यार्थ:—आत्माको नहीं जाननेवाले मूढ़ पुरूष परद्रव्यको आत्मा कहते हैं उनमेंसे कोई तो रागादि भावको तथा कोई द्रव्य कर्मोंको जीव कहते हैं ॥ ४४ ॥ कोई रागादि भावोंमें जो तीव्र मंद शक्तिका परिणमन है उसको जीव मानते हैं तथा कोई नोकर्मको ही जीव जानते हैं ॥ ४५ ॥ कोई कर्मके उदयको जीव गिनते हैं तथा कोई कर्मोंकी रसरूप शक्तिको ही जो तीव्रपने या मंदपनेसे वर्तन करती है जीव ठहराते हैं ॥ ४६ ॥ तथा कोई जीव और कर्मोंके मेल होते हुए दोनोंको ही जीव जानते हैं तथा कोई कर्मोंके संयोगसे जीव होता है ऐसी इच्छा करते हैं ॥ ४७ ॥ इस तरह दुर्बुद्धि इस आत्माको नाना प्रकार पररूप कहते हैं इस लिये निश्चयके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा ऐसे पुरुष परको आत्मा कथन करनेवाले ठहराए गए हैं ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ सह विशेषार्थः—(अप्पाणं) शुद्ध आत्माके निश्चय स्वरूपको (अयाणंता) नहीं पहचाननेवाले (मूढा) अज्ञानी पुरुष (दु) तो (परं) परद्रव्यको (अप्पवादिणः) आत्मा कहनेवाले हैं। तिनमें (केई) कोई तो (जीवं) इस जीवको (अज्झवसाणं) रागादि अध्यवसानरूप अर्थात् जैसे कोयलेसे कालापना भिन्न नहीं है तैसे रागादि भावोंसे आत्मा भिन्न नहीं है ऐसा मानते हुए रागादि अध्यवसायरूप (तहा च) तथा (कम्मं) द्रव्यकर्मरूप (परूवेंति) कहते हैं ॥ ४४ ॥ (अवरे) दूसरे कोई एकांतवादी (अज्झवसाणेसु) रागादि अध्यवसायोंके भीतर (तिव्व मंदाणुभावगं) जो तीव्र तथा मंद अनुभाव स्वरूप अर्थात् शक्तिकी महिमाको तारतम्यसे प्राप्त होवे उसे (जीवं) जीव (मण्णंति) मानते हैं अर्थात् राग अंशको घटानेवाला व बढ़ानेवाला जो कोई तीव्र या मंद अनुभाग है वही असलमें जीव है ऐसा श्रद्धान रखते हैं। परंतु इनसे भिन्न रागादि रहित वीतराग निश्चयसे जीवका स्वरूप है सो नहीं प्रतीतिमें लाते हैं। (तहा) तथा (अवरे) दूसरे कोई चार्वाकादिक जो कर्म और नोकर्म रहित परमात्माके भेद विज्ञानसे शून्य हैं वे (णोकम्मं चा वि) शरीरादि नोकर्मको ही (जीवोत्ति) जीव मानते हैं ॥ ४५ ॥ (अवरे) दूसरे कोई (कम्मस्सुदयं) कर्मोंके उदयको अर्थात् पाप या पुण्यरूप फलको (जीवं) जीवजानते हैं तथा कोई (कम्माणुभागं) कर्मोंके अनुभागको अर्थात लता अर्थात् बेलरूप कोमल, दारु अर्थात् काष्टके समान कठोर, अस्थि अर्थात् हड्डीके समान कठोरतर तथा पाषाण अर्थात् पत्थरके समान कठोरतम कर्मोंके रसको (जो) जो (तिव्वत्तण मंदत्तण गुणेहिं) तीव्र पने या मंदपनेके गुणोंसे वर्त्तन करता है अर्थात् कभी तीव्र होता है कभी मंद होता है (सो जीवो) सो ही जीव (हवदि) है ऐसा मानते हैं ॥४६॥ (केवि) तथा कोई (जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि) जीव और कर्म्म दोनोंको दही और खांड़से मिली शिखरिणीके समान ही (खलु) स्फुट रूपसे (जीवं) जीव है (इच्छंति) ऐसा चाहते हैं। जैसे शिखरिणीका स्वादी दही और खांड़के मिलनेसे जो शिखरिणी हुई है उसे ही एक पदार्थरूप जानता है तैसे यह जीव और कर्म्म दो वस्तुओंके मेलको ही अपने अनुभवमें आनेवाला एक जीव जानता है। कर्म्मोंसे जुदा कोई शुद्ध जीव है जो अपने अनुभवमें आना चाहिये ऐसा नहीं जानता है। (अवरे) तथा दूसरे कोई (कम्माणं) आठ कर्मोंके (संजोगेण दु) संयोगसे होनेवाले (जीवम्) जीवको (इच्छंति) चाहते हैं जैसे आठ काठके पायोंके मिलनेसे खाट होती है तैसे आठ कर्मोंके संयोगसे जीव होता है ऐसा मानते हैं। उनका यह श्रद्धान है कि आठ कर्म्मोंके संयोगके सिवाय अन्य किसी शुद्ध जीवकी प्राप्ति नहीं है अर्थात् कर्म रहित कोई शुद्ध जीव देखनेमें नहीं आता ॥ ४७ ॥ (एवं विहा) इस तरह (बहु विहा) बहुत प्रकार (परं) देह व रागादि पर द्रव्यस्वरूप (अप्पाणं) आत्माको (दुम्मेहा) दुर्बुद्धि जन अर्थात् अज्ञानी बहिरात्मा जीव (वदंति) कहते हैं।

(तेणदु) तिस कारणसे ही (णिछयवादीहिं) निश्चयवादी सर्वज्ञ भगवानके द्वारा ऐसे पुरुष (परं) पर द्रव्य देह व रागादि भावोंको (अप्पवादी) आत्मा कहनेवाले अर्थात् पर को आत्मा कहनेका स्वभाव रखनेवाले (णिद्दिट्ठा) कहे गए हैं। भावार्थ—इस जगत्में अनेक मत हैं जो आत्माके स्वरूपको अनेक प्रकार मानते हैं। कोई केवल जड़ स्वरूप ही मानते हैं, कोई पृथ्वी आदि पांच भूतोंसे उत्पन्न जानते हैं, कोई रागी, द्वेषी, इच्छावान, द्वेषवान, प्रयत्नवान, ही जीवको जानते हैं, कोई जीवको परमात्मा होना न मानकर इतना ही मानते हैं कि यह वैराग्यमें चढ़ते २ ईश्वरके निकट होजायगा परन्तु सर्व रागादि रहित वीतराग नहीं होसकता। कोई केवल पापरूप या पुण्यरूप जो अवस्था होती है उनहीको जीव जानते हैं इनसे भिन्न भी कोई जीव होता है ऐसा श्रद्धान नहीं करते। इस तरह नाना प्रकारसे जीवके स्वरूपको कहते और मानते हैं—ऐसे माननेवालों तथा कहनेवालोंको सर्वज्ञ भगवानने बहिरात्मा तथा अज्ञानी इसी लिये कहा है कि जब तक यथार्थ जीवका स्वरूप ही नहीं प्रकट होगा तब तक अपना स्वरूप ही नहीं भासेगा और बिना यथार्थ निज स्वरूप प्रतिभासके मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होगी॥ ४४-४५-४६-४७-४८॥

इस तरह पांच गाथाओंके द्वारा पूर्व पक्षका वर्णन किया गया। अब आगे इसका परिहार कहते हैं।

गाथाः—एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया, किह ते जीवो ति उच्चंति॥४९॥

संस्कृतार्थः—एते सर्वेभावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीवा इत्युच्यंते॥ ४९॥

सामान्यार्थ—यह सर्व भाव पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा श्री जिनेन्द्र केवलीने कहा है। तब इन भावोंको जीव निश्चयनयसे कैसे कहा जावे।?

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(एदे) यह पूर्वमें कहे हुए (सव्वे भावा) सर्व ही देहादि व रागादिक भाव जो कि कर्मोंके कारण उत्पन्न हुई पर्यायें हैं (पोग्गलदव्वपरिणाम) पुद्गल द्रव्य जो कर्म्म तिसके उदयके परिणमनसे उत्पन्न हुई (केवलि जिणेहिं) केवली जिन सर्वज्ञों द्वारा (भणिया) कही गई हैं। तब (किह) किस कारणसे (ते) वे पर्यायें निश्चयनयसे (जीवोत्ति) जीव हैं या जीवकी पर्याय हैं ऐसी (उच्चंति) कहनेमें आसक्ती हैं?। अर्थात् यह पर्यायें जीव हैं या जीवकी हैं ऐसा निश्चय नयसे नहीं कहा जा सक्ता। यदि कोई ऐसा कहे जैसे कालापना कोयलेसे एक रूप है भिन्न नहीं है तैसे रागादिकोंसे भिन्न कोई जीव नहीं है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि रागादि विभाव भावोंसे भिन्न शुद्ध जीव है यह अनुमानका पक्ष है जिसका हेतु यह है कि परम

समाधिमें स्थित पुरुषोंके द्वारा शरीर व रागादिकोंसे भिन्न चिदानंद एक स्वभाव रूप शुद्ध जीव की उपलब्धि होती है अर्थात समाधिमें स्थित ध्यानी पुरुषोंको वीतराग शुद्ध आत्म स्वरूपका अनुभव होता है। जैसे किट्ट कालिमासे भिन्न सुवर्ण प्राप्त होता है यह दृष्टान्त है। इस कारण अंगार याने कोयलेका दृष्टान्त नहीं घट सक्ता। क्योंकि जैसे सुवर्णका पीलापना तथा अग्निका उष्णपना स्वभाव है तैसे ही अंगारेका कालापना स्वभाव है सो किसी भी तरह यह स्वभाव स्वभाववानसे अलग नहीं किया जा सक्ता। परंतु रागद्वेषादिक स्वभाव नहीं विभाव परिणाम हैं। जैसे स्फटिक मणिमें लाल व हरे डाककी उपाधिके कारण लालपना वहरापना दीखता है तैसे ही मोहनी कर्मकी उपाधिके कारण आत्मामें रागादिक भावोंका परिणमन दीखता है। सो इन रागादि विभावोंको विकार रहित शुद्धात्माकी अनुभूतिके बलसे आत्मासे पृथक किया जा सक्ता है। तथा पूर्व गाथामें जो यह कहा था कि आठ काठके संयोगसे जैसे खाट होती है ऐसे ही आठ कर्मोंके संयोगसे ही जीव होता है सो बात भी उचित नहीं है क्योंकि आठ कर्मोंके संयोगसे भिन्न शुद्ध जीव है यह अनुमानका पक्ष है जिसका दृष्टान्त सहित हेतु यह है कि आठ काठकी खाटसे सोनेवाला पुरुष भिन्न है तैसे आठ कर्मोंके संयोगसे पृथक् शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप इस जीवका अनुभव परम समाधिमें तिष्ठे हुए पुरुषोंको होता है। जीव और देह बिलकुल भिन्न है इस बातको साधनेके लिये यह अनुमान करते हैं कि देह और आत्माका अत्यन्त भेद है यह अनुमानका पक्ष है। क्योंकि इन दोनोंका भिन्न २ लक्षण लखनेमें आता है यह हेतु है जैसे जलका स्वभाव अग्निसे भिन्न है तैसी इन दोनोंमें भिन्नता है यह दृष्टान्त है। भावार्थ—किसी साध्य विषयको अनुमानद्वारा सिद्ध करनेके लिये पक्ष, हेतु और दृष्टान्तकी आवश्यक्ता होती है। जिस बातको सिद्ध करना हो सो पक्ष है। जिस साधनसे उसको सिद्ध करे सो हेतु है और इस हेतुका दूसरे किसी पदार्थका उदाहरण देकर दृढ़ करना सो दृष्टान्त है। ऊपर इसी उपायसे रागादिकोंसे भिन्न शुद्ध जीव है व जड़से मिलकर जीव नहीं होसक्ता इन दो बातोंको सिद्ध किया है। अतएव इस बातका दृढ़ श्रद्धान करना योग्य है कि आत्मा देहादि पुद्गलोंसे सर्वथा भिन्न है, आत्मा चेतन है देह जड़ अचेतन है। आत्मा अपने प्रदेशोंसे अखंड है, देह खंड रूप है तथा क्रोधादि भाव आत्माके निज भाव नहीं हैं। यदि निज भाव हों तो इनके होते हुए आत्मा बलिष्ठ, व विचारवान, व शोभनीक मालुम पड़े परंतु प्रत्यक्ष देखने व अनुभव करनेमें आता है कि क्रोधादि कषायोंका आवेश न अपनेको और न दूसरोंको रुचता है तथा क्रोधादिसे रहितपना अर्थात् वीतराग व शांत होना अपनेको भी सुख प्रदान करता है, अपनी आत्माको बलवान बनाता है तथा दूसरोंको भी रुचिकर होता है। अतएव रागादि आत्माके स्वाभाविक भाव नहीं है किन्तु उसमें अशुद्धताके फल हैं। निश्चयसे यह आत्मा शुद्ध स्फटिकके समान व शुद्ध सुवर्णके समान

शुद्ध वीतराग ज्ञानानंद स्वरूप है। अतएव निज जीव द्रव्यका ऐसा ही निश्चय, ज्ञान और अनुभव इस स्वहितवांछक जीवके लिये कार्यकारी है। इस कारण सर्व रागादि भावोंको हेय जान निज वीतराग शुद्ध परिणतिकी ही भावना करनी योग्य है। इस तरह पूर्व पक्षके खंडनकी गाथा पूर्ण हुई ॥ ४९ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि यह रागादि भाव चैतन्य स्वरूपमें प्रतिभासमान होते हैं व चैतन्य रूप हैं ऐसे मालूम पड़ते हैं तब यह रागादि अध्यवसान पुद्गलके स्वभाव कैसे हो सक्ते हैं तिसका समाधान आचार्य कहते हैं:—

गाथाः—अट्ठविहं पिय कम्मं, सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि, दुक्खंति विपच्चमाणस्स ॥५०॥

संस्कृतार्थः—अष्टविधिमपि कर्म, सर्वं पुद्गलमयं जिना ब्रुवंति।
यस्य फलं तदुच्यते, दुःखमिति विपच्यमाणस्य ॥ ५० ॥

सामान्यार्थ—वह आठों प्रकारके ही कर्म सर्व पुद्गलमई हैं ऐसा श्री जिन कहते हैं तथा तिस उदयमें प्राप्त कर्मका फल भी दुःख रूप है ऐसा कहा गया है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जिणा) श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ भगवान (सव्वं) सर्व (अट्ठ विहं पिय) आठ प्रकारके ही (कम्मं) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंको (पुग्गलमयं) पुद्गलमय जड़ स्वरूप हैं ऐसा (विंति) कहते हैं तथा (जस्स) तिस (पच्चमानस्स) उदयमें प्राप्त कर्मोंका (फलं) फल (तं) सो जगतप्रसिद्ध (दुक्खंति) व्याकुलताके स्वभाव रूप होनेसे दुःख रूप है ऐसा (वुच्चदि) कहा गया है। यहां यह तात्पर्य है कि आठ प्रकार पुद्गलमई द्रव्य-कर्मका कार्य दुःख उत्पन्न करना है जिसका लक्षण आकुलता रूप है तथा जो परमार्थ निश्चय आत्मिक सुखसे विलक्षण अर्थात् भिन्न है और जो आकुलताको उत्पन्न भी करता है। क्योंकि रागद्वेषादिक भी आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं इससे दुःख लक्षण स्वरूप हैं इस कारण पुद्गलके कार्य हैं तिसकारण शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा यह रागादिक पुद्गल मई हैं ऐसा जानना। भावार्थ—कारणके अनुसार कार्य होता है इस कारण रागादिक पुद्गल मई हैं क्योंकि आठ प्रकार जो पुद्गल मई कर्म तिनके उदयमें आकर पकनेसे ही यह आत्मामें उत्पन्न होते हैं। शुद्ध मोहकर्मरहित आत्मामें यह रागादिक कदापि उत्पन्न नहीं होते। इसलिये शुद्ध निश्चय नय जो शुद्ध स्वरूपको कहनेवाली है उसकी अपेक्षा यह रागादिक आत्माके निज स्वाभाविक भाव नहीं हैं पुद्गलकर्म जनित विकार हैं इसलिये शुद्ध निश्चयसे पौद्गलिक कहे जाते हैं। यद्यपि अशुद्ध निश्चय नयसे इन रागादिकोंको अशुद्ध जीवके भाव हैं ऐसा कहते हैं क्योंकि केवल पुद्गलमें जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी अवस्थाएं दीखती हैं तैसे रागादिक नहीं दीखते। ऐसे ही केवल शुद्धात्मामें भी इनका पता नहीं लगता है। जीव और पुद्गल कर्मका

एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होनेके कारण अशुद्ध आत्मामें ही मोहनीय कर्मके पचनेसे ही यह रागादिक भाव पैदा होते हैं इस कारण यहां आचार्यने पुद्गलमई इनको कहा है। जैसे स्फटिक मणिमें हरे डाकका सम्बन्ध होनेसे ही हरीकान्तिकी चमक स्फटिकमें प्रगट होनेसे यह हरा पत्थर है ऐसा कहा जाता है। यह हरापन वास्तवमें देखो तो हरी डाकके निमित्तसे ही पैदा हुआ है। इस लिये शुद्ध निश्चयसे यह हरापन डाकका है और वह फटिक मणि हरापन रहित श्वेत-क्रान्तियुक्त है। परन्तु अशुद्ध निश्चयसे यह हरेपनका झलकाव अशुद्ध फटिक मणिका ही है क्योंकि फटिकके सिवाय अन्य क्रान्ति रहित श्वेत काठके टुकड़ेके साथमें हरा डाक लगाने पर भी वह श्वेत काठ हरे रूप परिणमन नहीं करता। ऐसा ही रागद्वेषादिकोंका हाल जानना। क्योंकि मुमुक्षु जीवका कार्य शुद्धात्माके स्वरूपकी प्राप्तिका है अतएव आचार्यने यह शिक्षा दी है कि इन रागादिकोंको अपना स्वभाव न समझके पर स्वरूप समझो और अपने शुद्ध आत्म स्वरूपका अनुभव करो। इसी प्रयत्नसे ही यह आत्मा अपनी शुद्धताको प्राप्त कर सक्ता है। इस तरह यह आठ कर्म द्रव्य पुद्गल ही हैं ऐसा कथन करते हुए गाथा समाप्त हुई ॥ ५१ ॥

अब यहां शिष्य प्रश्न करता है कि जब यह रागादिक अध्यवसान पुद्गलके स्वभाव हैं तब अन्य ग्रंथोंमें किस प्रकार इस जीवको अपने जीवत्वकी अपेक्षा रागी, द्वेषी या मोही कहा गया है इसका उत्तर आचार्य देते हैं:-

गाथाः—ववहारस्स दरीसणमुवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावाः ॥ ५१ ॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारस्य दर्शितं उपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥ ५१ ॥

सामान्यार्थ—यह सर्व रागादि अध्यवसानमई भाव जीव हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रने जो उपदेश वर्णन किया है सो व्यवहारनयसे स्वरूप दिखलाया गया है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(एदे) यह (सव्वे) सब (अज्झवसाणादयो) रागादि अध्यवसानादिक (भावाः) भाव अर्थात् परिणाम (जीवा) जीव स्वरूप हैं या जीव हैं। यह (उवदेसो) उपदेश (जिणवरेहिं) श्री जिनेन्द्र देवोंके द्वारा जो (वण्णिदो) वर्णन किया गया है सो (ववहारस्स) व्यवहारनयका स्वरूप है या व्यवहार नयसे ऐसा (दरीसणं) दिखलाया गया है। यद्यपि यह व्यवहारनय बाह्य द्रव्यको आलंबन करनेवाली होनेसे अभूतार्थ है व असत्यार्थ है तथापि रागद्वेषादि बाह्य द्रव्योंके आलंबन रहित विशुद्ध ज्ञान दर्शनमई स्व-भावके आलंबन सहित जो परमार्थ अर्थात् निश्चय स्वरूप तिसको कथन करनेवाली होनेके हेतुसे इसका दिखलाना उचित होता है। क्योंकि जब व्यवहार नय नहीं मानी जाती है तब शुद्ध निश्चय नयसे त्रस और स्थावर आदि जीवोंके भेद नहीं होसके तब सर्व ही जीव एक स्वरूप

शुद्ध अविनाशी एकान्तसे समझे जायंगे ऐसा मानकर जगतके जन शंका रहित होकर उनका मर्दन अर्थात् नाश करने लगेंगे या चाहे जिसका नाश करेंगे कोई भेद नहीं रहेगा। तथा व्यवहार नय न माननेसे पुण्य रूप धर्मका अभाव हो जायगा एक दूषण तो यह होगा। तथा इसी प्रकार जब पहले यह कहा गया है कि यह जीव शुद्ध नयसे रागद्वेष व मोह रहित है इसी बातको एकान्तसे मान लेनेपर मोक्षके लिये अनुष्ठान अर्थात् यत्न कोई भी नहीं करेगा। जब मोक्षके लिये पुरुषार्थ ही न रहा तब मोक्षका ही अभाव हो जायगा। यह दूसरा दूषण हो जायगा। इस लिये व्यवहारनयका व्याख्यान करना उचित ही है ऐसा अभिप्राय समझना। भावार्थः—शुद्ध निश्चय नयसे इस आत्माका जब शुद्ध ज्ञान दर्शनमई स्वभाव है तब जो, इस बातको अपनी श्रद्धामें नहीं रखता है उसको व्यवहार नयके द्वारा शुद्ध व अशुद्ध सर्व स्वरूप व त्रस स्थावरादिक भेद व पुण्य पापादि कर्मोंसे आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा आदिका स्वरूप समझना पड़ता है। तब वह अपने शुद्ध स्वभावकी प्रतीति कर सक्ता है। अतएव कथंचित व्यवहार नयसे यह रागादिक जीवके हैं ऐसा कहा जाता है क्योंकि जीवके ही अशुद्ध परिणाम हैं। ऐसा जानकर मुमुक्षु जीवको यह उचित है कि इन रागादि भावोंका होना अपनेमें दोष समझकर व इनका करना अपना ही अपराध समझकर इनके त्यागकी भावना करै और शुद्ध स्वरूपके अनुभवमें उपयोग रमावै ॥ ५१ ॥

आगे किस दृष्टान्तसे यह व्यवहार प्रवर्तन करता है सो खुलासा करते हैं:—

गाथाः—राया हु णिग्गदो त्तिय, एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि, तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ५२ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ५३ ॥

संस्कृतार्थः—राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतः राजा ॥ ५२ ॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानां।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥ ५३ ॥

सामान्यार्थ—जैसे राजा प्रगटपने बाहर निकला ऐसा जो सेनाके समूहके विषैं कहा जाता है सो व्यवहार नयसे है परन्तु निश्चयसे वहां राजा अपने आप एक अकेला ही निकला है। इसी प्रकारसे ही रागादि अध्यवसानादिक स्वरूप जो अन्य भाव तिनका कर्ता जीव है ऐसा सूत्रमें व्यवहार नयसे कहा जाता है निश्चयसे तो वहां एक जीव पदार्थ जुदा ही है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(राया) कोई राजा (खु) प्रगटपने (णिग्गदोत्तिय) निकल करके गया (एसो ऐ । (बलसमुदयस्स) हाथी घोड़े आदिकी सेनाके समुदाय विषैं (आदेसो) आदेश अर्थात् वर्णन सो (ववहारेण) व्यवहार नयसे ही कहा जाता है। जैसे मार्गमें जाते हुए सेनाके समूहको देखकर लोग ऐसा कहते हैं कि अमुक राजा अपनी सेनाको पांच योजनमें व्याप्त करके ले गया सो यह कथन व्यवहार नयसे कहा जाता है अर्थात् सेनाको राजा कहना व्यवहार नयसे है निश्चयसे विचार किया जाय तो वहां राजा एक अकेला है। भावार्थ–निश्चयसे राजाके बाहर जानेको ही राजा बाहर निकला ऐसा कह सक्ते हैं। (एमेव य) इसी प्रकारसे (ववहारो) यह व्यवहार है कि (अज्झवसाणादि अण्ण भावाणं) रागादि अध्यवसायको लेकर शुद्ध जीवसे भिन्न सर्व पर्यायोंको (जीवोत्ति कदो) जीवने किया है सुत्ते) ऐसा परमागममें कहा गया है। (णिच्छिदो) शुद्ध निश्चय नयसे (तत्थेको) तिन राग द्वेषादि भावोंके मध्यमें एक अकेला (जीवो) भाव कर्म, द्रव्यकर्म और नो कर्म रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावका धारी जीव पदार्थ ही है। भावार्थ—राजा और सेनाका परस्पर व्यवहार रहनेसे सेनाको जाते देखकर राजा जाता है ऐसा कहनेमें आता है; निश्चयसे विचारा जाय तो सेना और राजा भिन्न २ हैं। राजाको ही राजा रूप कहेंगे। इसी प्रकार जीव और रागादि भावोंका सम्बन्ध होनेके कारण व्यवहारमें यह कहा जाता है कि यह जीव राग द्वेषादि विभाव भावोंका कर्ता है परन्तु शुद्ध निश्चयसे रागादि भावोंका इस आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं है। अतएव उन रागादि भावोंके मध्यमें भी यह शुद्ध जीव पदार्थ भिन्न ही झलकता है जैसे सेनाके समूहमें राजा भिन्न ही प्रकट होता है। ऐसा जानकर राग द्वेषादि भावोंको पर रूप मान छोड़ देना चाहिये और एक शुद्ध आत्म स्वरूपको ही परम उपादेय मान गृहण करना चाहिये।

इस तरह व्यवहार नयको समर्थन करते हुए २ गाथाएं पूर्ण हुईं। तथा अजीवाधिकारके मध्यमें शुद्ध निश्चयनयसे यह देह व रागादि भाव व अन्य पर द्रव्य इस जीवका स्वरूप नहीं हैं ऐसे कथनकी मुख्यता करके १० गाथाओंमें प्रथम अंतराधिकार व्याख्यान किया गया।

आगे वर्ण, रस, गंध आदि जो पुद्गलका स्वरूप है उससे रहित अनंत ज्ञानादि गुणोंके स्वरूपको रखनेवाला यह अपना शुद्ध जीव पदार्थ सो ही उपादेय है इस भावनाकी मुख्यता करके १२ गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। तिनमें १२ गाथाओंके मध्यमें परम सामायिककी भावनामें परणमन करता हुआ अभेद रत्नत्रय लक्षण जो निर्विकल्प समाधि उसकी तल्लीनतासे उत्पन्न हुआ जो परमानंद मई सुखका एक साम्य रसका भाव तिसमें परणमन करता जो शुद्ध जीव सो ही उपादेय है। इस कथनकी मुख्यता करके (अरस मरूव) इत्यादि सूत्र गाथा एक है। आगे अंतरंगमें रागादिक भाव और बहिरंगमें वर्णादिक इस जीवका शुद्ध स्वरूप नहीं है। इस ही गाथा सूत्रका विशेष वर्णन करनेके लिये "जीवस्स णत्थि वण्णो" इत्यादि

सूत्र छः हैं। तिसके पीछे यही रागादिक भाव तथा वर्णादिक व्यवहार करके जीवके हैं परंतु शुद्ध निश्चय नय करके नहीं हैं ऐसे परस्पर अपेक्षा सहित दोनों नयोंका विवरण करनेके लिये " ववहारेण दु " इत्यादि सूत्र एक है। तिसके पीछे इन रागादिक भावोंका व्यवहार नयसे ही जीवके साथ दूध और पानीकी भांति संबंध है परन्तु निश्चयनयसे नहीं है ऐसा समर्थन करते हुए "एदं हियसंबंधो" इत्यादि सूत्र एक है। इसके आगे उस ही व्यवहार नयको फिर भी खुलासा करनेके अर्थ दृष्टान्त दार्ष्टान्तसे समर्थन करते हुए 'पंथे मुस्संतम्' इत्यादि गाथा तीन हैं। इस तरह द्वितीय स्थलमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई ॥ ५२-५३ ॥

अब इस ही का व्याख्यान करते हैं।

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि यदि निश्चयसे रागादिक रूप जीव नहीं है तो फिर किस प्रकार शुद्ध जीव उपादेय स्वरूप है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है सो कहिये, तिसके उत्तरमें श्री आचार्य कहते हैं:—

गाथा:—अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥ ५४ ॥

संस्कृतार्थः—अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥ ५४ ॥

सामान्यार्थ—इस जीवको ऐसा जानो कि यह जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्दसे रहित सूक्ष्म, चेतना गुणका धारी, किसी चिन्हसे नहीं ग्रहण करने योग्य तथा छ संस्थानोंसे रहित है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(अरसमरूवमगंधं) निश्चय नय करके पंच प्रकार रस, ५ प्रकार वर्ण, दो प्रकार गंध तथा आठ प्रकार स्पर्शसे रहित (नोट—गाथामें स्पर्शन न कहनेसे भी अर्थसे लेना योग्य है) (असद्दं) तथा सात प्रकार शब्दसे रहित (अव्वत्तं) मनमें प्राप्त काम क्रोधादि विकल्पोंका विषय न होनेके कारणसे अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म (चेतणागुणं) शुद्ध चैतन्यगुणका धारी (अलिंगग्गहणं) निश्चयनयसे स्वसंवेदन ज्ञानका विषय होनेके कारण किसी पुद्गलीक चिन्हसे नहीं जानने योग्य (अणिद्दिट्ठसंठाणं) समचतुरस्र संस्थान आदि शरीरके छः प्रकारके आकारोंसे रहित (जीवम्) जो शुद्ध जीव पदार्थ है उसको (जाणम्) उपादेय रूप है ऐसा जानो। यहां यह तात्पर्य है कि शुद्ध निश्चय नयसे सर्व पुद्गल द्रव्य संबंधी वर्ण आदि गुण व शब्द आदि पर्याय तिनसे रहित व सर्व द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मनमें रागादि विकल्प इनसे नहीं लखने योग्य, तथा धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य व अपने सिवाय शेष सर्व जीव द्रव्य तिनसे भिन्न और अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंतवीर्य का स्वामी जो कोई है सो ही शुद्ध आत्मा पदार्थ है जो सर्व पदार्थोंमें व सर्व देशमें, कालमें

व ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाना वर्णके भिन्न २ भेदोंमें व मनुष्योंके सर्व मन, वचन, कायके व्यापारोंमें दुर्लभ है अर्थात् अप्राप्य है सो ही अपूर्व है सो ही उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है ऐसा मान कर विकल्प रहित, मोहसे दूर कर्मांजनसे मुक्त जो निज शुद्धात्मा तिसकी समाधिमें लीन रहनेसे उत्पन्न जो सुखामृत रसका अनुभव सो ही है लक्षण जिसका ऐसा जो पर्वतकी गुफाका-गम्भारा उसमें तिष्ठकर उपर्युक्त गुण विशुद्ध शुद्धात्मा सर्व तात्पर्यसे अर्थात् जिस तरह बने ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार सूत्र गाथा पूर्ण हुई। भावार्थ—शुद्ध निश्चय नय ही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि इस नयके ग्रहणमें बंधका अभाव और स्वरूपका अनुभव है अतएव अपने ही जीवको शुद्ध निश्चय नयसे पुद्गलके गुण और पर्यायोंसे रहित, संकल्पविकल्प व विषय कषायके झगड़ोंसे दूर, शुद्ध चैतन्यगुणसमूह तथा अन्य समस्त द्रव्योंसे स्वसत्ताकी अपेक्षा भिन्न और अनंत ज्ञानादि गुणोंका समूह ऐसा विचार कर आत्मिक अनुभव करना योग्य है यही अनुभव परम सुखामृतका स्वाद प्रदान करता है और मुमुक्षु जीवको मोक्षके निकट ले जाता है। अतएव अनेक उपाय करके उसी स्वरूपका ध्यान, मनन, चिन्तवन कर स्वरूप समाधिमें गुप्त होना योग्य है। व्यवहार नयसे बाह्य पर्वतकी गुफाके मध्य भागमें और निश्चयसे स्वात्मानुभवरूपी गुफाके भीतर तिष्ठकर निज सत्तामेंसे निज शुद्धात्मरूपको निज शक्तिके द्वारा निज प्रकाशके अर्थ निजमें ही ध्याना योग्य है। यही षट्कारककी एकता एकानेक स्वरूपको मनन कराकर अनेकान्तकी अनुपम छटाका उद्योत करती है और इस आत्माको परमात्मा बनाती चली जाती है ॥ ५४ ॥

आगे कहते हैं कि बाह्यमें शरीरके वर्णादि और अभ्यंतरमें रागादिक विभाव भाव पुद्गल सम्बन्धी हैं, शुद्ध निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

गाथाः—**जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।**
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संघडणं ॥ ५५ ॥

संस्कृतार्थः—जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥ ५५

सामान्यार्थ—शुद्ध निश्चय करके इस जीवके न तो वर्ण है न गंध है न कोई रस है और न स्पर्श है न रूप है न शरीर है और न संस्थान न कोई संहनन है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवस्स) शुद्ध निश्चयनयसे इस जीवके (वण्णो) श्वेत रक्त आदि पांच वर्ण (णत्थि) नहीं है (णवि गंधो) न दो गंधोंमेंसे कोई गंध है (णवि रसो) न खट्टा मीठा चड़पड़ा आदि पांच रस हैं (णविय फासो) और न ठंडा गरम आदि आठ प्रकार स्पर्श हैं। (णवि रूवं) न कोई स्पर्श रस गंध वर्णवाली मूर्त्ति है (ण सरीरं) न औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माणमेंसे कोई शरीर है (णवि संठाणं) न समचतुरस्र आदि छः संस्था-

नोंमेंसे कोई संस्थान है (ण संघदणं) और न वज्रऋषभ नाराच आदि छः संहननोंमेंसे कोई संहनन है। यह वर्णादिक धर्म स्वभाव सो धर्मी जो शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव उसके नहीं हैं यह साध्यधर्म है। धर्म और धर्मीके समुदायको पक्ष कहते हैं व आस्था, संधा व प्रतिज्ञा कहते है। इस बातके साधनके लिये हेतु यह है कि यह सर्व पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं तथा शुद्धात्मानुभूतिसे भिन्न हैं। यहां इस व्याख्यानमें पक्ष व हेतु रूपमें दो अंगी अनुमान प्रमाण जानना योग्य है। **भावार्थ**—वर्ण रस गंध स्पर्श शरीर संस्थान व संहनन यह सर्व पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं और शुद्धात्म स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं अतः ये स्वभावशुद्ध ज्ञान दर्शक स्वभावधारी आत्माके नहीं हो सक्के। ऐसा भले प्रकार निश्चय करके आत्माको स्वस्व-रूपमय ही ध्याना योग्य है ॥ ५५ ॥

फिर भी कहते हैं।—

गाथाः—**जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।**
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५६ ॥

संस्कृतार्थः—जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥ ५६ ॥

सामान्यार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे इस जीवके न तो राग है, न दोष है और न मोह पाया जाता है, न आश्रवके कारण पंच भाव हैं न द्रव्यकर्म है और न इस जीवके कोई नोकर्म हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जीवस्स) शुद्ध निश्चयसे इस आत्म द्रव्यके (रागो) राग अर्थात् परद्रव्यमें प्रीति सो (णत्थि) नहीं है (णवि) न कोई (दोसो) परद्रव्यमें अप्रीति रूप दोष है (णेव) और न (मोहो) मोह अर्थात् गहलपना (विज्जदे) विद्यमान है (णो पच्चया) और न मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग रूप जो पांच प्रत्यय अर्थात् आश्रवके कारण हैं (ण कम्मं) न ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मोंकी प्रकृतियें व १४८ प्रकार उत्तर प्रकृतियें हैं। (णो कम्मं चावि) और इसी प्रकार औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तीन शरीर तथा आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन इन पर्याप्ति रूप जो नोकर्म वर्गणा सो (से) तिस शुद्ध जीवके (णत्थि) नहीं हैं। यह रागद्वेषादि शुद्ध जीवके नही हैं—कारण कि यह सर्व अवस्थाएं पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं और शुद्धात्माके अनुभवसे भिन्न हैं। **भावार्थ**—द्रव्य कर्म और नोकर्म तो पूर्ण रूपसे पुद्गल स्वरूप हैं ही परन्तु रागद्वेषादिक जो भावकर्म हैं सो भी पुद्गलमई हैं क्योंकि पुद्गलमई जो मोहनी कर्म उसके निमित्तसे ही आत्मामें झलकते हैं। निमित्त छूटने पर शुद्ध आत्माके स्वभावमें इनका रंच मात्र भी उदय नहीं है ऐसा जान सर्व कर्मोंसे रहित आत्माका अनुभव करना योग्य है ॥ ५६ ॥

आगे इसी जीवके स्वरूपको फिर स्पष्ट कहते हैं:—

गाथाः—जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेय फड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणा वा ॥ ५७ ॥

संस्कृतार्थः—जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित्।
नो अध्यवसानानि नैव चानुभागस्थानानि वा॥ ५७ ॥

सामान्यार्थ—इस जीवके न तो वर्ग हैं न वर्गणा हैं और न कोई स्पर्द्धक हैं न रागादि अध्यवसान हैं और न अनुभाग स्थान हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**:—(जीवस्स) शुद्ध निश्चयनयसे इस जीवके (वग्गो) वर्ग (णत्थि) नहीं हैं (ण वग्गणा) न वर्गणाएं हैं (णेय केई फड्डया) और न कोई स्पर्द्धक हैं। परमाणुकी अविभाग परिच्छेदरूप शक्तिके समूहको वर्ग कहते हैं, वर्गके समूहका नाम वर्गणा है, वर्गणाके समूहको स्पर्द्धक कहते हैं अथवा कर्म शक्तिकी क्रमसे विशेष वृद्धिको स्पर्द्धक कहते हैं। इन तीनोंका लक्षण अन्य शास्त्रमें ऐसा कहा है:—श्लोकः—वर्गः शक्तिसमूहोऽणोवहूनां वर्गणोदिता, वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकाऽपहैः। अर्थात् कर्मस्पर्द्धकोंके नाश करनेवालोंने अणुकीशक्ति समूहको वर्ग, वर्गोंके समूहको वर्गणा और वर्गणाके समूहको स्पर्द्धक कहा है। (णो अज्झप्पट्ठाणा) न शुभ व अशुभ रागादि विकल्परूप अध्यवसान हैं (णेवय अणुभागठाणा वा) और न अनुभाग स्थान हैं। फल देते हुए कर्मोंकी रसरूप शक्तिको अनुभाग कहते हैं लता अर्थात् वेल, दारु अर्थात् काठ, अस्थि अर्थात् हड्डी, और पाषाण समान कठोर इस तरह ज्ञानावर्णीय, दर्शनावर्णीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके अनुभाग स्थान कहे गए हैं, अर्थात् प्रत्येकके चार भेद हैं। नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय जो चार अघातिया कर्म हैं उनमें शुभ और अशुभ दो भेद हैं। घातिया कर्म तो सब अशुभ अर्थात् पापरूप ही हैं। अघातियामें पुण्य और पाप रूप दो भेद हैं। तिनमें शुभ अघातिया कर्मोंका अनुभाग स्थान प्रत्येकका गुड़, खांड, शक्कर और अमृतके समान है, तथा अशुभ अघातिया कर्मोंका अनुभाग स्थान प्रत्येक कर्मका नीम, कांजीर, विष, व हलाहल इस तरह अधिक २ कटुक रूप है। शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे विचार किये जानेपर यह कोई भी इस जीवके नहीं हैं, यद्यपि व्यवहारमें इन सबका सम्बन्ध इस जीवके है परन्तु निश्चयसे नहीं है क्योंकि यह सर्व पुद्गल द्रव्यका परिणमन है इससे शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न है। **भावार्थ**—व्यवहारसे कर्म वर्गणाओंका सम्बन्ध इस जीवके साथ होनेसे यह जीव उनके उदयकालमें उनके नानाप्रकारके अनुभागको भोगता है और मोहनीय कर्मके निमित्तसे ही इस जीवमें रागद्वेष क्रोधादि विकल्प होते हैं परंतु जो शुद्ध स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाली शुद्ध नय है उसकी अपेक्षासे इस जीवके स्वरूपका मनन किया जाय तो इसके साथ किसी भी पुद्गल व पुद्गलसम्बन्धी विकारका सम्बन्ध नहीं है यह तो निरंजन निर्विकार स्फटिकमणि समान परमशुद्ध शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य्यका

धारक एक अद्भुत पदार्थ है। अतएव सर्व विकल्प जालोंसे मुंह मोड़, रागरूप फन्दोंको तोड़ निश्चल होकर निज शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव ही करना योग्य है। यही अनुभव निज स्वरूपके विलासका परम उपाय है॥ ९८॥

आगे इसी विषयको स्पष्ट करते हैं:-

गाथाः—**जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंधठाणा वा।**
णेव य उदयट्ठाणा णो मग्गण ट्ठाणया केई॥ ५८॥

संस्कृतार्थः—जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि व बंधस्थानानि वा।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित्॥ ५८॥

सामान्यार्थ—इस शुद्ध जीवके न तो कोई योगस्थान हैं और न बंधस्थान हैं, न उदयस्थान हैं और न कोई मार्गणास्थान हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवस्स) इस शुद्ध जीवके (केई) कोई (जोगट्ठाणा) वीर्यांतरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न तथा मन वचन कायकी वर्गणाके आलंबनसे कर्मोंको ग्रहण करनेमें कारणरूप जो आत्माके प्रदेशोंका परिणमन अर्थात् हलन चलन रूप लक्षणको धारनेवाले जो योगस्थान सो (व) तथा (बंधठाणा वा) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकार बंधस्थान (नत्थि) नहीं हैं। (णे वय) और न (उदयट्ठाणा) सुख दुःखके फलको अनुभव करानेरूप उदय स्थान हैं (णो) और न (केई) कोई (मग्गणट्ठाणया) गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक ऐसे चौदह मार्गणा स्थान हैं। ये सर्व ही स्थान शुद्ध निश्चय नयसे इस जीवके नहीं हैं क्योंकि ये सर्व पुद्गलद्रव्यके परिणाम रूप हैं तथा शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न हैं। **भावार्थ**—जब शुद्ध निश्चय नयसे इस आत्माके स्वरूपका अनुभव किया जाता है तो यही अनुभवमें आता है कि योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान और मार्गणास्थान इस जीवमें नहीं हैं। यह सर्व स्थान पुद्गल कर्मके सम्बन्धसे ही जीवके व्यवहार नयसे कहे जाते हैं॥ ९८॥

आगे फिर भी कहते हैं।

गाथाः—**णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।**
णेय विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा॥ ५९॥

संस्कृतार्थः—नो स्थितिर्बंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा॥ ५९॥

सामान्यार्थः—इस शुद्ध जीवके न तो स्थितिबंधके स्थान हैं, न संक्लेश स्थान हैं, न विशुद्धि स्थान हैं और न संयम लब्धि स्थान हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवस्स) इस शुद्ध आत्माके (णो) न तो (ठिदिबंधट्ठाणा) जीवके साथ किसी काल तक ठहरनेवाले स्थिति

बंधके स्थान हैं। जब कर्मोंका बंध होता है तब उस कर्म बंधमें स्थिति पड़ती है जिसका कारण कषाय है सो उस बंधके कारण कषाय व स्थितिके स्थान ये सर्व ही इस आत्मामें नहीं हैं (ण वा) और न (संकिलेस ठाणा) कषायोंके तीव्र उदयसे पैदा हुए संक्लेशरूप तीव्र आर्त्त रौद्र परिणामके स्थान हैं (णे य) और न (विसोहिठाणा) कषायोंके मंद उदयसे पैदा हुए शुभ परिणामरूप विशुद्धि स्थान हैं (णो) तथा न (संजमलद्धिठाणा) कषायोंकी क्रम क्रमसे हानि होने पर प्राप्त संयम लब्धि स्थान हैं। प्रत्याख्यानावरणी व संज्वलनकी ज्यों २ हानि होती है संयमकी प्राप्ति होने लगती है। इस तरह ये सर्व ही कषायोंके तीव्र व मन्द उदय व हानि सम्बन्धी भाव शुद्ध निश्चय नयसे इस जीवके नहीं हैं क्योंकि यह सर्व ही भाव पुद्गल द्रव्यके परिणमन स्वरूप हैं तथा शुद्धात्माके अनुभवसे भिन्न हैं। भावार्थः—अशुद्ध आत्मामें ही कर्मका बंध होता है, दुःखमई परिणाम अशुभ भाव व सातारूप परिणाम शुभ-भाव व संयमकी प्राप्तिरूप परिणाम वैराग्य मिश्रित रागभाव आदि होते हैं। जब शुद्ध आत्म-स्वरूपका अनुभव किया जाता है तब इन भावोंका कहीं पता नहीं लगता। अत एव सर्व विकल्परूप भावोंको त्याग शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव करना ही कार्य्यकारी है॥ ५९॥

आगे फिर भी कहते हैं:—

गाथाः—णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥ ६०॥

संस्कृतार्थ—नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य।
येन तु एते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः॥ ६०॥

सामान्यार्थः—इस शुद्ध आत्माके न तो जीव समास हैं और न गुणस्थान हैं-ये सर्व ही पुद्गल द्रव्यकी अवस्थाएँ हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवस्स) शुद्धनिश्चय नयसे इस शुद्धात्माके (णे व य) न तो (जीवट्ठाणा) जीव समास स्थान हैं जीवसमास १४ हैं जैसा कि इस गाथामें कहा है:—"बादर सुहमे इंदी बिति चउरिंदी असण्णिसण्णीणं। पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति" अर्थात् बादर एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, द्वेन्द्री, तेन्द्री, चौन्द्री, असैनीपंचेन्द्री, सैनी-पंचेन्द्री यह सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेदसे १४ जीव समास हैं। (णगुणट्ठाणा व अत्थि) और न मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली, ऐसे १४ गुणस्थान हैं। (जेण दु) कारण यह है कि (एदे सव्वे) यह सर्व वर्णको आदि ले गुणस्थानके अंत तक परिणाम शुद्ध निश्चय नयसे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय अर्थात् अवस्थाएं हैं। तथा शुद्धात्माके अनुभवसे भिन्न हैं। यहां यह तात्पर्य्य है कि सिद्धान्तादि शास्त्रोंके विषैं यह कहा गया है कि अशुद्ध पर्यायार्थिक नय करके अंतरंगमें होनेवाले रागादि भाव जीव

हैं व बाह्यमें शरीरके वर्णकी अपेक्षा वर्णादिरूप भी जीव हैं। यहां अध्यात्म शास्त्र विषैं शुद्ध निश्चय नय करके यह सर्व ही पर जनित भाव निषेध किये गए हैं। दोनोंही ग्रन्थोंके विषैं नय विभागकी विवक्षासे कोई विरोध नहीं है। **भावार्थ**—शुद्ध निश्चय नय वस्तुके असली शुद्ध स्वरूपको कहनेवाली है जबकि व्यवहार नय अन्यके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाओंको कहनेवाली है। जैसे अशुद्ध सुवर्णकी डली शुद्ध निश्चयसे शुद्ध सुवर्ण मई है परन्तु व्यवहारमें अशुद्ध है उसी प्रकार शुद्ध निश्चय करके इस आत्मामें कर्मजनित सर्व ही भाव नहीं हैं केवल शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय सिद्ध भगवानके समान निरंजन निर्विकार है। परन्तु अशुद्ध नय करके यह जीव नानाप्रकारकी अवस्थाओंको संसारअवस्थामें धारनेवाला है। प्रयोजन यह है कि मुमुक्षु जीवको इस आत्माकी शुद्ध अवस्थाका अनुभव करके अपने आत्माको शुद्ध करना चाहिये।

इस तरह वर्णादिका आत्मामें अभाव है ऐसा विशेष व्याख्यान करते हुए छः सूत्र पूर्ण हुए ॥ ६० ॥

आगे पहले जो यह कह चुके हैं कि सिद्धान्त ग्रन्थमें यह बात कही है कि व्यवहारनय करके वर्णादिक इस जीवके हैं तथा यहां समय प्राभृत ग्रंथमें कहा है कि वे ही वर्णादिक निश्चय-नयसे निषेधरूप हैं अर्थात् इस जीवके नहीं हैं। इस ही अर्थको दृढ़ करते हैं।—

गाथाः—**ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।**
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानांताभावाः न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥ ६१ ॥

सामान्यार्थ—वर्णसे ले गुणस्थान पर्यंत ये भाव व्यवहारनय करके जीवके कहे जाते हैं परन्तु निश्चयनय करके इनमेंसे कोई भी इस जीवके नहीं हैं।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहारको समर्थन करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ६१ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया, कि निश्चयनय करके इस जीवके वर्णादिक क्यों नहीं है जिसका उत्तर श्रीगुरु देते हैं।

गाथाः—**एदे हिय संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।**
णय हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा ॥६२॥

संस्कृतार्थः—एतैश्च संबंधो यथैव क्षीरोदकं मंतव्यः।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥ ६२ ॥

सामान्यार्थः—इन वर्णादि अवस्थाओंका सम्बन्ध इस जीवसे दूध और जलके समान माननेयोग्य है इसलिये यह वर्णादि इस जीवके नहीं हो सकते क्योंकि यह आत्मा अपने उपयोगमई गुणोंसे परिपूर्ण है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(एदेहिय) इन वर्णोंको आदि

लेकर गुणस्थान पर्यंत पूर्वमें कही हुई पर्यायोंके साथ (सम्बन्धो) सम्बन्ध (खीरोदयं) दूध और जलके मिलान (जहेव) के समान (मुणेदव्वो) मानने योग्य है। अग्नि और उष्णताका जैसा तादात्म्य सम्बन्ध है तैसा सम्बन्ध इन वर्णादिक पर्यायोंका इस जीवके साथ नहीं है कारण कि (ताणिदु) वे वर्णादिसे ले गुणस्थान पर्यंत भाव (तस्स) इस जीवके(ण य होंति) नहीं हैं । शुद्ध निश्चय करके यह सर्व पर्यायें इस जीवकी नहीं हैं (जम्हा) क्योंकि (उव- ओग गुणाधिगो) जैसे उक्त गुणसे परिपूर्ण अग्नि है उसी तरह केवलज्ञान और केवलदर्शन गुणोंसे परिपूर्ण यह आत्मा है । भावार्थ—जब आत्म द्रव्यका वास्तविक स्वरूप अनुभवमें लिया जाता है तो यही प्रगट होता है कि इस आत्माका अभेदरूप सम्बन्ध अपने शुद्ध गु- णोंसे ही है । रागादि व वर्णादि रूप जीवकी अवस्था पुद्गल कर्मोदयके निमित्तसे होती है । यहां शिष्यने शंका की कि वर्णादिक आत्मासे बाह्य शरीरके देख पड़ते हैं इसलिये व्य- वहार नय करके जैसे दूध और जलका संयोग सम्बन्ध है वैसा सम्बन्ध इस जीवके साथ होहु परन्तु अभ्यंतरमें होनेवाले रागादि भावोंका ऐसा संयोग सम्बन्ध नहीं हो सक्ता । इन रागादिकोंका सम्बन्ध इस जीवके साथ अशुद्ध निश्चय करके होना योग्य है । इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है । द्रव्य कर्मोंका बंध जब इस जीवके साथ असद्भूत व्यवहार नय करके कहा जाता है तब इस अपेक्षासे तारतम्य बतलानेके लिये इन रागादिकोंके सम्बन्धको अशुद्ध निश्चय कहते हैं । वास्तवमें तो शुद्ध निश्चयकी अपेक्षासे अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार स्वरूप ही है ऐसा भावार्थ जानना । भावार्थ—शुद्धनयकी अपेक्षासे अशुद्ध सर्व नय व्यवहार नय हैं। शुद्ध नयका विषयभूत आत्मा परम वीतराग ज्ञानानंद स्वरूप है । इस अपेक्षासे रागद्वेषादि बिलकुल भिन्न हैं। इसीलिये दूध और जल जैसे भिन्न २ हैं वैसे यह रागादि भाव और आत्मा भिन्न २ हैं ऐसा कहा गया है अतएव अपने आत्माको परम शुद्ध अनुभव कर निजरसपानमें तृप्त रहना योग्य है। यह भावार्थ है ॥६२॥

यहां शिष्यने शंका की कि ऐसा वर्णादि रहित जीवका स्वरूप माननेसे यह पुरुष कृष्णवर्ण या यह धवलवर्ण है ऐसा जो व्यवहार है उसका विरोध प्राप्त होगा। इस प्रकार पूर्व पक्ष करके व्यवहारका अविरोध दिखलाते हैं ऐसी यह एक पातनिका है। दूसरी पातनिका यह है कि इस ही पूर्वोक्त व्यवहारके विरोधको लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तद्वारा परिहार करते हैं ।

गाथाः—पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो णय पंथो मुस्सदे कोई ॥ ६३ ॥
तह जीवे कम्माणं णो कम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥ ६४ ॥

एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुदिट्ठा।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६५ ॥

संस्कृतार्थः—पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः।
मुष्यते एषः पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥ ६३ ॥
तथा जीवे कर्मणां च नोकर्मणां दृष्ट्वा वर्णं।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥ ६४ ॥
एवं गंधरसस्पर्शे संस्थानादयः ये समुद्दिष्टाः।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयदृष्टारो व्युपदिशंति ॥ ६५ ॥

सामान्यार्थः—मार्गमें लुटते हुए धनवानको देखकर व्यवहारी लोग ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुट रहा है, परन्तु वास्तवमें मार्गरूप आकाश लूटा नहीं जा सक्ता। तैसे ही इस जीवमें कर्म और नोकर्मके वर्णको देखकर व्यवहार नयसे जिनेन्द्रोंने कहा है कि जीवका यह वर्ण है परन्तु निश्चयसे जीवका वर्ण नहीं हो सक्ता इसी प्रकार इस जीवके जो रस, गंध, स्पर्श, संस्थान, आदिक कहे गए हैं वे सर्व व्यवहार नयके अभिप्रायसे हैं ऐसा निश्चयके ज्ञाता कहते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(पंथे) रास्तेमें (मुस्संतं) लुटे जाते हुए धनवानको (पस्सिदूण) देखकरके (ववहारी लोगा) व्यवहारमें प्रवर्तन करनेवाले लोग (भणंति) कहते हैं कि (एसोपंथो) यह मार्ग (मुस्सदि) चोरोंके द्वारा लुट रहा है परन्तु (केई पंथो) कोई शुद्ध आकाश लक्षणको रखनेवाला मार्ग (णय मुस्सदे) नहीं लूटा जा सक्ता किन्तु रास्तेका आधार करके उसमें आधेयभूत ठहरनेवाले मनुष्य लूटे जा रहे हैं। (तह) तैसे ही (जीवे) जीवमें (कम्माणं णोकम्माणं) अष्ट कर्म्म और नो कर्मोंका (वण्णं) शुक्ल आदि वर्ण देखकर (जीवस्स) इस जीवका (एसवण्णो) यह शुक्ल आदि वर्ण है ऐसा (ववहारदो) व्यवहार नयसे (जिणेहि) जिनेन्द्र भगवानने (उत्तो) कहा है। (एवं) इस ही प्रकार (रस गंध फासा संठाणादीय) पांच रस दो गंध आठ स्पर्श छः संस्थान छः संहनन रागद्वेष मोहादिक भाव (जे) जो (समुदिट्ठा) पूर्वमें छः गाथाओंद्वारा कहे गए हैं (सव्वे) वे सर्व ही (व्यवहारस्सय) व्यवहारनयके अभिप्रायसे हैं ऐसा (णिछयदण्हू) निश्चय स्वरूपके जाननेवाले (ववदिसंति) कहते हैं। इस तरह व्यवहारनयसे विरोध नहीं है। **भावार्थ**—पुद्गलकर्मके सम्बन्धके निमित्तसे जो वर्णादि व गुणस्थानादि व रागद्वेषादि भाव इस आत्माके होते हैं ऐसा कहना व्यवहार नयसे यथार्थ है परन्तु निश्चयनय जो वस्तुके असली स्वरूपको वतलानेवाली है उसकी अपेक्षा विचार किया जाय तो यह सर्व ही भाव इस आत्माके नहीं हैं। यह आत्मा तो वास्तवमें परम शुद्ध बुद्ध ज्ञानानंद मई एक स्वभावका ही धारी है अतएव मुमुक्षु जीवको इसी स्वरूपका अनुभव कर अपने आत्माका कल्याण करना इष्ट है।

इसतरह दृष्टान्त और दृष्टान्त द्वारा व्यवहार नयको समर्थन करते हुए तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥ ६३–६४–६५ ॥

इस प्रकार शुद्ध जीव उपादेय है ऐसा प्रतिपादन करनेकी मुख्यता करके १२ गाथाओंमें दूसरा अंतर अधिकार व्याख्यान किया गया। इसके पश्चात् इस जीवके साथ निश्चय नयसे वर्णादिकोंका तादात्म्य संबंध अर्थात् एकमेकपनेका नहीं छूटनेवाला जैसा सम्बन्ध नहीं है इस बातको फिर भी दृढ़ करनेके लिये आठ गाथाओंमें व्याख्यान करते हैं। इनमेंसे पहले ही संसारी जीवका व्यवहार नयसे वर्णादिकोंके साथ तादात्म्य संबंध है। मुक्तावस्थामें नहीं है ऐसा बतलानेके अर्थ 'तत्थभवे' इत्यादि सूत्र एक है। इसके आगे यदि जीवका वर्णादिकोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसा खोटा अभिप्राय रक्खा जावेगा तो इस जीवका ही अभाव हो जायगा ऐसा दोष प्राप्त होगा। इस बातको कहते हुए 'जीवो चेवहि' इत्यादि गाथाएँ तीन हैं। इसके आगे एकेन्द्रिय आदि १४ जीव समासोंका इस जीवके साथ शुद्ध निश्चय नय करके तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है इस बातके कहनेके लिये और वर्णादिकोंके साथ इस जीवका तादात्म्य सबंन्ध निषेध करनेके लिये 'एक्कं च दोण्णि' इत्यादि गाथाएं तीन हैं।

इसके आगे मिथ्यादृष्टि आदि १४ गुणस्थानोंका भी इस जीवके साथ शुद्ध निश्चय करके तादात्म्य सम्बन्ध दूर करनेके लिये और अभ्यंतरमें होनेवाले रागादि भावोंका तादात्म्य सम्बन्ध निषेधकरनेके लिये 'मोहणकम्म' इत्यादि सूत्र एक है। इस तरह आठ गाथाओंके द्वारा तीसरे स्थलमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे इसीका खुलासा व्याख्यान करते हैं:—

शिष्यने प्रश्न किया कि इस जीवका वर्णादिकोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् एकरूप नहीं, छूटनेवाला सम्बन्ध किस प्रकारसे नहीं है सो कहिये, इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं।

गाथाः—तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादओ केई ॥ ६६ ॥

संस्कृतार्थः—तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णादयः केऽपि ॥ ६६ ॥

सामान्यार्थः—इस संसारमें संसारी जीवोंके अशुद्ध नयसे वर्णादिक हैं परन्तु संसार रहित मुक्त जीवोंके यह वर्णादिक नहीं हैं।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(तत्थभवे) इस संसारके किसी भी विवक्षित अविवक्षित भवमें (संसारत्थाणं) चार गतिरूप संसारमें भ्रमण करनेवाले (जीवाणं) जीवोंके (वण्णादी) अशुद्ध नयसे यह वर्णादिक (होंति) होते हैं (दु) परन्तु (संसारपमुक्काणं) संसारसे रहित मुक्त जीवोंके (केई) कोई भी (वण्णादओ) वर्णादिक (णत्थि) नहीं हैं। क्योंकि जैसा तादात्म्य अर्थात् एकमेक सम्बन्ध

पुद्गलके साथ वर्णादिकोंका है वैसा सम्बन्ध इस जीवके साथ वर्णादिकोंका नहीं है अथवा जैसे इस जीवका तादात्म्य सम्बन्ध केवल ज्ञानादि गुण और सिद्धत्व आदि पर्यायोंके साथमें है वैसा तादात्म्य सम्बन्ध इस जीवके साथ वर्णादिकोंका नहीं है अर्थात् अशुद्ध नय करके भी वर्णादिकोंके साथ जीवका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। भावार्थ—निश्चयसे जब इस आत्माके स्वरूपका अनुभव किया जाता है तब इस आत्माके न तो वर्णादि गुण हैं और न पर्याय हैं। अशुद्ध आत्मा कर्म सम्बन्धसे शरीर आदि पर द्रव्योंको ग्रहण करता है तब इसके वर्णादि हैं ऐसा कहनेमें आता है, इसलिये जीवका वर्णादिकोंके साथ छूट जानेवाला संयोग सम्बन्ध है परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जान वर्णादि रहित शुद्ध आत्मतत्त्व ही अनुभव करने योग्य है। इस तरह वर्णादिकोंके साथ जीवका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है ऐसा निरूपण करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ६७ ॥

आगे कहते हैं कि यदि कोई खोटा हठ करे कि इस जीवके साथ वर्णादिकोंका तादात्म्य सम्बन्ध है तो क्या दोष प्राप्त होगा सो दिखलाते हैं।

गाथाः—**जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि।**
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई ॥ ६७ ॥

संस्कृतार्थः—जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कोऽपि ॥ ६७ ॥

सामान्यार्थः—यदि इन सर्व ही भावोंमें जीवको माना जायगा तब इस जीव और अजीवमें कोई भी भेद नहीं रहेगा।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जीवो) यह जीव (चेव हि) ही निश्चयसे (जदिहि) यदि (एदे सव्वे भावत्ति) इन सर्व वर्णादिक भावोंमें (मण्णसे) माना जायगा अर्थात् जैसे अनंतज्ञान अव्याबाध सुख आदि गुण ही जीव हैं तथा वर्णादि गुण ही पुद्गल हैं तैसे ही जीव यदि वर्णादिरूप समझ लिया जायगा (दे) तब (जीवस्साजीवस्सय) विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी जीव और जड़पना आदि लक्षणोंके धारी अजीवमें (विसेसो हि णत्थि) कोई भी निश्चयसे भेद नहीं रहेगा। और तब जीवका ही अभाव प्राप्त होजायगा—यह दूषण आवेगा। भावार्थ—यह वर्णादिसे ले गुणस्थान पर्यंत सर्व ही भाव निश्चयसे इस जीवके नहीं है। यदि इनका तादात्म्य सम्बन्ध इस जीवके साथ माना जायगा तो जीव और अजीव दोनों एक हो जावेंगे। सो यह बड़ा विरोध प्राप्त होगा। ऐसा हो नहीं सक्ता क्योंकि आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभावका धारी है और अजीव जड़पना आदि भावोंका धारी है—जीवमें जड़पना इसीतरह संभव नहीं है जैसे अग्निमें शीतपन या जलमें उष्णपना—ऐसा जान निज आत्माको परम शुद्ध ज्ञानदर्शनमई ही अनुभव करना योग्य है ॥ ६७ ॥

आगे कहते हैं कि यदि कोई ऐसा दुराग्रह यानी हठ या खोटा अभिप्राय करे कि संसार अवस्थामें तो अवश्य इस जीवके साथ वर्णादिकोंका तादात्म्य सम्बन्ध है इसके लिये आचार्य कहते है कि यदि ऐसा मानोगे तो भी जीवका अभाव प्राप्त होजायगा।

गाथाः—जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६८॥
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ॥ ६९ ॥

संस्कृतार्थः—अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥ ६८ ॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥ ६९ ॥

सामान्यार्थ—यदि संसारमें तिष्ठनेवाले जीवोंके तेरे मतसे वर्णादिक हैं तो संसारमें स्थित जीव रूपी हो जायँगे। हे मूढ़मती! ऐसा माननेसे तेरे अभिप्रायसे पुद्गल द्रव्य जीव हो गया। तब निर्वाणको प्राप्त होता हुआ भी पुद्गलको जीवपना प्राप्त हो गया।

शब्दार्थ सहित भावार्थः—(जदि) यदि (संसारत्थाणं) संसारमें स्थित (जीवाणं) जीवोंको (तुज्झ) तेरे एकान्त मतसे (वण्णादी) यह पुद्गल सम्बन्धी वर्णादिक (होंति) होते हैं (तम्हा) तब ऐसा माननेसे यह दूषण होगा कि (संसारत्थाजीवा) यह संसारी जीव (रुवित्तम्) अमूर्त्त अनंत ज्ञानादि चतुष्टय स्वभावको त्यागकर सफेद कृष्णादि लक्षणमई रूपीपनेको (आवण्णा) प्राप्त हो जायँगे। (मूढमदी) हे मूढ़बुद्धी (एवं) इस तरह पूर्वोक्त प्रकार माननेसे कि यह जीव रूपी है (पोग्गल दव्वं) पुद्गल द्रव्य (जीवो) ही जीव (तवलक्खणेण) तेरे अभिप्रायसे हो जायगा। कोई दूसरा विशुद्ध चैतन्यका चमत्कार मात्र जीव न रहेगा। न केवल संसारअवस्थामें ही पुद्गल जीवपनेको प्राप्त हो जायगा तथा चैतन्यमई कोई दूसरा जीव न रहेगा किन्तु (णिव्वाणम्) निर्वाण अवस्थाको (उवगदो वि य) प्राप्त होते हुए भी (पोग्गलो) यह पुद्गल ही (जीवत्तं) जीवरूप (पत्तो) हो जायगा। अन्य कोई चैतन्य स्वरूप जीव न रहेगा। कारण यह कि वर्णादिकोंका तादात्म्य सम्बन्ध पुद्गलद्रव्यके साथ है इस बातका किसी भी प्रकारसे निषेध नहीं किया जा सकता—जब वर्णादि पुद्गलके हुए तब जीवका अभाव हो गया। और तब मोक्षको पानेवाला पुद्गलको कहना पड़ेगा, प्रयोजन यह है कि यदि संसार अवस्थामें एकान्तसे इस जीवके साथ वर्णादिकोंका तादात्म्य सम्बन्ध माना जायगा तो मोक्ष तत्व ही सिद्ध न होगा। क्योंकि मोक्ष उसीका नाम है जहां इस आत्माके केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय जो शक्तिरूप थे सो व्यक्त अर्थात् प्रकाशित हो जावें—मोक्षको

ही कार्य समयसार कहते हैं अर्थात् सिद्ध किया हुआ प्रकट शुद्धात्म स्वरूप कहते हैं। जब इस जीवको पुद्गलपना हो-जायगा तब इसके मोक्षका होना संभव नहीं होगा। भावार्थ—संसार अवस्थामें भी वर्णादिकोंके साथ इस जीवका संयोग सम्बन्ध है न कि तादात्म्य सम्बन्ध। यदि पुद्गलके समान इस जीवका वर्णादिकोंके साथ एकरूप सम्बन्ध माना जायगा तब जीव स्वयं पुद्गल हो जायगा, जब जीवका ही अभाव हुआ तब उसको मोक्षका प्राप्त होना असंभव हो जायगा क्योंकि मोक्ष पर सम्बन्धसे छुटी हुई आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम है। वर्णादि व ज्ञानावरणादिके साथ जब जीवका तादात्म्य सम्बन्ध होगा तब जीव कभी भी इनसे मुक्त नहीं हो सकता। इस कारण यह मानना भूल है कि संसार अवस्थामें भी कभी इस जीवका और वर्णादिका एकमेक सम्बन्ध है, इसलिये मुमुक्षु जीवको देहादि परद्रव्योंसे मोहत्याग अपने शुद्ध ज्ञानादि गुणोंके साथ अपने आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध निश्चय कर निज शुद्ध स्वरूपकी ही भावना करनी योग्य है।

इस प्रकार जीवके साथ वर्णादिकोंका तादात्म्य सम्बन्ध माननेसे इस जीवका अभाव हो जावेगा ऐसा दोष दिखलाते हुए गाथाएं तीन समाप्त हुईं ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

आगे कहते हैं कि वादर व सूक्ष्म एकेन्द्रियको आदि लेकर संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्यंत १४ जीव समास स्थान शुद्ध निश्चय नय करके इस जीवका स्वरूप नहीं है तथा तैसे ही देह सम्बन्धी वर्णादिक भी इस जीवका स्वरूप नहीं है।

गाथाः—**एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।**
वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ७० ॥
एदेहिय णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ७१ ॥

संस्कृतार्थः—एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेंद्रियाणि जीवाः।
वादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥ ७० ॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥ ७१ ॥

सामान्यार्थः—एकेन्द्रिय वादर व सूक्ष्म तथा दो, तीन, चार तथा पंचेन्द्रिय संज्ञी, असंज्ञी जीव पर्याप्त या अपर्याप्त यह सर्व नाम कर्मकी प्रकृतियां हैं। यह जीवोंके स्थान इन्हीं करणरूप पुद्गलमयी प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुए हैं तब इनको जीव कैसे कहा जा सक्ता है ?।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एक्कंच) एकेन्द्रिय वादर और सूक्ष्म (दोण्णि) द्वेन्द्रिय (तिण्णिय)तेन्द्रिय (चत्तारिय) चौइन्द्रिय (पंच इन्दियाजीवा)तथा पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी (वादर) बादर, यह सब सात हुए। यह सात (पज्जत्तिदरा) पर्याप्त और इतर यानी अपर्याप्त यह सर्व

१४ भेद (णामकम्मस्स) नाम कर्म की (पयड़ीओ) प्रकृतियां हैं। (एदाहिय करण भूदाहिं) इन्हीं करणरूप (पोग्गल मईहिं पयड़ीहिं) पुद्गलमई प्रकृतियों करके जो प्रकृतियां अमूर्तिक और अतीन्द्रिय निरंजन परमात्म तत्त्वसे विलक्षण अर्थात् भिन्न लक्षणको रखनेवाली हैं (जीवट्ठाणादु) यह पूर्वोक्त १४ जीवस्थान (णिव्वत्ता) उत्पन्न हुए हैं (ताहिं) तिन स्थानोंको (कह) किस तरह (जीवो) जीव रूप हैं ऐसा (भण्णदे) कहा जावे। जैसे करणरूप चांदी धातुसे बनी हुई म्यान चांदी रूप ही रहेगी भीतर तलवारका सम्बन्ध होनेपर भी बदल नहीं सक्ती तैसे ही पुद्गलमई प्रकृतियोंसे यह जीवस्थान उत्पन्न हुए हैं इसलिये यह जीवस्थान भी पुद्गल स्वरूप ही हैं। जीवस्वरूप नहीं हो सक्ते, इसी प्रकार इन संसारी जीवोंके आश्रित वर्णादिक भी पुद्गल स्वरूप ही रहेंगे। कभी भी जीव स्वरूप नहीं हो सक्ते यह अभिप्राय है। भावार्थ—निश्चय नय करके यह पुद्गल सम्बन्धसे होनेवाले सर्व ही भाव व परिणाम इस आत्माके नहीं हैं। आत्मा शुद्ध निश्चयसे शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख आदि गुणोंका धारी और उन्हीं शुद्ध भावोंका कर्त्ता है अतएव सर्व विकल्पोंसे रहित होकर उसी शुद्ध आत्म स्वरूपका ही ध्यान करना योग्य है ॥ ७० ॥ ७१ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि अन्य ग्रन्थमें पर्याप्त अपर्याप्त वादर और सूक्ष्म जीव कहे गए हैं उनकी सिद्धि किस प्रकार है ऐसा पूर्व पक्ष किये जाने पर आचार्य उत्तर करते हैं:—

गाथा:—**पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।**
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ७२ ॥

संस्कृतार्थः—पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा वादराश्च ये चैव।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥ ७२ ॥

सामान्यार्थः—सूत्रमें व्यवहार नयसे जो पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म वादर जीव कहलाते हैं उनकी देहको जीव संज्ञा कही गई है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जे) जो जीव (पज्जतापज्जता) पर्याप्त और अपर्याप्त (चेव) तैसे ही (सुहमावादरा य) सूक्ष्म और वादर कहे जाते हैं सो इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि (सुत्ते) सूत्र अर्थात् परमागममें (ववहारदो) व्यवहार नयसे (देहस्स) पर्याप्त तथा अपर्याप्त देहको देखकर पर्याप्त अपर्याप्त तथा वादर और सूक्ष्मसे विलक्षण जो परम चैतन्य स्वरूप ज्योति मई शुद्धात्मा उससे भिन्न जो देह तिसको (जीवसन्ना) जीव ऐसी संज्ञा (उत्ता) कही गई है। भावार्थ:— वाह्यमें इन्द्रिय गोचर पुद्गल ही होता है। संसारी जीवोंके साथ द्रव्य कर्मरूप पुद्गलका सम्बन्ध है। उसके निमित्तसे यह जीव आहारक वर्गणाको ग्रहण करता है। ग्रहणके पश्चात् कोई अपर्याप्त ही अवस्थामें प्राणान्त हो जाते हैं अर्थात् अंतर्महूर्त्तके भीतर ही आहारक वर्गणाओंको शरीर इन्द्रिय आदि रूप

परणामवनेकी शक्तिको न पाकर प्राणान्त हो जाते हैं। कोई पर्याप्ति पूर्ण करके पर्याप्त कहलाते हैं। कोई वादर शरीरवाले एकेन्द्रिय आदि वादर व कोई सूक्ष्म शरीरवाले एकेन्द्रिय सूक्ष्म कहलाते हैं। निश्चयसे यह शरीरकी ही अवस्थाएं हैं। जड़ रूप हैं। चेतनरूप नहीं हैं। निश्चयक जीवसे भिन्न हैं। इनको जीवकी कहना केवल व्यवहार नयसे है। अतएव जड़ कृत अवस्थाओंको अपनी न जान उनसे विरक्त रहना ही कार्यकारी है।

इस प्रकार जीवोंके स्थान व जीव स्थानोंके आश्रित जो वर्णादिक सो निश्चयसे इस जीवका स्वरूप नहीं है। ऐसा कथन करते हुए तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ७२ ॥

आगे न केवल बाह्य प्रकट वर्णादिक ही शुद्ध निश्चयसे इस जीवका स्वरूप नहीं है किन्तु इस संसारी जीवके अभ्यंतर होनेवाले मिथ्यात्व आदि गुणस्थानरूप रागद्वेषादि भी इस जीवका स्वरूप नहीं है यह सिद्ध है इसीको कहते हैं:—

गाथाः—**मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।**
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ७३ ॥

संस्कृतार्थः—मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥ ७३ ॥

सामान्यार्थः—मोहनीय कर्मके उदयसे जो यह गुणस्थान कहे गए हैं वे किस प्रकारसे जीव हो सक्ते हैं क्योंकि यह सदा ही अचेतन हैं—शुद्ध चेतनासे भिन्न हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(मोहणकम्मस्सुदयादु) मोह रहित परम चैतन्यके प्रकाशरूप लक्षणको रखनेवाले परमात्मतत्त्वसे प्रतिपक्षरूप अर्थात् विरोधरूप अनादि अविद्यारूपी केलेके कंदरूप सन्तानक्रमसे चला आया जो मोहकर्म उसके उदयके निमित्तसे (जे) जो (इमे गुणट्ठाणा) ये गुणस्थान (वण्णिदा) कहे गए हैं। (गुणसन्ना सा च मोह जोगभवा—अर्थात् मोहकर्म और योगोंके निमित्तसे जो आत्माके भावोंकी अवस्था होती है उसको गुणस्थान कहते हैं। बारह गुणस्थान मोहकर्मकी अपेक्षासे और दो गुणस्थान योगकी अपेक्षासे हैं)। (ते) वे गुणस्थान (किह) कैसे (जीवा) जीवरूप (हवंति) हो सक्ते हैं क्योंकि (जे) वे गुणस्थान (णिच्चम्) नित्य ही (अचेदणा) अचेतन (उत्ता) कहे गए हैं। यद्यपि अशुद्ध निश्चय नय करके यह गुणस्थान चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चय नय करके यह सर्व ही भाव अचेतन हैं। यद्यपि द्रव्यकर्मोंकी अपेक्षासे अभ्यंतरमें होनेवाले रागादिकोंको चेतन हैं ऐसा मानते हैं तव उसकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चयको निश्चय नामसे कहते हैं तथापि शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे यह अशुद्ध निश्चय व्यवहार ही है। यह व्याख्यान निश्चय और व्यवहानयके विचार कालमें सर्व ठिकाने जानना योग्य है। **भावार्थः**—गुणस्थानोंमें जो जीवके परिणाम हैं उनमें निमित्त कारण पुद्गल कर्म हैं अतएव वे भाव इस आत्माके परम शुद्ध पारणामिक भाव नहीं हैं इस-

लिये वे भाव शुद्ध चैतन्य भावोंसे विलक्षण हैं। ऐसा जान इन अवस्थाओंमें मोह न कर परम शुद्ध ज्ञानानंदमय आत्मस्वरूपको ही अपना सत्यार्थरूप जान उसीमें ही तन्मय होना योग्य है, इसीसे ही इस जीवका हित है।

इस तरह अभ्यंतरमें जैसा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान जीवका स्वरूप नहीं है तैसे रागादिक भी शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा कथन करते हुए आठ गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह आठ गाथाओंमें तीसरे अंतर अधिकारका व्याख्यान किया गया॥

यहां शिष्यने शंका की कि रागादिक भाव जीवका स्वरूप नहीं है यह बात जीवाधिकारमें कही जा चुकी है अब यहां अजीवाधिकारमें भी उसी ही बातका वर्णन है इसलिये पुनरुक्त दोष आता है। इसका आचार्य्य समाधान करते हैं कि इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि विस्तार रुचिसे जाननेके इच्छुक शिष्यके लिये नव अधिकारोंकेद्वारा समयसार अर्थात् शुद्धात्माका ही व्याख्यान किया गया है अन्य नहीं, इससे अपनी की हुई प्रतिज्ञाके वचनसे जीवाधिकारमें भी समयसारका व्याख्यान है और यहां अजीवाधिकारमें भी वही याख्यान है। यदि समयसारको त्यागकर अन्य किसीका व्याख्यान किया जाय तो प्रतिज्ञाका भंग हो इससे पुनरुक्त दोष नहीं है। अथवा यह समयसार ग्रंथ शुद्ध आत्माकी भावनारूप ग्रंथ है। जैसे कि समाधिशतक परमात्मप्रकाशादि ग्रंथ हैं। इन ग्रन्थोंमें पुनरुक्तका दोष नहीं होता—जैसे रागी पुरुषोंके लिये शृंगार कथा वारवार रुचिकारी है तैसे वैरागी पुरुषोंके लिये शुद्ध वीतराग आत्माकी कथा परम रुचिकारी है। अथवा जीवाधिकारमें जीवकी मुख्यता है और यहां अजीवाधिकारमें अजीवकी मुख्यता है अथवा वहां सामान्य कथन है और यहां विशेष है अथवा वहां तो कहा है कि रागादिकोंसे भिन्न जीव है ऐसा विधिरूप कथन है। यहां कहा है कि रागादिक जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा निषेधकी मुख्यतासे व्याख्यान है। जैसे एकत्व भावना और अन्यत्त्व भावनामें विधि और निषेध रूप कथन है। इस प्रकार शंकाके पांच समाधान जानना योग्य है। इस प्रकार शुद्धात्मानुभवरूप लक्षणधारी समयसारकी व्याख्यामें तात्पर्य वृत्तिके तीन स्थलोंके समुदायसे ३० गाथाओंके द्वारा अजीवाधिकार समाप्त हुआ। इस प्रकार जीव और अजीव, जीव अजीव अधिकार रूप रंगभूमिमें शृंगार किये हुए पात्रके समान व्यवहार नयसे एकीरूप करके प्रवेश हुए थे सो निश्चयसे शृंगार रहित पात्रके समान अलग २ होकर चले गए॥ ७२॥

तृतीयाधिकार।

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त जीवाजीव अधिकारकी रंगभूमिमें जीव और अजीव दोनों ही यद्यपि शुद्ध निश्चय नय करके कर्ता कर्म भाव रहित हैं तौ भी व्यवहार नयसे कर्ता कर्मके वेषसे शृंगार किये

हुए पात्रके समान प्रवेश करते हैं इस प्रकार कथन दंडकोंको छोड़कर ७८ गाथाओं पर्यंत नव अंतर स्थलोंके द्वारा करते हैं इस तरह पुण्य पापको आदि ले सात पदार्थोंकी पीठिका रूपसे तीसरे अधिकारकी समुदाय पातनिका हुई। आगे 'जो खलु संसारत्थो जीवो' इत्यादि तीन गाथाओंके द्वारा यह कथन है कि पुण्य पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोगके परणमनसे उत्पन्न हुए हैं। शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है। अर्थात् जैसा पंचास्तिकाय प्राभृतमें पहले संक्षेपसे व्याख्यान किया गया है उसीको यहां प्रकट करनेके लिये पुण्य पाप आदि समस्त पदार्थोंकी पीठिकाका समुदाय कथन या अभिप्राय कहा जाता है इस प्रकार दूसरी पातनिका है। अब यहां प्रथम ही "यावण्ण वेदि विसेसं तरं" इत्यादि गाथाको आदि करके पाठ क्रमसे छः गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं तिनमें दो गाथा अज्ञानी जीवकी मुख्यता करके और गाथा चार सज्ञानी जीवकी मुख्यतासे कही जाती हैं। ऐसी प्रथमस्थलमें समुदाव पातनिका है। सो ही आगे कहते हैं कि क्रोधादि आश्रवोंका और शुद्धात्माका जबतक भेद विज्ञानका जानपना इस जीवके नहीं है तब तक यह अज्ञानी है।

गाथाः—**जाव ण वेदि विसेसं तरं तु आदासवाण दोह्णंपि।**
अण्णाणी ताव दु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥ ७४ ॥

संस्कृतार्थः—यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्त्तते जीवः ॥ ७४ ॥

सामान्यार्थ—जब तक यह जीव आत्मा और आश्रव दोनोंके ही विशेष भेदको नहीं जानता है तब तक यह अज्ञानी है और तब ही तक यह क्रोधादि भावोंमें वर्त्तन करता है ॥ ७४ ॥ **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जाव) जब तक (जीवो) यह जीव (आदासवाण) शुद्ध आत्मा और क्रोधादि स्वरूप इन (दोह्णंपि) दोनोंका ही (विसेसंतरंतु) विशेष अन्तर यानी भेद विज्ञान (णवेदि) नहीं जानता है। (तावदु) तब तक (सो) सो जीव (अण्णाणी) अज्ञानी बहिरात्मा है तथा अज्ञानी रहकर (कोधादिसु) क्रोधादि भावों) के विषैं (वट्टदे) वर्त्तन करता है। अर्थात् जैसे मैं ज्ञान स्वरूप हूं ऐसे विचारमें ज्ञानके साथ अभेद करके यह जीव वर्तन करता है तैसे ही क्रोधादि आश्रवसे रहित निर्मल आत्मानुभवरूपी लक्षणको धरनेवाले अपने शुद्ध आत्मिक स्वभावसे भिन्नरूप क्रोधादि भावोंके भीतर भी मैं क्रोधरूप हूं ऐसे विचारमें क्रोध भावके साथ अभेदरूपसे परणमन करता है। **भावार्थ**—ज्ञान इस आत्माका निजरूप है, ज्ञानगुण है आत्मा गुणी है। इन दोनोंकी कभी भिन्नता नहीं हो सकती,—ज्ञानी जीव अपनी श्रद्धापूर्वक यही अनुभव करता है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं ज्ञान मुझसे भिन्न नहीं है। तथा क्रोधादि भावोंके लिये ऐसी बुद्धि रखता है कि वह भाव मेरे शुद्ध ज्ञानस्वरूपसे भिन्न औपाधिक भाव हैं—मुझसे भिन्न लक्षणवाले हैं। अज्ञानी जीवकी यही भूल है कि वह इन क्रोधादि भावोंको भी अपना निजभाव अनुभव करता है। उसको इनकी भिन्नताका श्रद्धान नही होता ॥ ७४ ।

आगे इस प्रकार क्रोधादिकोंके साथ अभेदरूपसे वर्तनकरते हुए क्या फल होता है सो कहते हैं:—

कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७६ ॥

क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥ ७५ ॥

सामान्यार्थः—क्रोधादि भावोंके विषैं वर्त्तन करनेवाले जीवके कर्मोका संचय होता है। इस प्रकार जीवके साथ कर्मोका बंध होता है ऐसा सर्व दर्शी केवली भगवानने कहा है ॥७६॥ शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(कोधादिसु) उत्तम क्षमा आदि स्वरूपधारी परमात्मासे विलक्षण क्रोधादि भावोंके अन्दर (वट्टंतस्स) प्रवर्त्तन करनेवाले (तस्स) इस जीवके (कम्मस्स) परमात्म स्वरूपका आवरण करनेवाले कर्मोका (संचओ) आश्रव अर्थात् आगमन अथवा संचय (होदि) होता है। (जीवस्स) इस जीवके (एवं) इस प्रकार (बंधो) कर्म बंध होता है अर्थात् जैसे शरीर पर धूल उड़ करके आती है पीछे शरीर परके मैल आदि व तैलके सम्बन्ध करके शरीर पर जम जाती है तब शरीरके साथ मलका बंध हो जाता है इसी तरह प्रकृति, स्थिति अनुभाग, प्रदेश लक्षणमय बंध होता है जो कि अपने शुद्धात्माकी प्राप्तिस्वरूप मोक्षसे विलक्षण है। ऐसा (खलु) प्रकट रूपसे (सव्व दरिसीहिं) सर्व दर्शी केवली भगवानने (भणिदो) कहा है। भावार्थ—जैसे रास्तेमें चलनेवाले जीवके नंगे मुखपर धूला आता है और उस पर चिकनईके निमित्तसे जम जाता है। इसी तरह अशुद्ध आत्माकी योगशक्तिके निमित्तसे चहुं ओर भरी हुई कर्मवर्गणाएं आती हैं और कषायकी चिकनईके कारण आत्माके साथ कितने काल तकके लिये बंध जाती हैं। इसी क्रियामें चारों ही प्रकारका बंध हो जाता है। अर्थात् भिन्न २ प्रकारके कर्मोका बंध सो प्रकृति बंध है उनमें स्थिति होना कि अमुक काल तक आत्माकी सत्ता को न त्यागेंगे सो स्थिति बंध है। उनमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्ति होना सो अनुभाग बंध है, कितनी वर्गणाएं किस २ कर्मरूप आकर बंधी इस विभागको प्रदेश बंध कहते हैं। यह बंध शुद्धात्म स्वरूपकी उपलब्धिका विरोधी है। यहां यह अभिप्राय है जब तक यह जीव क्रोधादि आश्रव भावोंसे भिन्न अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे नहीं जानता है तब तक यह जीव अज्ञानी रहता है और अज्ञानी रहता हुआ अज्ञानसे प्रवर्त्तनेवाली जो कर्त्ता कर्मकी प्रवृत्ति उसको नहीं त्यागता है। इस कारण बंधको प्राप्त होता है। बंध होनेसे संसारमें परिभ्रमण करता है। भावार्थ—जिस बंधसे यह जीव मोक्षके विरोधी संसारमें क्लेशित हो नाना प्रकार संताप सहे उस बंधको त्यागने योग्य समझकर उससे व उसके कारणोंसे विरक्त रह अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव करना ही कार्य्यकारी है।

इसतरह अज्ञानी जीवका स्वरूप कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ७५ ॥

आगे प्रश्न करते हैं कि इस जीवके कब कर्त्ता कर्मकी प्रवृत्तिसे छुटकारा होगा। जिसके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं:-

गाथाः—जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥ ७६ ॥

संस्कृतार्थः—यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥ ७६ ॥

सामान्यार्थ—जब इस जीवके द्वारा आत्मा और आश्रवोंका भेदज्ञान जाना जाता है तब इस जीवके कर्म बंध नहीं होता। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जइया) जिसवक्त अर्थात् परम धर्मकी प्राप्तिके कालमें (इमेण जीवेण) इस प्रत्यक्षी भूत जीव करके (अप्पणो) शुद्ध आत्मस्वरूपका (तहेव) तथा (आसवाणय) क्रोधादि आश्रव भावोंका (विसेसंतरंतु) विशेष अंतर अर्थात् भेदविज्ञान (णादंहोदि) जाना जाता है (तइया) तिस वक्त यह जीव सम्यग्ज्ञानी हो जाता है। सम्यग्ज्ञानी होकर इस कर्ता और कर्मकी प्रवृत्तिको त्यागता है। तब कर्त्ता कर्मकी प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेपर और विकल्प रहित समाधिके लाभ होनेपर (से) इस जीवके(णबंधो) कर्मका बंध नहीं होता है भावार्थः—बंध राग व द्वेष सहित मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे होता है जहां विकल्प रहित समाधि है वहां वीतरागता है। जहां वीतरागता है वहां कर्मका बंध नहीं है ॥ ७६ ॥

आगे शिष्य यह पूर्व पक्ष करता है कि ज्ञान मात्र हीसे बंधका निरोध कैसे होता है। इसका उत्तर आचार्य इस भांति कहते हैं।

गाथाः—णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७७॥

संस्कृतार्थः—ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७७ ॥

सामान्यार्थः—क्रोधादि आश्रव भावोंका अशुचिपना, विपरीतपना तथा दुःखोंके उत्पन्न करनेके लिये कारणपना जान करके यह सम्यग्ज्ञानी जीव इन सबसे छुटकारा करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ :—(आसवाणं) क्रोधादि आश्रव सम्बन्धी (असुचित्तं) कलुपता अर्थात् मलीनपना,(विपरीय भावं) उनका शुद्धआत्माकी चेतनासे विपरीतपना-जडपना (च)और (दुक्खकस्स कारणंतिय) वे आकुलता लक्षण मयदुःखके उत्पन्न करनेवाले हैं (णादूण) ऐसा जान करके तैसे ही अपनी आत्मा सम्बन्धी निर्मल आत्मानुभव रूपी शुचिपना, स्वभावसे ही शुद्ध अखंड केवलज्ञान रूप ज्ञातापना, तथा अनाकुलता लक्षणमय अनंत सुखपना पहचान करके (तदो) फिर स्वसंवेदन ज्ञानके अनंतर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनोंकी एकाग्र परिणति

रूप सामायिक भावमें स्थिर होकर (जीवो) यह जीव क्रोधादि आश्रवोंकी निवृत्ति करता है अर्थात् उनको दूर कर देता है। इसतरह ज्ञान मात्र भाव हीसे कर्मबंधका निरोध हो जाता है। ऐसा होनेपर यहां सांख्यादि मतोंका प्रवेश नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा और आश्रव सम्बन्धी भेदविज्ञान है वह रागादि आश्रव भावोंसे निवृत्ति रूप है या नहीं। यदि निवृत्ति रूप है तब अवश्य उस भेदज्ञानके मध्यमें पानक यानी सरबतके समान अभेद नयसे वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व प्राप्त होते हैं। इसतरह सम्यग्ज्ञानसे ही बंधका निरोध होता है यह बात सिद्ध है। यदि कहो कि यह भेदज्ञान रागादि भावोंसे निवृत्त रूप नहीं है तब तो वह भेदज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप ही नहीं है ऐसा जानना। भावार्थ—जैसे सरबतमें तीन या चार वस्तु मिली होती हैं तब ही वह सरबत या पानक कहलाता है उसीतरह भेदविज्ञानमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र गर्भित हैं बिना इनके वीतराग भावरूप दृढ़ श्रद्धा युक्त यथार्थ ज्ञान अर्थात भेदविज्ञान नहीं हो सक्ता और जब भावोंमें वीतरागता है तब अवश्य कर्मोंका बंध नहीं होगा इस अपेक्षासे यह बात कहनी युक्त हो सक्ती है कि ज्ञान मात्र हीसे बंध रुक जाता है। परंतु अन्य मतोंके समान इसका यह मतलब नहीं है कि केवल जान लेने हीसे बंध रुक जायगा—जब तक ज्ञानके साथ राग और द्वेष हैं तब तक बंध अवश्य होय हीगा ऐसा जान रागद्वेषादि भावोंको त्याग निज आत्मज्ञानमें लीन होना योग्य है ॥ ७७ ॥

आगे कहते हैं कि किस प्रकारकी भावना करके यह आत्मा क्रोधादि भावोंसे छूट जाता है।

गाथाः—**अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।**
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७८ ॥

संस्कृतार्थः—अहमेकः खलु शुद्धश्च निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥ ७८ ॥

सामान्यार्थ—मैं निश्चयसे एक हूं, शुद्ध हूं, ममत्व रहित हूं, ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूं। मैं अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित होता हुआ व उसीमें तन्मयी होता हुआ इन सर्व ही काम क्रोधादि आश्रव भावोंको नाश करता हूं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(अहं) निश्चय नयसे स्वसंवेदन ज्ञानसे प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योति स्वरूप जो मैं सो (एक्को) अनादि अनंत टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव रूप होनेसे एक हूं। तथा (खलु) स्फुट रूपसे (सुद्धोय) कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण इन षटकारकोंके विकल्प चक्रसे रहित होनेके कारणसे शुद्ध हूं, (णिम्ममो) मोह रहित शुद्ध आत्मतत्वसे विलक्षण मोहके उदयसे उत्पन्न क्रोधादि कषाय चक्रका स्वामीपना न होनेके कारण ममत्व रहित हूं तथा (णाणदंसणसमग्गो) प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान और दर्शनसे परिपूर्ण हूं। इस प्रकार गुणोंसे विशिष्ट पदार्थ मैं हूं सो मैं (तंमि) तिस शुद्ध आत्म स्वरूपमें (ठिदो) स्थित होता हुआ (तच्चितो) व

तिस ही स्वरूपमें सहज आनंद मई एक लक्षणको रखनेवाले सुख मई समता रसके साथ तन्मयी होता हुआ (एदे सव्वे) आश्रव रहित परमात्म पदार्थसे भिन्न इन सर्व काम क्रोधादि आश्रव भावोंको (खयं णेमि) विनाश करता हूं। भावार्थ-इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना करनेसे काम क्रोधादि भावोंका बल घटता है और शुद्ध आत्म भाव प्रकट होता है। अतएव सर्व विकल्पोंसे रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूपकी ही भावना दृढ़ मन होकर करनी योग्य है ॥ ७८ ॥

आगे दिखलाते हैं कि जिस समयमें स्वसंवेदन ज्ञान होता है तिस ही समयमें रागादि आश्रवोंसे निवृत्ति होती है-इन दोनों कार्योंका समान काल है।

गाथाः—जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णियत्तदे तेसु ॥ ७९ ॥

संस्कृतार्थः—जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफलानि च ज्ञात्वा निवर्त्तते तेभ्यः ॥ ७९ ॥

सामान्यार्थ—जीवके साथ बंधरूप यह क्रोधादि आश्रवभाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं तथा अशरणरूप हैं तथा दुःखरूप और दुःखमई फलके कारण हैं ऐसा जान करके ज्ञानी जीव इन भावोंसे अपनेको हटाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(एदे) यह ऊपर कहे हुए क्रोधादि आश्रव (जीव णिबद्धा) इस जीवके साथ सम्बन्धरूप औपाधिक भाव हैं। उपाधि रहित स्फटिकके समान शुद्ध जीवके स्वभाव नहीं है। (अधुवा) बिजलीके चमत्कारके समान अध्रुव अर्थात् अत्यन्त ही क्षणिक हैं परंतु शुद्ध जीव ध्रुव है तथा यह क्रोधादिभाव (अणिच्चा) शीतज्वर तथा उष्णज्वरके आवेश अर्थात् प्रकोपके समान अध्रुवपनेकी अपेक्षासे क्रमसे स्थिरताको प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् जैसे कभी शीतज्वर व कभी उष्णज्वर होता है क्रम २ से बार २ होसकते हैं ऐसे ही यह भाव अनित्य अर्थात् विनाशिक हैं। परन्तु नित्य चैतन्यका चमत्कार मात्र एक शुद्ध जीव है (तहा) तथा (असरणा य) यह क्रोधादि भाव अशरण हैं अर्थात् तीव्र काम वेदनाके प्रकोपको जैसे बचाया नहीं जासकता ऐसे इनके प्रकोपको रोकना कठिन है। शरणरूप अर्थात् परम रक्षाकरनेवाला विकार रहित ज्ञानस्वरूप तो एक शुद्ध जीवही है। और (दुक्खा) यह काम क्रोधादि आश्रव दुःखरूप हैं अर्थात् आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं परंतु अनाकुलतामय लक्षण स्वरूप होनेके कारण पारमार्थिक सुखरूप तो एक शुद्ध जीव ही है तथा (दुक्ख फलाणिय) आगामी नारकादि दुःखमय फलोंके कारण हैं इसलिये दुःख फलस्वरूप हैं। वास्तवमें सुख मई फलस्वरूप शुद्ध जीव ही है। (णादूण) ऐसा जान करके (तेसु) तिन आश्रव भावोंसे ज्ञानी जीव (णियत्तदे) छूटता है। भेद विज्ञान होते ही यह जीव जिस क्षणमें इन मिथ्यात्व रागद्वेषादि आश्रव भावोंको त्याग करके आश्रवोंसे इसतरह

छूट जाता है जैसे मेघ पटल रहित सूर्य मेघोंके आच्छादनसे छूट जाता है तिस ही क्षणमें यह जीव ज्ञानी होता है। इसलिये भेद ज्ञानके होनेका और आश्रवसे निवृत्त होनेका एक समान कालपना सिद्ध है। भावार्थ—जिस समय आश्रवमई भावोंसे आत्माका परिणाम हटता है उसी समय यह जीव वीतरागता सहित सम्यग्ज्ञानका अनुभव करता है। अतएव क्रोधादि भावोंका त्याग करके निज स्वरूपको उपादेय मान उसीमें तन्मयी होना कार्यकारी है।

यहां शिष्यने शंका की कि आपने पहले प्रतिज्ञा की है कि हम पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी पीठिकाका व्याख्यान करेंगे परंतु यहां व्याख्यानमें सम्यग्ज्ञानी और अज्ञानी जीवका स्वरूप मुख्यतासे कहा गया तब यहां सप्त पदार्थोंकी पीठिकाका व्याख्यान कैसे सिद्ध होता है। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि जीव और अजीव यदि नित्य एकांतपने अपरिणामी होवें तब तो दो ही पदार्थ जीव और अजीव रहेंगे कारण कि किसीका भी परिणमन न होगा तब वे दोनों कूटस्थ पड़े रहेंगे। यदि एकान्त करके परिणामी होवें अर्थात् परस्पर परणमन करते हुए तन्मयी होजावें तब तो एक ही पदार्थ रहेगा। सो ऐसा नहीं है। किन्तु कथंचित् परिणामी हैं। कथंचित्का यह अर्थ है कि यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय करके अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है तथापि व्यवहार करके कर्मोंके उदयके वससे रागद्वेषादि उपाधिमई परिणामको ग्रहण करता है। यद्यपि रागद्वेषादि उपाधिमई परिणामको ग्रहण करता है तथापि अपने स्वरूपको नहीं त्यागता है जैसे स्फटिक पत्थर रंगविरंगी डाक आदिसे मिलने पर औपाधिक दीखता है तथापि अपने निर्मल स्वरूपको नहीं त्यागता है। इसप्रकार कथंचित् परिणामी होनेपर अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीव विषय कषाय रूप अशुभोपयोगमई परिणामको करता है कदाचित् यही अज्ञानी जीव चिदानंद स्वरूप एक शुद्धात्म भावको त्यागकर आगामी भोगोंकी इच्छा स्वरूप निदान भावके साथमें शुभोपयोगरूप परिणामको करता है अर्थात् दान पूजा आदिके भाव करता है। जिस समय यह अज्ञानी जीव इन शुभ व अशुभ भावोंको करता है उस समय इस जीवमें द्रव्य और भावरूप पुण्य, पाप, आश्रव और बंध पदार्थोंका कर्तापना सिद्ध होता है। इनमें जो भाव स्वरूप पुण्य, पाप आश्रव व पुण्य, पाप बंध हैं वे तो इस जीवके परिणाम हैं और जो द्रव्य कर्मरूप पुण्य, पाप आश्रव और बंध हैं वे अजीव अर्थात् जड़ पुद्गल कर्म्म वर्गणाके परिणाम हैं। इस तरह आश्रव और बंध पदार्थकी सिद्धि हुई। तथा जो सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा ज्ञानी जीव है सो मुख्यतासे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगके बलसे निश्चय चारित्रके साथ अविनाभावसे होनेवाला अर्थात् अवश्य होनेवाला जो वीतराग सम्यग्दर्शन तिसका धारी होकर विकल्प रहित समाधिरूप परिणाम अर्थात परिणतिको करता है तब उस उस परिणामके द्वारा द्रव्य और भावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थोंका कर्ता होता है। किसी समय जब उस सम्यग्दृष्टी

जीवको निर्विकल्प समाधि भावकी प्राप्ति नहीं होती है तब विषय कषायोंको हटानेके वास्ते व शुद्धात्मभावनाका साधन करनेके लिये त्यागरूप बुद्धि करके अपनी प्रसिद्धि, पूजा व लाभ व भोगोंकी इच्छारूप निदान बंधसे रहित होता हुआ शुद्धात्माके लक्षणको धारनेवाले श्री अरहंत और सिद्ध भगवान तथा शुद्धात्माके आराधन करनेवाले तथा शुद्धात्माके प्रतिपादन करने और साधन करनेवाले श्री आचार्य्य, उपाध्याय और साधुओंका गुण स्मरण आदि शुभोपयोग परिणामको करता है अर्थात् सम्यग्दृष्टी जीव केवल निजात्मानुभवरूप शुद्धात्म-भावनाको ही हृदयसे चाह कर करता है परन्तु जब अपने भाव शुद्धस्वरूपके अनुभवमें स्थिर रखनेको असमर्थ होता है तब लाचारीसे उसी भावनाकी प्राप्तिकी वांछा करके उसी भावनाके ऊपर पहुंचानेवाले अरहंत, सिद्ध, आचार्य्य, उपाध्याय, और साधुओंकी भक्ति करता है। पंच पर-मेष्टीकी पूजा आदि किसी संसारिक विषयवासनाके अर्थ नहीं करता है। इसी अर्थकी सिद्धिके लिये दृष्टान्त कहते हैं—कि जैसे कोई देवदत्त नामका पुरुष अपनी परदेशमें गई हुई स्त्रीके निमित्तसे अपनी स्त्रीके पाससे आए हुए पुरुषोंका सन्मान करता है, उनसे अपनी स्त्रीकी बात पूछता है तथा उनको स्वीकार करता है अर्थात् अपना मानता है उनसे स्नेह करता है तथा उनको दानादिक करता है। तैसे ही सम्यग्दृष्टी जीव भी शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त शुद्धात्माके आराधक, प्रतिपादक आचार्य्य उपाध्याय और साधुओंके गुणोंका स्मरण तथा उनको दानादिक स्वयं ही शुद्ध आत्माकी आराधनासे रहित होकर करता है। इस तरह अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीवका स्वरूप व्याख्यान करते हुए पुण्य तथा पाप आदि सात पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोगरूप परिणामके द्वारा उत्पन्न होते हैं। इस तरह पीठिकाका व्याख्यान सिद्ध होता है कोई विरोध नहीं है। इस तरह सम्यग्ज्ञानी जीवके व्याख्यानकी मुख्यता करके चार सूत्र पूर्ण हुए।

इस तरह पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंके पीठिकाके अधिकारमें छः गाथाओंसे पहले अंतर अधिकारका व्याख्यान किया गया। इसके पीछे यथाक्रमसे ग्यारह गाथाओं तक फिर भी सम्यग्ज्ञानी जीवका विशेष व्याख्यान करते हैं। तहां इन ११ गाथाओंके मध्यमें 'कम्मस्सय परिणामं' इत्यादि प्रथम गाथा है जिसमें यह कथन है कि यह जीव जैसे मिट्टी कलशको उपादान रूपसे करती है इस तरह निश्चयसे द्रव्य कर्म्म तथा नोकर्म्मको नहीं करता है ऐसा जानता हुआ जो कोई अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा अनुभव करता है वही ज्ञानी होता है। इसके पीछे यह जीव पुण्य पाप आदि परिणामोंको व्यवहारसे करता है निश्चयसे नहीं करता है इस बातकी मुख्यता करके 'कत्ता आदा' इत्यादि सूत्र एक है। आगे परिणामी स्वरूपपना ही कर्म्म पना है ऐसा तथा सुख दुःख आदि कर्मोंका फल है ऐसा आत्मा जानता हुआ भी उदयमें प्राप्त परद्रव्यको नहीं करता है ऐसा प्रतिपादन करते हुए 'णावपरिणमदि' इत्यादि गाथाएं तीन हैं। तिसके पीछे पुद्गल ही

वर्णादिक रूप अपने परिणामका कर्ता है जीवके ज्ञानादिरूप परिणामका कर्त्ता नहीं है ऐसा कथन करते हुए (णवि परिणमदि) इत्यादि सूत्र एक है। इस पीछे जीव और पुद्गलमें एक दूसरेके साथ निमित्त कर्त्तापना होते हुए भी परस्पर इन दोनोंमें उपादान कर्त्तापना नहीं है इस कथनकी मुख्यता करके 'जीव परिणाम' इत्यादि गाथा तीन हैं। इसके आगे निश्चयसे इस जीवका अपने परिणामों ही के साथ कर्ता कर्म तथा भोक्ता भोग्य भाव है ऐसा कहते हुए 'णिछय णयस्स' इत्यादि सूत्र एक है। इसके पीछे व्यवहार करके यह जीव पुद्गल कर्मोंका कर्त्ता तथा भोक्ता है ऐसा कथन करते हुए 'ववहारस्सदु' इत्यादि सूत्र एक है। इस प्रकार ज्ञानी जीव के विशेष व्याख्यानकी मुख्यता करके ११ गाथाओंके द्वारा दूसरे स्थलमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई ॥ ७९ ॥

अब इसीका व्याख्यान करते हैं—

प्रथम ही इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि यह आत्मज्ञानी होता हुआ किस प्रकार अपने लक्ष्यमें आता है अर्थात् पहचाना जाता है।

गाथा:—**कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्सय तहेव परिणामं।**
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

संस्कृतार्थः—कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ८० ॥

सामान्यार्थः—यह आत्मा न तो द्रव्य कर्म सम्बन्धी परिणामको और न नोकर्म सम्बन्धी परिणामको करता है। ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(आदा) यह आत्मा (कम्मस्सय परिणामं) द्रव्य कर्म अर्थात् ज्ञानावरणादिकोंके परिणमनको (तहेव) तैसे ही (णोकम्मस्सय परिणामं) नोकर्म अर्थात् शरीरादिकोंके परिणमनको (णकरेदि) नहीं करता है जैसे मिट्टी कलशको उपादानरूपसे करती है तैसे पुद्गलके उपादान कारणसे होते हुए द्रव्य कर्म तथा नोकर्मके परिणामको यह आत्मा निश्चयसे नहीं करता है (एदम्) ऐसा (जो) जो कोई (जाणदि) जानता है (सो णाणी) सो ज्ञानी (हवदि) होता है। अर्थात् वह सम्यक्ती जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको परमसमाधिके बलसे भावता हुआ ज्ञानी होता है। भावार्थ—ज्ञानी आत्माका यही लक्षण है, जो अपने शुद्धआत्मस्वरूपकी भावना करै। द्रव्य कर्म व नोकर्मोंके नाना प्रकारके परिणामोंको अपने स्वरूपसे भिन्न अनुभव करै॥ जिस किसी जीवके अंतरंगकी ऐसी दशा हो जाय वही ज्ञानी है ऐसा जानना। ऐसे ज्ञानी जीवका लक्षण करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ८० ॥

आगे कहते हैं कि यह आत्मा पुण्य पाप आदि परिणामोंको व्यवहार नयसे करता है:—

गाथा:—**कत्ता आदा भणिदो णय कत्ता केण सो उवाएण।**
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८१॥

संस्कृतार्थः—कर्त्ता आत्मा भणितः न च कर्त्ता केन स उपायेन।
धर्मादीन् परिणामान् यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ८१ ॥

सामान्यार्थ—व्यवहार नयसे आत्मा पुण्यपापादि भावोंका कर्त्ता कहा गया है परन्तु सो आत्मा किसी भी उपायसे निश्चयनयसे इनका कर्त्ता नहीं है परंतु जो धर्म आदि भावोंको जाननेवाला है वही ज्ञानी आत्मा है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(आदा) आत्मा (धम्मादी परिणामे) पुण्यपाप आदि कर्मोंसे होनेवाले औपाधिक भावोंका (कत्ता) करनेवाला (भणिदो) व्यवहार नयसे कहा गया है (सो) परंतु सो आत्मा (केण उवाएण) किसी भी उपायसे (णय कत्ता) निश्चयनयकी अपेक्षा इन रागादि भावोंका कर्त्ता नहीं है। (जो जाणदि) जो कोई अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ आदि समस्त रागद्वेष विकल्पमई उपाधिसे रहित निज शुद्धात्माकी समाधिमें तिष्ठकर (जाणदि) इनका स्वरूप जानता है (सो णाणी हवदि) सो ज्ञानी होता है। भावार्थ—अशुद्ध दशामें यह आत्मा कषायोंमें परिणमन करता हुआ नाना प्रकार शुभ तथा अशुभ कार्योंका करनेवाला होता है सो सर्व व्यवहार है। इस कारण व्यवहार नयसे कर्त्ता है परंतु यदि निश्चयनयसे इस आत्माका वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो यह आत्मा इन सर्व कषायमई भावोंका कर्त्ता नहीं है किन्तु ज्ञाताद्रष्टा ही है। ज्ञानी आत्मा वही है जो इन सर्व भावोंको अपने शुद्ध परिणमनसे भिन्न जानता हुआ उदासीन रहता है परंतु अपने आत्मानुभवरूपी कार्यमें अति सावधान रहता हैं। इस प्रकार निश्चयनयसे अकर्त्ता और व्यवहारनयसे कर्त्ता है ऐसा कहते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ८१ ॥

आगे कहते है कि पुद्गल कर्मोंको जानते हुए इस जीवका पुद्गलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

गाथाः—**णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।**
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८२ ॥

संस्कृतार्थः—नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधं ॥ ८२ ॥

सामान्यार्थः—ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्गल कर्म्मोंको जानता हुआ भी परद्रव्यकी अवस्थारूप न तो परिणमन करता है। न उसे ग्रहण करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(अणेय विहं) अनेक प्रकार (पोग्गल कम्मं) कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलमई उपादान कारणोंसे किये हुए जो मूल व उत्तर प्रकृतिरूप पुद्गलकर्म उनको (जाणंतो विहु) भिन्न २ सब तरहसे अपने श्रेष्ठ भेदज्ञानके द्वारा स्फुटरूपसे जानता हुआ भी (णाणी) स्वाभाविक आनंदमई एक स्वभावमय अपना शुद्धात्मा तथा रागद्वेषादि आश्रव इन दोनोंके भेदको अनुभव करनेवाला ज्ञानी जीव (पर दव्वपज्जाए) पर द्रव्यकी पर्यायरूप अर्थात् कर्मरूप जैसे मिट्टी कलशरूपसे परणमन करती है इस तरह (णवि परिणमदि) नहीं

परिणमन करता है (ण गिण्हदि) न तिसरूप तद्रात्म्य पनेसे ग्रहण करता है (णउप्पज्जदि) और न पुद्गलमई आकार रूप उत्पन्न होता है क्योंकि जैसे मिट्टीका कलशके साथ तादात्म्य संबंध है ऐसा सम्बन्ध इस जीवका पुद्गल कर्मोंके साथ नहीं है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि पुद्गल कर्मोंको जानते हुए भी इस जीवका पुद्गल कर्मोंके साथ निश्चय नयसे कर्ताकर्मभाव नहीं है। भावार्थ—हरएक द्रव्य अपने ही स्वरूप रूप परिणमन करता है, व अपनी ही अवस्थाको गृहण करता है व अपने रूप ही उत्पन्न होता है अतएव ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मका मूल कारण पुद्गल ही है। ऐसे ही रागद्वेषादि भाव कर्मोंका यद्यपि निमित्त कारण पुद्गल द्रव्य है तथापि मूल कारण कर्म सहित आत्मा है क्योंकि शुद्धात्माके यह भाव नहीं होते। अतएव ज्ञानी जीव इन सर्व प्रकारके पुद्गलके सम्बन्धसे होते हुए भावोंको व पुद्गलकी अनेक अवस्थाओंको भले प्रकार अपने स्वरूपसे भिन्न जानता है। जानकर पुद्गल कर्मोंकी अवस्थाओंके साथ अपना निजका सम्बन्ध नहीं मानता हुआ उनसे उदासीन रहता है परन्तु अपने स्वभावमई शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूपमें तन्मय रहनेका उद्यम करता हुआ सदा ही स्वाधीन सुखरूप तिष्ठकर अपने आत्मानुभवकी सुन्दर विभूतिका विलास करता है॥ ८२॥

आगे दिखलाते हैं कि अपने संकल्प विकल्प जालरूप परिणामको जानते हुए इस जीवका उन परिणामोंके निमित्तसे उदयमें आए हुए कर्मोंके साथ तादात्म्य संबंध नहीं है।

गाथाः—णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाये।
णाणी जाणंतो विहु सगपरिणामं अणेय विहं ॥ ८३॥

संस्कृतार्थः—नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥ ८३॥

सामान्यार्थः—ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकारके परिणामोंको स्फुटरूपसे जानता हुआ भी परद्रव्यकी अवस्थारूप न परिणमन करता है, न परद्रव्यकी अवस्थाको गृहण करता है और न परद्रव्यकी पर्यायरूप उत्पन्न होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(णाणी) विकारोंसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानी जीव (अणेय विहं) अनेक प्रकारके (सग परिणामं) कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न संकल्प विकल्परूप अपने उन परिणामोंको जो उसने अपने ही उपादान कारणसे किये हैं (हु जाणंतो वि) अपने परमात्म स्वरूपके विशेष भेदज्ञानके बलसे प्रकटरूप जानता हुआ भी (णावि परदव्व पज्जाए परिणमदि) शुद्ध निश्चय नयसे उस पुद्गल कर्मकी पर्यायरूप नहीं परिणमन करता है जिसके उदयमें आनेके निमित्तसे अपने ही संकल्प विकल्परूप परिणाम हुए हैं। जैसे मिट्टी स्वयं कलशरूप होजाती है। इसतरह यह आत्मा पुद्गलकी अवस्थारूप नहीं परिणमन करता, (ण गिह्णदि) न तन्मई होकर उस पर्यायको गृहण करता है (ण उप्पज्जदि) और न पुद्गलकी पर्यायरूप उत्पन्न होता है क्योंकि जैसे मिट्टीका कलशके साथ उपादान कारणपना है वैसा उपादान कारण इस आत्माका

पुद्गल कर्मके साथ परस्पर नहीं है। अर्थात् इस कथनसे यह बतलाया गया कि अपने ही क्षयोपशम सम्बन्धी भावोंके निमित्त कारण यह उदयमें आए हुए पुद्गल कर्म्म हैं ऐसा जानता हुआ भी इस ज्ञानी जीवका उस पुद्गल कर्म्मके साथ निश्चयसे कर्ता कर्म भाव नहीं है। न जीव उनका कर्त्ता है और न वे जीवके कर्म्म हैं दोनों अत्यन्त ही भिन्न पदार्थ हैं। **भावार्थ**—यद्यपि उदयमें आए हुए नाना प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंके कारण इस जीवके नाना प्रकारके संकल्प विकल्प रूप, व रागद्वेष रूप व अहंकार ममकाररूप परिणाम होते हैं तो भी इन परिणामोंका उपादान कर्ता जीव है वैसे ही जो पुद्गल कर्म्म उदयमें आए हैं उनका भी उपादान कारण पुद्गल है, जीव और पुद्गलमें अपना २ परिणमन होता है। इनके परिणमनमें एक दूसरेके लिए निमित्त कारण है। जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है वैसे पुद्गलकी अवस्थाका उपादान कारण पुद्गल है जीव नहीं है ऐसा जाननेवाला ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मके साथ शुद्ध निश्चय नयसे अपना कर्त्ता कर्म भाव नहीं जोड़ता ॥ ८३ ॥

आगे कहते है कि पुद्गल कर्मोंके फलोंको जानते हुए इस जीवका पुद्गल कर्मोंके फलके निमित्तसे द्रव्यकर्मोंके साथ निश्चयसे कर्ता कर्म भाव नहीं है।

गाथाः—**णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।**
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ८४ ॥

संस्कृतार्थ—नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतं ॥ ८४ ॥

सामान्यार्थः—ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मोंके अनंत सुख दुःख रूप फलोंको जानता हुआ भी पुद्गल कर्मकी पर्यायरूप न तो परिणमन करता है, न उसे गृहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(णाणी) वीतराग शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो सुखमई अमृत रस उसमें तृप्त हुआ भेद ज्ञानी आत्मा (पुगल कम्मफलं) उदयमें आए हुए द्रव्य कर्मरूप उपादान कारणसे किये हुए सुख दुःख रूप फलको (अणंतं) जो कि शक्ति अपेक्षा अनंत हैं (हुजाणंतो वि) अपने निर्मल विवेकरूपी भेद ज्ञानके द्वारा स्पष्टपने जानता हुआ भी (णवि परिणमदि) वर्त्तमान सुख दुःख रूप शुद्ध निश्चय नयसे नहीं परिणमनकरता है, अर्थात् शक्ति रूपसे उदयमें आई हुई पर पर्याय रूप अर्थात् पुद्गल कर्म रूप जैसे मिट्टी कलश रूप परणमती है वैसे नहीं परणमता है (णा गिण्हदि) न तन्मई होकर पुद्गलकी अवस्थाको गृहण करता है और (उप्पज्जादिण पर दव्वपज्जाए) न पर द्रव्यकी पर्याय रूप उत्पन्न होता है। इसका कारण यह है कि जैसे मिट्टीका कलशके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसा सम्बन्ध इस आत्माका उस द्रव्य कर्मके साथ नहीं है। इसका विशेष यह है कि यदि पुद्गल कर्म रूपसे यह आत्मा नहीं परिणमन करता है, न उसे ग्रहण

करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है तब फिर यह आत्मा करता क्या है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य करते हैं कि यह ज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्म स्वरूपको ऐसा जान कर ध्यान करता है कि यह शुद्धात्मा मिथ्या दर्शन, पंचेन्द्रियोंके २७ विषय, २५ कषाय, अपनी प्रसिद्धि, व पूजा व लाभ व भोगोंकी इच्छा रूप निदान बंध आदि विभाव भावोंके कर्तापने और भोक्तापनेके विकल्पोंसे शून्य है तथा पूर्ण भरे हुए कलशकी तरह अपने चिदानन्द मई एक स्वभावसे भले प्रकार भरा हुआ है। ऐसे अपने शुद्ध स्वरूपको ज्ञानी जीव निर्विकल्प अर्थात् संकल्प विकल्पोंसे वर्जित आत्म समाधिमें तिष्ठ कर ध्याता है। भावार्थ—ज्ञानी जीव जैसे अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको जानता है वैसे पुद्गल द्रव्यसे की गई अनेक अवस्थाओंको भी जानता है। जो सुख दुःख रूप फल जगतमें होता है उसका कारण उदयमें आया हुआ द्रव्य कर्म है ऐसा जानता है। तथा जैसे द्रव्य कर्म भिन्न हैं वैसे उसके कार्य सुख व दुःखको भी अपनेसे भिन्न जानता है। अपने आत्मिक स्वभावमें भरे हुए अतीन्द्रिय सुखसे इन इन्द्रिय जनित सुखोंका भले प्रकार भेद जानता हुआ इन इन्द्रिय जनित सुखोंमें लवलीन नहीं होता है किन्तु सम्पूर्ण राग द्वेषादि विभाव भावोंसे दूर निरंजन, निर्विकार चिदानन्द स्वरूप अपने शुद्धात्माको ही विकल्प रहित निश्चल आत्मसमाधिरूपी गुफामें तिष्ठकर ध्यान करता है और इस ध्यानके फलसे अपनी शुद्धताको बढ़ाता चला जाता है। ज्ञानी वही है जो जानकर इस प्रमाण आचरण करे। जिसने अपने अमृतमई स्वभावको जाना है वह उसको त्यागकर अन्य रूपमें कैसे रमण कर सक्ता है?।

इस प्रकार यह आत्मा निश्चय करके द्रव्य कर्मादि पर द्रव्य स्वरूप नहीं परिणमन करता है। इस व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाएं पूर्ण हुई॥ ८४ ॥

आगे कहते हैं कि यह पुद्गल द्रव्य जड़ स्वभाव रूप होनेके कारणसे न तो जीवके परिणामको, न अपने पुद्गलमई परिणामको और न अपने पुद्गलमई परिणामके फलको जानता है इस कारण इस पुद्गलका निश्चयसे इस जीवके साथ कर्त्ता कर्म भाव नहीं है।

गाथाः—**णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए।**
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ॥ ८५ ॥

संस्कृतार्थः—नापि परिणमति न गृण्हात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायेण।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ ८५ ॥

सामान्यार्थ—तैसे ही यह पुद्गल द्रव्य भी पर द्रव्यकी पर्याय रूप नहीं परिणमन करता है, न अपने सिवाय परद्रव्यको गृहण करता है और न परद्रव्यकी अवस्थारूप उत्पन्न होता है किन्तु अपने ही पुद्गलमई भावोंमें ही परिणमन करता है। शब्दार्थ सहित **विशेषार्थः**—(तहा) जैसे जीव द्रव्य निश्चयसे अपने अनंत ज्ञान सुख आदि स्वरूपको

छोड़कर पुद्गल द्रव्य रूपसे नहीं परिणमन करता है, न तन्मई होकर पुद्गल द्रव्यको गृहण करता है और न पुद्गलकी अवस्था रूपसे उत्पन्न होता है उसी प्रकारसे (पोग्गलदव्वंपि) पुद्गल द्रव्य भी (परदव्व पज्जाए) जैसे स्वयं अंतर्व्यापक होकर मिट्टी कलश रूपसे परिणमन करती है उस रूपसे चिदानंद एक लक्षणमय जीवके स्वरूप रूप नहीं परिणमन करता है। (ण गिह्णदि) न जीवके स्वरूपको तन्मई होकर गृहण करता है। (ण उप्पज्जदि) और न जीवकी अवस्था रूप उत्पन्न होता है। किन्तु (सएहिं भावेहिं) अपने ही वर्णादि स्वभावरूप, परिणामरूप, गुणरूप, अथवा धर्मरूप (परिणमदि) परिणमन करता है क्योंकि जैसे मिट्टीका कलशके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध इस जीवके साथ पुद्गलका नहीं है। **भावार्थ**—जैसे जीव निश्चयसे पुद्गलकी किसी अवस्था रूप नहीं होता है वैसे ही पुद्गल भी जीवरूप नहीं होता। क्योंकि हरएक द्रव्यका परिणमन अपने ही गुणोंमें होता है। एक द्रव्य कभी भी अन्य गुण रूप व अन्य पर्याय रूप नहीं होता—ऐसा जान पुद्गलके परिणामोंसे अपने आत्माके परिणामोंको भिन्न जान अपने शुद्ध आत्म स्वरूपमें ही परिणमन करना योग्य है।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीवके साथ नहीं परिणमन करता है इत्यादि व्याख्यानकी मुख्यता करके गाथा पूर्ण हुई ॥ ८९ ॥

आगे यद्यपि जीव और पुदगलके परिणामोंके होनेमें हरएक दूसरेको निमित्त कारण है तथापि निश्चय नय करके इन दोनोंमे कर्ता कर्म भाव नहीं है ऐसा तीन गाथाओंसे कहते हैं:—

गाथाः—**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।**
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ ८६ ॥

संस्कृतार्थः—जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥ ८६ ॥

सामान्यार्थ—जीवके परिणामोंके कारण पुद्गल द्रव्यकर्मरूप परिणमन करते हैं वैसे ही पुद्गलकर्मोंका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जीव परिणाम हेदुं) जैसे कुंभकारके निमित्तसे मिट्टी घटरूपसे परिणमन करती है तैसे ही जीव संबंधी मिथ्यात्व व रागद्वेषादि परिणामोंका निमित्त प्राप्त कर (पोग्गला) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य (कम्मत्तं) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप (परिणमंति) परिणमन करते हैं। (तहेव) तैसे ही (पोग्गलकम्म णिमित्तं) जैसे घटका निमित्त पाकर मैं इस तरह घट बनाऊं इस भावरूप कुम्हार परिणमन करता है वैसे उदयमें आए हुए पूर्वबद्ध द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर (जीवो) जीव भी अपनी विकार रहित चैतन्यकी चमत्कार परिणतिको न अनुभव करता हुआ मिथ्यात्व व रागद्वेषादि विभाव परिणामरूप परिणमन करता है ॥ ८६ ॥

गाथा:—**णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।**
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥ ८७॥

संस्कृतार्थः—नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८७ ॥

सामान्यार्थः—न तो जीव द्रव्यकर्म्मके पुद्गलमई गुणोंको करता है और न पुद्गलकर्म्म जीवके गुणोंको करता है हरएक दूसरेके निमित्तसे ही दोनोंके भीतर परिणमन होता है ऐसा जानो। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जीवो) यह जीव यद्यपि परस्पर निमित्तरूप करके परिणमन करता है तथापि निश्चयनय करके (कम्म गुणे) वर्णादि स्वरूप पुद्गलकर्मके गुणोंको (णवि-कुव्वदि) नहीं करता है (तहेव) तैसे ही (कम्मं) पुद्गल द्रव्यकर्म्म (जीवगुणे) अनंतज्ञानादि जीव गुणोंको नहीं करता है। यद्यपि उपादानरूपसे एक दूसरेको नहीं करता है तथापि (अण्णोण्ण णिमित्तेण दु) एक दूसरेके लिये निमित्तरूप होनेसे (दोण्हंपि) जीव और पुद्गल दोनोंके ही (परिणामं) परिणाम होते हैं ऐसा (जाण) जानो। जैसे घट और कुंभकारमें परस्पर निमित्त नैमित्तिकपना है तैसा जीव और पुद्गलका जानना योग्य है ॥ ८७ ॥

गाथा:—**एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।**
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥

संस्कृतार्थः—एतेन कारणेन तु कर्त्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्त्ता सर्वभावानां ॥ ८८ ॥

सामान्यार्थः—इस कारणसे ही यह आत्मा अपने ही भावोंका कर्त्ता है किन्तु पुद्गल कर्मसे किये हुए सर्व भावोंका कर्त्ता नहीं है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(एदेण कारणेणदु) इस कारणसे ही अर्थात् जैसा पहले दो सूत्रोंमें व्याख्यान किया गया है (आदा) यह आत्मा (सएण भावेण) अपने ही भावोंका (कत्ता) करनेवाला है। निर्मल आत्माका अनुभव स्वरूप लक्षणको रखनेवाले परिणामसे अर्थात् शुद्ध उपादान कारणसे यह आत्मा अव्याबाध और अनंत सुख आदि शुद्ध भावोंका कर्त्ता है और इससे विलक्षण अशुद्ध उपादान कारणसे रागद्वेषादि अशुद्ध भावोंका कर्ता है जैसे मिट्टी कलशकी कर्ता है ऐसे जीव अपने अशुद्ध या शुद्ध भावोंका कर्ता है। (पोग्गल कम्मकदाणं) पुद्गल कर्मसे किये हुए (सव्वभावाणं) सर्व भावोंका अर्थात् ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मकी पर्यायोंका (णदुकत्ता) कर्ता नहीं है। **भावार्थ**—उपादान कारण की अपेक्षा यह आत्मा पुद्गल कर्मकी किसी अवस्थाका कर्ता नहीं है क्योंकि यह पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है। परंतु यह अपने भावोंका आप करनेवाला है। जब शुद्ध उपादान कारणको लिया जाय तब यह अपने शुद्ध भावोंका कर्ता है और जब अशुद्ध उपादानको

लिया जाय तब यह अपने रागादि अशुद्ध भावोंका कर्ता है। इस तरह जीव और पुद्गलमें परस्पर निमित्त कारणपना है इस व्याख्यानकी मुख्यता करके तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥ ८८ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि निश्चयनय करके इस जीवका अपने ही परिणामोंके साथ कर्त्ता कर्म भाव और भोक्ता भोग्यभाव है। सो ही कहते हैं:—

गाथाः—णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८९ ॥

संस्कृतार्थः—निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥ ८९ ॥

सामान्यार्थ—निश्चयनयसे यही है कि आत्मा अपने आत्मस्वरूपको करता है तथा अपने ही आत्मस्वरूपको अनुभव करता है ऐसा जानो। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—जैसे लहरोंके होनेमें यद्यपि पवन निमित्त कारण हैं तथापि निश्चयनयसे समुद्र ही अपनी कल्लोलोंको करता है अर्थात् लहररूप परिणमन करता है इसी प्रकारसे यद्यपि ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंका उदयका होना अशुद्ध भावका और उनके उदयका न होना शुद्ध भावका निमित्त है तथापि (णिच्छय णयस्स एवं) निश्चयनयसे यह है कि (आदा) आत्मा (अप्पाणमेव हि) अपने आत्मस्वरूपको ही (करेदि) करता है अर्थात् विकार रहित परम स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करता हुआ आत्मा अपने केवलज्ञानादि शुद्ध भावोंका उपादान रूपसे कर्ता है तैसे ही अशुद्ध ज्ञानमें परणमनेवाला आत्मा सांसारिक सुख और दुःख आदि अशुद्ध भावोंको उपादान रूपसे करता है। यहां अपने परिणाम याने भावोंका परिणमना ही कर्तापना है ऐसा जानना योग्य है। आत्मामें परिणतिका होना ही क्रिया है। तथा (पुणो) पुनः (अत्ता दु) आत्मा ही (तंचेव अत्ताणं) तिस ही आत्माको (वेदयदि) अनुभवता है अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनासे उत्पन्न सुख रूप जो शुद्ध उपादान उसकी अपेक्षासे अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको भोगता है तथा अशुद्ध उपादानके द्वारा अपने अशुद्ध आत्मस्वरूपको अनुभव करता है, भोगता है या उस रूप परिणमन करता है ऐसा (जाण) जानो। **भावार्थ**—निश्चयसे यह आत्मा अपने ही भावोंका कर्त्ता और भोगता है। किसी भी पुद्गलमई परभावका कर्ता व भोक्ता नहीं है।

इस तरह निश्चय नयसे कर्ता और भोक्ता पनेका व्याख्यान करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ८९ ॥

आगे लोक व्यवहारको दिखलाते हैं:—

गाथाः—ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ९० ॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
सचैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ॥ ९० ॥

सामान्यार्थः—व्यवहारनयका यह अभिप्राय है कि यह आत्मा अनेक प्रकार पुद्गल कर्मोंको करता है तैसे ही अनेक पुद्गल कर्मोंको भोगता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—जैसे लोकमें घटका उपादान कारण मिट्टीका पिंड है तथापि कुम्हार घड़ेको बनाता है तथा वह उस घड़ेका फल जल भरना व मूल्य आदि पाना भोगता है ऐसा कहा जाता है यह लोगोंकी अनादि कालसे रूढ़ि है अर्थात् व्यवहार है। तैसे ही यद्यपि कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मोंका उपादान कारण है तथापि (ववहारस्सदु) व्यवहारनयके अभिप्रायसे यह कहनेमें आता है कि (आदा) यह आत्मा (अणेय विहं) मूल व उत्तर प्रकृतिरूप अनेक प्रकार पुद्गल कर्मोंको (करेदि) करता है। तैसे ही (तं चेवय) तिस ही (अणेय विहं पुग्गलकम्मं) अनेक प्रकार पुद्गल कर्मको इष्ट तथा अनिष्ट पंचेन्द्रियोंके विषयरूपसे (वेदयदे) अनुभव करता है—यह अनादिकालकी रूढ़ि अर्थात् व्यवहार उन अज्ञानी जीवोंका है जिनको विषयोंसे रहित तथा शुद्धात्माके अनुभवसे प्राप्त सुखामृत रसके आस्वादका लाभ नहीं है। **भावार्थः**- व्यवहारमें निमित्त कर्ताको भी कर्ता करके पुकारते हैं इसी कारण पुद्गल सम्बन्धी कर्मोंका कर्तापना और भोक्तापना जीवको कहनेमें आता है। निश्चयसे तो यह अपने भावोंका ही कर्ता है। प्रयोजन यह है कि शुद्ध निश्चयनयसे यह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावका कर्ता और आत्मिक आनन्दका भोक्ता है यही विचार इस आत्माके राग और द्वेषको हटानेवाला है अतएव अन्य विकल्पोंको त्याग एक शुद्ध आत्मस्वरूप की ही भावना कार्यकारी है। इसतरह व्यवहारनयसे इस जीवको सुख और दुःखका कर्तापना और भोक्तापना मुख्यतासे कहते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ ९० ॥

इस तरह ज्ञानी जीवका विशेष व्याख्यान करते हुए ग्यारह गाथाओंके द्वारा दूसरा अंतर अधिकार व्याख्यान किया गया। इसके पश्चात् २५ गाथा पर्यंत द्विक्रियावादीका खंडन करते हुए व्याख्यान करते हैं:—

जो चेतन और अचेतन दोनोंका एक उपादान कर्ता कहते हैं उनको द्विक्रियावादी कहते हैं। इसका संक्षेपसे व्याख्यान करते हुए "जदि पुग्गल कम्ममिणं" इत्यादि दो गाथाएं हैं तिनका विवरण १२ गाथाओंमें है जिनमें 'पोग्गल कम्म निमित्तं' इत्यादि क्रमसे प्रथम छः स्वतंत्र गाथाएं हैं तिसके बाद अज्ञानी और ज्ञानी जीवके कर्ता और अकर्तापनेकी मुख्यतासे कहते हुए "परमप्पाणं कुव्वदि" इत्यादि दूसरी छः गाथाएं हैं। इसके पीछे उस ही द्विक्रियावादीका फिर भी विशेष व्याख्यान करनेके लिये संकोच रूपसे ग्यारह गाथाएं हैं। तिन ११ गाथाओंके मध्यमें व्यवहार नयकी मुख्यता करके 'ववहारस्सदु'

इत्यादि गाथाएं तीन हैं। इसके बाद निश्चय नयकी मुख्यतासे 'जों पुग्गलदव्वाणं' इत्यादि सूत्र ४ हैं। इसके पीछे द्रव्य कर्मोंका उपचारसे जीव कर्ता है इस मुख्यतासे "जीवंहिहेदुभूदे" इत्यादि सूत्र चार हैं। इस तरह समुदाय करके २९ गाथाओंके द्वारा तीसरे स्थलमें समुदाय पातनिका कही। अब उसीका वर्णन करते हैं।

पहले जो पुद्गल कर्मका कर्तापना और भोक्तापना नय विभाग द्वारा कहा गया है सो अनेकांत नयसे यथार्थ है तो भी द्विक्रियावादी एकान्त नयसे ऐसा मानता है कि यह जीव भावकर्म रागद्वेषादि को जैसे करता है वैसे निश्चयसे द्रव्य कर्मोंको भी करता है। इस तरह चेतन और अचेतन कार्योंका एक उपादान कारण है ऐसा द्विक्रियावादीका मानना है। ऐसे द्विक्रियावादियोंको दूषण देते हैं।

गाथाः—जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावादितं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥ ९१ ॥

संस्कृतार्थः—यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियावादित्वं प्रसजति सम्यक् जिनावमतं ॥ ९१ ॥

सामान्यार्थः—यदि यह आत्मा इस पुद्गल कर्मके उदयको उपादान रूपसे करता है और उसीको उपादान रूपसे अनुभव करता है तब द्विक्रियावादीपना प्राप्त हो जायगा ऐसा भले प्रकार जिनेन्द्रका मत है ॥ ९१ ॥ शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (आदा) आत्मा (इणं) इस (पोग्गलकम्मम्) पुद्गल कर्मके उदयको (कुव्वदि) उपादान रूपसे करता है (तंचेव) और तिसको ही (वेदयदि) उपादान रूपसे अनुभव करता है तब (दोकिरियावादित्तं) द्विक्रियावादीपना (पसजदि) प्राप्त हो जायगा अर्थात् चेतनरूप और अचेतनरूप क्रियाका एक ही उपादान कारण सिद्ध हो जायगा अथवा पाठांतरसे (दो किरिया बदिरित्तो पसजदि सो) चेतन और अचेतन दोनोंकी क्रियाओंसे अव्यतिरिक्त अर्थात् अभिन्न याने एक रूप यह पुरुष प्राप्त होजायगा (सम्मं) यह बात भले प्रकार (जिणावमदं) जिनेन्द्रोंको सम्मत है। जो इस द्विक्रियावादीपनेको मानता है वह मनुष्य निश्चय सम्यक्तको नहीं प्राप्त करता हुआ मिथ्यादृष्टि रहता है। अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिको निश्चय सम्यत्व कहते हैं—यह सम्यत्व विकार रहित चैतन्यके चमत्कार मात्र लक्षणको रखनेवाला है तथा शुद्ध उपादान कारण जो शुद्ध आत्म स्वरूप उससे उत्पन्न होता है। भावार्थ—एक उपादान कारणसे जो दो भिन्न २ क्रियाओंको मानता है उसे द्विक्रियावादी कहते हैं। जीव और पुद्गल दो भिन्न २ पदार्थ हैं। इस कारण दोनोंकी क्रियाएं भिन्न २ रूप हैं। जैसे मिट्टी मिट्टीके घड़ेकी कर्ता है व सुवर्ण सुवर्णके कुंडलको कर्ता है ऐसे ही जीव अपने चेतन स्वभावका कर्ता है और पुद्गल जड़ अचेतन स्वभावका कर्ता है। क्योंकि उपादान

कारणके समान ही कार्य होता है। यथार्थ बात तो यह है। इस बातको जो न मानकर ऐसा मान लेवे कि यह जीव जैसे चेतन भावका कर्ता है वैसे पुद्गलसे होनेवाले नाना प्रकार अचेतन स्वभावोंका भी कर्ता है तब एक जीव उपादानसे दो भिन्न २ उपादान स्वरूप कार्य मान लिये गये—यही मानना द्विक्रियावादीपना है सो सर्वथा विरुद्ध है। जो ऐसा मानता है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि कैसे होता है इसका उत्तर देते हुए तिस ही पहले कहे हुए अर्थको अन्य प्रकारसे दृढ़ करते हैं।

गाथाः—जह्मा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति ॥ ९२ ॥

संस्कृतार्थः—यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंते।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥ ९२ ॥

सामान्यार्थ—क्योंकि यह ऐसा मानते हैं कि ये आत्माएं आत्माके भावोंके साथ २ पुद्गलके भावको भी करते हैं इस कारणसे ही द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जम्हा दु) क्योंकि यह आत्माएं (अत्तभावं) आत्माके चेतनरूप भावको (च) और (पोग्गलभावं) पुद्गलके अचेतनमय ,जड़ स्वरूपको (दो वि) दोनोंको भी (कुव्वंति) उपादानरूपसे करते हैं (तेणदु) इस कारणसे ही (दो किरियावादिणो) द्विक्रियावादी अर्थात् चेतन और अचेतन दो क्रियाओंको एक उपादान कारणसे कहनेवाले पुरुष (मिछादिट्ठी) मिथ्यादृष्टी (होंति) होते हैं। जैसे कुम्हार अपने ही भावको उपादान रूपसे करता है ऐसे ही यदि घड़ेको भी उपादान रूपसे कर ले तब कुम्हारको अचेतनपना यानी घटरूपपना प्राप्त होजायगा अथवा घड़ेको चेतन रूपपना या कुम्हारपना प्राप्त होजायगा। तैसे ही जीव भी यदि उपादान रूपसे पुद्गल द्रव्यकर्मोंको करने लगे तो जीवको अचेतनपना या पुद्गलद्रव्यपना प्राप्त हो जायगा अथवा पुद्गलमई द्रव्यकर्मोंको चैतन्य रूपपना या जीवपना प्राप्त हो जायगा। प्रयोजन यह है कि शुभ या अशुभ कर्मोंको मैं करता हूं ऐसा महा अहंकाररूपी अंधकार मिथ्याज्ञानी जीवोंका कभी नहीं नष्ट होता है। तब किन जीवोंका नष्ट होता है ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि जो जीव पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुखानुभवके आनन्दसे रहित और वीतराग स्वसंवेदनमई निश्चय नयसे अपने एक स्वरूपमें लव-लीन चिदानंदमई एक स्वभावमय शुद्ध परमात्म द्रव्यमें तिष्ठे हुए हैं उन्हीं सम्यग्ज्ञानी जीवोंका ही मिथ्या अज्ञान समस्त शुभाशुभ परभावोंसे शून्य निर्विकल्प समाधि लक्षणको धरनेवाले शुद्धोपयोगकी भावनाके बलसे विलय अर्थात विनाशको प्राप्त हो जाता है। उस महा अहंकार रूप विकल्प जालके नष्ट हो जानेपर फिर कर्मका बंध नहीं होता है। ऐसा जानकर बाह्य

द्रव्योंके सम्बन्धमें मैं ऐसा करूं मैं ऐसा न करूं इस तरहके खोटे हठको त्यागकर रागद्वेषादि विकल्प जालोंसे शून्य, पूर्ण भरे हुए कलसकी तरह चिदानंदमई एक स्वभावसे भरपूर अपने ही परमात्मस्वरूपके भीतर निरन्तर भावना करनी योग्य है। भावार्थ—जो एक जीवकी चेतनमई और अचेतनमई दो प्रकारकी भिन्न २ क्रियाएं उपादान रूपसे मानते हैं वे द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं। उनके हृदयसे यह अज्ञान कि यह जीव पर पदार्थको तन्मय होकर करता है कभी भी नष्ट नहीं होता है। उनके चित्तमें सदा ही यह अहंकार रहता है कि मैं अमुकका भला करता हूं व अमुकका बुरा करता हूं। इस अहंकारके आधीन होकर वे कभी भी शुद्धोपयोगकी भावनाको नहीं प्राप्त कर सकें। और इसी लिये स्वस्वरूप समाधिके भीतर नहीं ठहर सकें तब बंधसे कभी मुक्त नहीं हो सकें। ऐसा जानकर इस मिथ्याज्ञानको छोड़ देना चाहिये और शुद्ध उपादान स्वरूप निश्चयनयके द्वारा यह आत्मा अपने शुद्ध भावोंका ही करता है कभी पुद्गलका कर्ता नहीं होता। ऐसा अनुभव करके अपने स्वरूपकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिये, क्योंकि इसी भावनाके बलसे परम अतीन्द्रिय सुखका लाभ होता है और कर्मबंधका नाश करके यह जीव मुक्तिको प्राप्त कर सक्ता है। इसतरह द्विक्रियावादीका संक्षेपसे व्याख्यानकी मुख्यता करके दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ९२ ॥

अब द्विक्रिया वादीको समझाते हुए विशेष व्याख्यान करते हैं।

गाथा:—**पोग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।**
पोग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥ ९३ ॥

संस्कृतार्थः—पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ॥ ९३ ॥

सामान्यार्थ—उदयमें आए हुए द्रव्य पुद्गल कर्मोंका निमित्त पाकर जैसे आत्मा अपने सुख दुःख आदि भावोंको करता है वैसे ही उदयमें आए हुए पुद्गल कर्म्मका निमित्त पाकर यह आत्मा अपने रागादि भावोंका अनुभव करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जह) जैसे (पोग्गल कम्मणिमित्तं) उदयमें आए हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका निमित्त पाकर (आदा) यह आत्मा विकार रहित स्वसंवेदन परिणामसे शून्य होकर (अप्पणो भावं) अपने सुख दुःख आदि भावोंको (कुणदि) करता है। (तह) वैसे ही (पोग्गल कम्मणिमित्तं) उदयमें आए हुए द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर अपने शुद्ध आत्म स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न जो वास्तव परम सत्यार्थ सुखका आस्वाद उसका अनुभव न करता हुआ यह आत्मा (अप्पणो भावं) कर्मके उदयसे उत्पन्न अपने ही राग आदि भावोंको (वेददि) अनुभव करता है, द्रव्य कर्म्म रूप पुद्गलमई परभावको न करता है न भोगता है यह अभिप्राय है। **भावार्थ**—जब यह आत्मा अपने शुद्ध परिणामोंका कर्ता या भोक्ता नहीं होता है तब यह अपने ही

द्वारा पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंका निमित्त पाकर कभी मैं सुखी हूं ऐसा भाव करता है कभी मैं दुःखी हूं ऐसा भाव करता है। अपने वीतराग आत्म ज्ञानका अनुभव न करता हुआ कर्मोदय जनित राग व द्वेष आदि भावोंका आस्वाद लिया करता है॥ ९३ ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा अपने चैतन्यरूप आत्मीक भावोंको करता है वैसे ही आत्मासे अन्य पुद्‌गल चैतन्य स्वरूपसे विलक्षण द्रव्य कर्म आदि परभावोंको करता है।

गाथाः—**मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।**
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा॥ ९४॥

संस्कृतार्थः—मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः॥ ९४॥

सामान्यार्थः—मिथ्यात्व दो प्रकारका है एक जीवरूप मिथ्यात्व दूसरा अजीव रूप मिथ्यात्व उसी ही प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह, और क्रोधादिक सर्व भाव जीव और अजीव दो प्रकार हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(पुण) तथा मिच्छत्तं) मिथ्यात्व (दुविहं) दो प्रकार है (जीवम्) एक जीव स्वभाव रूप (अजीवम्) दूसरा अजीव स्वभाव रूप (तहेव) तैसे ही (अण्णाणं) अज्ञान (अविरदि) अविरति (जोगो) योग (मोहो) मोह (कोधादीया) क्रोधादिक (इमे भावा) यह सर्व भाव दो प्रकार हैं। पर्याय जीवरूप और अजीवरूप दो प्रकारकी होती हैं। जैसे मोरका दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे दो प्रकारकी पर्यायें होती हैं। मयूर अर्थात् मोरके द्वारा अनुभव किये हुए नील पीत आदि आहार विशेष जो मोरके शरीरके आकार परणते हुए हैं मयूररूप हैं अर्थात् चेतन मोररूप ही हैं तैसे निर्मल आत्माके अनुभवसे भ्रष्टजीवके द्वारा अनुभव किये हुए सुख दुःख आदि विकल्प जीवरूप ही हैं अर्थात् अशुद्ध निश्चयसे चेतना स्वरूप ही हैं तथा जैसे निर्मल दर्पण द्वारा अनुभव किये हुए दर्पणमें झलकनेवाले मुखका प्रतिबिम्ब आदि विकार दर्पणरूप ही हैं अर्थात् अचेतन जड़रूप ही हैं वैसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्य स्वरूप उपादान कारणसे की हुई ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मकी अवस्थाएं सो पुद्गलरूप ही हैं अर्थात् अचेतन रूप ही हैं। भावार्थ—जैसे किसी मोरकी छाया दर्पणमें पड़ी तब वह छायारूप परिणमन दर्पणका ही है मोरका नहीं, मोर केवल निमित्त कारण है। उसी तरह जीवके भावके निमित्तसे जो पुद्गलमें परिणमन हुआ सो परिणमन भी पुद्गलका ही है जीवका नहीं, और जैसे मोरके शरीरमें जो रूप रंग है वह मोरका ही है दर्पणमें दिखनेसे दर्पणका नहीं है उसी तरह कर्मोंके उदयसे जो अशुद्ध आत्माके अशुद्ध भाव होते हैं सो भाव आत्मा ही के हैं पुद्गल कर्मके उपादान स्वरूप भाव नहीं है। इसी लिये मिथ्यात्व कर्म और मिथ्याभाव क्रमसे पुद्गल और जीवरूप हैं। इसीतरह ज्ञानावरणी कर्मका उदय पुद्गलरूप, अज्ञान भाव जीवरूप है। अप्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय पुद्गलरूप असंयम भाव जीवरूप

है, पुद्गलोंका आकर्षण अजीवरूप, आत्माकी योग शक्ति जीवरूप है, मोहनीय कर्म पुद्गलरूप मोह भाव जीवरूप है, क्रोधादिक कषाय पुद्गलरूप, क्रोधादि भाव जीवरूप हैं। ऐसा जानना योग्य है।

आगे कितने प्रकारके जीव और अजीव है ऐसा शिष्यने प्रश्न किया उसका उत्तर आचार्य्य कहते हैं:-

गाथाः—पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥ ९५॥

संस्कृतार्थः—पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥ ९५ ॥

सामान्यार्थः—पुद्गल कर्मरूप मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीवरूप हैं जब कि उपयोगरूप अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीवरूप हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(पोग्गलकम्मं) पुद्गल कर्मरूप (मिच्छं) मिथ्यात्वकर्म, (जोगो) द्रव्यरूप योग अर्थात् कर्मोंका आकर्षण व द्रव्य मन, बचन, काय, (अविरदि) अविरतिके कारण कषायका उदय (अण्णाणं) और अज्ञान अर्थात् ज्ञानावरणीयका उदय (अज्जीवं) अजीव स्वरूप हैं—जीवमई चैतन्यगुणसे रहित हैं। (दु) किन्तु (उवओगो) उपयोगरूप अर्थात जीवके भावरूप (अण्णाणं) अज्ञान अर्थात शुद्धात्मा आदि तत्त्वोंके भीतर विपरीत ज्ञान होनेसे जीवका विकाररूप परिणाम तथा (अविरदि) अविरति अर्थात् विकार रहित स्वसंवेदन अर्थात आत्माका अनुभव उससे विपरीत व्रत रहित परिणाम—जीवका विकाररूप भाव तथा (मिच्छत्त) मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत अभिप्रायमई उपयोगका विकार स्वरूप भाव जिसके होते शुद्ध जीव आदि पदार्थोंमें विपरीत श्रद्धान होता है सो ये सब (जीवो) जीवरूप हैं। अर्थात यह अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्वमई उपयोग जीवरूप हैं। अर्थात् जीवका भाव है॥ भावार्थ—जीवके उपयोगरूप अज्ञान, अविरति और मिथ्याभाव जीवरूप चेतन हैं जब कि पुद्गलमई मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव स्वरूप हैं—अचेतन हैं॥ ९५॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जीव तो शुद्ध चैतन्य स्वभावमई है इसके मिथ्यादर्शन आदि विकार कैसे उत्पन्न हुए। इसका उत्तर आचार्य कहते हैं।

गाथाः—उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णिमोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो॥ ९६॥

संस्कृतार्थः—उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्यः॥ ९६॥

सामान्यार्थ—मोह सहित उपयोगवान आत्माके मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीनों अनादिकालसे होनेवाले परिणाम हैं ऐसा जानना योग्य है॥ ९६॥ शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(मोह जुत्तस्स) मोहसे युक्त (उवओगस्स) उपयोग लक्षणको रखनेवाले आत्माके (अणाई) अनादि संतानकी अपेक्षा होनेवाले (मिच्छत्तं) मिथ्यात्व, (अण्णाणं) अज्ञान (अविरदि)

अविरति (भावोय) भाव ऐसे (तिण्णि) तीन (परिणामा) प्रकारके परिणामोंके विकार (णादव्वो) जानने योग्य हैं। यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावको रखनेवाला है तथापि अनादि कालके मोहनीय आदि कर्मोंके बंध होनेके कारणसे इस जीवके मिथ्याश्रद्धान अज्ञान और असंयम रूप तीन परिणामोंके विकार होने संभव हैं। प्रयोजन यह है कि शुद्ध जीवका स्वरूप उपादेय अर्थात् गृहण करने व अनुभव करने योग्य है और मिथ्यात्व आदि विकारी परिणाम हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं। भावार्थः—इस जीवका हित अपने शुद्ध भावोंका अनुभव हैं क्योंकि वे शुद्ध भाव इस आत्माके असली स्वभाव हैं इसीलिये अपने भावोंका अनुभव करना और कर्मके उदयसे होनेवाले मिथ्यात्व आदि भावोंको त्यागना योग्य हैं॥ ९६॥

आगे कहते हैं कि इन मिथ्यादर्शन आदि तीन प्रकारके परिणामोंके विकारका कर्ता आत्मा है।

गाथाः—एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता॥ ९७॥

संस्कृतार्थः—एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्त्ता॥ ९७॥

सामान्यार्थ—इन मिथ्यादर्शन आदि कर्मोंके उदय होते हुए आत्माका उपयोग जो शुद्ध निश्चय करके शुद्ध है, द्रव्यकर्मोंसे रहित निरंजन है तथा एक ज्ञान स्वभाव है सो तीन प्रकार होकर जिस परिणामको करता है उस परिणामका कर्ता वही उपयोग स्वरूप आत्मा है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:—(एदेसुय) इन मिथ्यादर्शन अज्ञान मिथ्याचारित्रके उदय होकर निमित्तकारण होनेपर (सुद्धो) परमार्थसे रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे शुद्ध, (णिरंजनो) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूपी अंजनसे रहित, तथा (भावो) अखंड एक प्रतिभासरूप होनेवाला ज्ञान स्वभावमय होनेके कारणसे एक तरहका होनेपर भी (उवओगो) यह ज्ञानदर्शन उपयोग लक्षणको धरनेवाला आत्मा (तिविहो) पूर्वमें कहे अनुसार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-चारित्ररूप परिणामके विकारोंसे इस तरह तीन प्रकार होकर जैसे कृष्ण, नील व पीत ऐसी तीन प्रकार उपाधिके सम्बन्धसे परिणमन करता हुआ स्फटिक पाषाण तीन प्रकारका हो जाता है (जंभावं) जिस अपने भावको (करेदि) करता है (तस्स) उस ही मिथ्याभाव आदि ३ प्रकार विकारी परिणामोंका (सो) वही (उवओगो) चैतन्य सम्बन्धी परिणामरूप अर्थात् उपयोगरूप आत्मा विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान सम्बन्धी परिणामसे हटा हुआ (कत्ता) कर्ता होता है किंतु द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं होता यह भाव है (नोट—यहां एक "सो" विशेष मालूम होता है) भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे शुद्ध व अनेक रंगोंके विकारोंसे रहित है परंतु काला नीला पीला डांक आदिका सम्बन्ध होने पर काला, नीला, व पीला दीखता है

अर्थात् उसकी चमक काली नीली व पीली हो जाती है उसी तरह यह आत्मा शुद्धज्ञानदर्शन स्वभावका रखनेवाला परमार्थसे अति शुद्ध निरंजन निर्विकार है परन्तु अनादिसे ही दर्शन-मोह, ज्ञानावरण और चारित्र मोहके कर्म्मोंके उदय होनेके कारणसे आप ही मिथ्याभाव, अज्ञानभाव, और असंयम भावरूप परिणमन करता है इस कारण वह परिणमनशील आत्मा अपने ही मिथ्याभावोंका कर्ता होता है। उपादानरूपसे द्रव्य कर्म्मोंका कर्ता नहीं हो सक्ता। ऐसा जान अपने शुद्ध स्वभावमें ही परिणमन करनेका यत्न करना आवश्यक है ॥ ९७ ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा मिथ्यात्व आदि तीन प्रकारके विकारी परिणामोंका कर्ता हैं ऐसा होते हुए कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य अपने आप हीसे उपादान कारणके द्वारा द्रव्य कर्म्मरूप परिणमन करता है।

गाथाः—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पोग्गलं दव्वं ॥ ९८ ॥

संस्कृतार्थः—यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ॥ ९८ ॥

सामान्यार्थः—जिस भावको आत्मा करता है सो आत्मा अपने उस भावका कर्त्ता होता है। ऐसा होनेपर पुद्गल द्रव्य अपने आप ही द्रव्यकर्म्म रूप परिणमन करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जं) जिस (भावं) मिथ्या भाव आदि विकारी परिणामको (आदा) शुद्ध स्वभावसे हटा हुआ आत्मा (कुणदि) करता है (तस्स भावस्स) उसी मिथ्या भाव आदिका (सो) वह आत्मा (कत्ता) कर्त्ता (होदि) होता है (तम्हि) ऐसा होनेपर अर्थात् जब जीव तीन प्रकार विकारी परिणामोंको करता है तब (पोग्गल दव्वं) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य (सयं) अपने आप ही उपादानरूपसे (कम्मत्तं) द्रव्यकर्म्मरूप (परिणमदे) परिणमन करता है। जैसे गारुड़ आदि मंत्रोको जपनेवाले पुरुषके परिणामोंको निमित्त पाकर देशांतरमें रहते हुए किसी एक पुरुषसे कोई व्यापार स्वयं न किये जाने पर भी उस पुरुषका विप उतर जाता है, बंधन टूट जाता है व किसी स्त्रीका चित्त क्षोभित हो जाता है उसी तरह मिथ्यात्व रागद्वेषादि विभाव परिणामोंके विनाशके होते समय जब यह आत्मा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगमें परिणमन करता है तब उस परिणामके निमित्तसे जैसे गारुड़ी मंत्रकी सामर्थ्यसे विष अपनी शक्तिको खोकर दूर हो जाता है उसीतरह पूर्वमें बंधा हुआ द्रव्य कर्म्म अपने आप ही रस रहित होकर अर्थात् फल देने योग्य न रह कर इस जीवसे अलग होता हुआ झड़ जाता है। **भावार्थ**—आत्माके भावोंका परिणमन पुद्गल द्रव्यके परिणमन होनेमें निमित्त है तथा पुद्गल द्रव्यका परिणमन आत्माके भावोंके परिणमनमें निमित्त हो सक्ता है। इस कारण जब आत्मा मिथ्यात्व व रागद्वेष भावोंमें परिणमन करता है तब इस निमित्तसे पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करते हैं और जब वही

आत्मा शुद्ध भावोंमें परिणमन करता है तब वही द्रव्य कर्म अपनी फलदान शक्तिको व्यक्ति करनेसे रहित होकर आत्मासे स्वयं अलग होजाते हैं। जैसे किसी मंत्रवादीके खोटे मंत्रके बलसे दूर देशमें स्थित किसी पुरुषका चित्त स्वयं क्षोभित व व्याकुलित हो जाता है तथा किसी मंत्रवादीके शुभ मंत्रके प्रभावसे उसका वही चित्त अपने क्षोभको त्याग भी देता है उसीतरह आत्माके भावोंसे पुद्गल द्रव्योंमें परिणमन होता है। यहां कोई आशंका करे कि आत्माके भावोंके होने पर जड़ पुद्गल अपने आप क्यों परिणमन करेगा उसके लिये आचार्यने दृष्टान्त दिया है कि जैसे किसीको विष चढ़ा है वह बेखबर जड़के समान है—दूसरा चेतन पुरुष अपने भावोंमें ही परिणमन करता है परन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर उस अचेतन सदृश पुरुषका विष स्वयं उतर जाता है—ऐसा ही कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसीतरह आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध जानना। इसतरह स्वतंत्र व्याख्यानकी मुख्यता करके छः गाथाएं पूर्ण हुई ॥ ९८॥

आगे निश्चयसे वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानका अभाव होना ही अज्ञान कहाजाता है इस लिये अज्ञानसे ही कर्म बंधते हैं ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथाः—परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पिय परं करंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९९॥

संस्कृतार्थः—परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥ ९९ ॥

सामान्यार्थ—अज्ञानमई आत्मापर द्रव्यको आत्मास्वरूप मानता है वैसे ही आत्माको भी परद्रव्य स्वरूप जान लेता है इसीलिये वह अज्ञानी द्रव्यकर्मोंका कर्ता होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(अण्णाणमओ जीवो) अज्ञान मई जीव (परम्) पर द्रव्यको अर्थात् भावकर्म वा द्रव्यकर्मको (अप्पाणं कुव्वदि) अपना करलेता है अर्थात पर द्रव्य और आत्माके भेद ज्ञानके न होनेके कारणसे आत्मास्वरूप मान लेता है (अप्पाणं पिय) तथा अपने आत्माको भी (परं करंतो) पर अर्थात अपनेसे भिन्न स्वरूप मान लेता है (सो) सो अज्ञानी जीव (कम्माणं) द्रव्यकर्मोंका (कारगो) करनेवाला अर्थात् बांधनेवाला (होदि)होता है। जैसे कोई पुरुष शीत या उष्ण पुद्गलोंके परिणामोंकी अवस्था होनेपर तथा उनका अपनेसे सम्बन्ध होते हुए उसी तरह ठंडक या गर्मीका अनुभव करता हुआ उस अनुभवके साथ मेरा एकपना ही है ऐसा अभ्यास होनेसे शीतपने व उष्णपने से मेरा क्या भेद है इसको न जानता हुआ मैं शीतरूप हूं या उष्णरूप हूं इस प्रकार मानता हुआ उस शीत व उष्ण परिणतिका कर्त्ता बन जाता है वैसे ही यह जीव भी अपने शुद्ध आत्माके अनुभवसे भिन्न जो उदयमें प्राप्त पुद्गल परिणामकी अवस्थाएं उनके निमित्तसे सुख व दुःखका अनुभव करता हुआ तथा इस अनुभवके साथ मेरा एकपना ही है ऐसा अभ्यास होनेसे सर्व राग द्वेषादि विकल्पोंसे रहित-स्वसंवेदन ज्ञानके न होनेपर परद्रव्य और आत्माके

भेदको न जानता हुआ मैं सुखी हूं या मैं दुःखी हूं इस प्रकार परिणमन करनेसे कर्मोका कर्ता होता है अर्थात् भाव कर्मका कर्ता होकर द्रव्य कर्मोका बांधनेवाला होता है। यह भाव है। भावार्थ—जब जीव भेद विज्ञान रूपी शस्त्रसे कर्मोके उदय रूप परिणामोंके टुकड़े करता रहता है तब वह उनका कर्ता नहीं बनता और न बंधनको प्राप्त होता है। परंतु भेदज्ञान न होते हुए जब यह उदयरूप अवस्थाओंमें तन्मयी हो जाता है और अपने स्वरूपको न जानकर उन रूप ही अपनी खोटी मान कर लेता है तब यह अपने ही इस अज्ञान मई अपराधके कारणसे कर्मोका कर्ता होकर द्रव्य कर्मोका बांधनेवाला होता है। अतएव इस अज्ञान भावको दूर कर भेदज्ञानको ही अपना मित्र व सहकारी करना उचित है जिससे नवीन कर्मका बंध न होवै ॥ ९९ ॥

आगे कहते हैं कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानके प्रभावसे कर्मोका बंध नहीं होता।

गाथाः—**परमप्पाणमकुव्वी अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।**
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥ १०० ॥

संस्कृतार्थः—परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥ १०० ॥

सामान्यार्थः—परद्रव्यको आत्म स्वरूप न करता हुआ और न आत्माको परस्वरूप करता हुआ जो ज्ञानी जीव सो कर्मोका कर्ता नहीं होता। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(परं) पर द्रव्यको अर्थात् बाह्यमें देहादिकोंको अभ्यन्तरमें रागद्वेषादिक भाव कर्म्म और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म्मको (अप्पाणं) भेद विज्ञानके बलसे आत्म स्वरूप रूप (अकुव्वं) नहीं करता हुआ अर्थात् इन पर भावोंसे अपना सम्बन्ध न जोड़ता हुआ (अप्पाणं पिय) तथा अपने शुद्ध द्रव्य गुण पर्य्याय स्वभावधारी आत्माको भी (परं) पर द्रव्य स्वरूप (न कुव्वं तो) नहीं करता हुआ (सो णाणमओ जीवो) सो निर्मल आत्माके अनुभवको करनेवाला भेद विज्ञानी जीव (कम्माणं) भावकर्म्म व द्रव्य कर्मोका (अकारगो) अकर्त्ता (होदि) होता है अर्थात् उनका कर्त्ता नहीं होता। जैसे कोई पुरुष शीत या उष्णरूप पुद्गलके परिणामकी अवस्थाका तथा उसी तरह शीत या उष्ण रूप अनुभवका और आत्माका भेद ज्ञान रखनेके कारणसे मैं शीतरूप हूं या उष्णरूप हूं इस परिणतिका कर्ता नहीं होता है वैसे ही यह जीव भी अपने शुद्ध आत्माके अनुभवसे भिन्न पुद्गल परिणामकी अवस्थाका तथा उसके निमित्तसे होनेवाले सुख या दुःखके अनुभवका और अपने शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखके अनुभवका भेदज्ञानका अभ्यास रखनेके कारणसे पर और आत्माका भेद ज्ञान होनेपर रागद्वेष मोहरूप परिणामको नहीं करता हुआ कर्म्मोका कर्त्ता नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वसंवेदन ज्ञानसे कर्मोका बंध नहीं होता। भावार्थ—जिस आत्माके अंतरंगमें अपने अतीन्द्रिय

आत्मजनित परम सुखका और इन्द्रिय जनित विषय सुखका भेद भाव ऐसा झलक रहा है कि अतीन्द्रिय सुखको ही सुख मानता है और इन्द्रिय सुखको दुःखरूप व आकुलतारूप जानता है उसी आत्माके उत्तम भेदज्ञान रहता है। इस भेदज्ञानके बलसे वह पुद्गल जनित अवस्थाओंको अपनेसे भिन्न जानता है और ऐसा ही अनुभव करता है इसी कारण पुद्गलमई भावोंका कर्ता नहीं होता। अतएव सर्व विकल्पोंको छोड़कर एक निर्मल भेदज्ञानका ही अभ्यास करना कार्यकारी है। ॥ १०० ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि अज्ञानसे कर्म कैसे बंधते हैं जिसका उत्तर आचार्य दो गाथाओंमें कहते हैं:-

गाथाः—**तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि कोधोहं।**
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ १०१ ॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति क्रोधोहं।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ १०१ ॥

सामान्यार्थ—इन तीन प्रकार उपयोगका धारी आत्मा ऐसा असत्य विकल्प करता है कि मैं क्रोधरूप हूं इसलिये वह आत्मा अपने इस आत्म परिणामका कर्ता होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(तिविहो) तीनप्रकार अर्थात् मिथ्यात्व अज्ञान व असंयम रूप (एसुवओगो) उपयोगका धारी यह आत्मा अपने निज स्वरूपमें स्थितरूप जो स्वस्थ भाव उसके न होनेके कारण (अस्स) असत् अर्थात् मिथ्या (वियप्पं) विकल्प (करेदि) करता है कि (अहं कोधः) मैं क्रोधरूप हूं अथवा मानरूप हूं (सो) ऐसा होनेपर वह आत्मा (तस्सुवओगस्स) उस ही क्रोधादि रूप उपयोगमय (अत्त भावस्स) आत्माके परिणामका (कत्ता) अशुद्ध निश्चयसे कर्ता (होदि) होता है। सामान्यपने यह उपयोग स्वरूप आत्मा अज्ञानरूप होनेके कारण एकतरहका होनेपर भी विशेष करके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूपसे तीन प्रकार होकर अपने आत्मस्वरूपका और क्रोधादिक भावोंका भेदज्ञान न होनेके कारण उनके भेदोंको न जानता हुआ अपने निर्विकल्प स्वरूपसे भ्रष्ट होता हुआ मैं क्रोधरूप हूं, मैं मानरूप हूं इत्यादि विकल्पोंको अपने आत्माके भीतर उत्पन्न करता है तब वह आत्मा अशुद्ध निश्चयसे उस ही क्रोधादि रूप अपने उपयोगमई परिणामका कर्त्ता होता है। टीकाकार कहते हैं कि आत्मा और क्रोधादि भावोंमें परस्पर भाव्य भावकपना है। भाव्य उस आत्माको कहते हैं जो क्रोधादि भावोंमें परिणमन करता है। भावक अर्थात् रंजक उस भाव क्रोधको कहते हैं जो अंतरात्माकी भावनासे विलक्षण है। इसीतरह क्रोध पदको बदलके उसकी जगह मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन पद जोड़कर गाथाओंका व्याख्यान करनेसे १६ सूत्रोंका व्याख्यान हो जायगा। इसी तरह अनेक प्रकारसे क्षोभ रहित चित् स्वभावधारी शुद्ध आत्मिक तत्वसे विलक्षण असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम जानने योग्य हैं।

भावार्थ—अपनेमें मिथ्याज्ञान होनेके कारण यह अशुद्ध आत्मा नाना प्रकार विकल्प उठा कर यही माना करता है कि मैं क्रोधरूप हूं, या मैं लोभरूप हूं, द्वेषी हूं या मैं कामी हूं। इत्यादि अशुद्ध भावोंका करनेवाला बनकर अपने स्वभावसे भृष्ट रहता है। उस समय यह आत्मा तो भाव्य है और वह क्रोधादिमई विभाव परिणाम भावक है। इन्हीं अशुद्ध विकल्पमई भावोंके कारण यह परभावका होता कर्ता है। परभावके कर्तापनेसे कर्मोंका बंध करता है। अतएव इन विकल्पभावोंको त्याग कर अपने आत्मस्वभावमें लवलीन होना योग्य है॥ १०१॥

फिर भी इसी भावको पुष्ट करते हैं:—

गाथाः—**तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी।**
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स॥ १०२॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकं।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य॥ १०२॥

सामान्यार्थ—मिथ्यादर्शनादि तीन प्रकार उपयोग धारी आत्मा ऐसा मिथ्या विकल्प करता है कि धर्मास्तिकायरूप मैं हूं या अधर्मास्तिकायरूप मैं हूं, तब यह आत्मा अपने उस आत्मभावमई उपयोगका कर्ता होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एसु वओगो) यह उपयोगवान आत्मा सामान्यपने अज्ञानरूप एक तरहका होने पर भी (तिविहो) विशेष करके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या चारित्ररूपसे तीन प्रकारका होता हुआ पर द्रव्य और आत्माके ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धको एकरूप निश्चय करनेसे, एकरूप जाननेसे व एकरूप परिणमन करनेसे उनके भेद ज्ञानके न होनेके कारण जानने योग्य पदार्थ और जाननेवाला आत्मा इन दोनोंके भेदको न जानता हुआ (धम्मादी) धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय रूप मैं हूं इत्यादि (अस्सं) अपने आत्माका असत्-मिथ्या (वियप्पं) विकल्परूप अपने परिणामको (करेदि) पैदा करता है तब (सो) वही आत्मा निर्मल आत्माके अनुभवसे रहित होता हुआ (तस्स उवओगस्स अत्त भावस्स) अपने ही उस मिथ्या विकल्परूप परिणामका (कत्ता) कर्ता अशुद्ध निश्चयसे (होदि) होता है। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि मैं धर्मास्तिकायरूप हूं, ऐसा कोई नहीं कहता है तब ऐसा कहना कैसे घट सक्ता है उसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह धर्मास्तिकाय है ऐसा जो जाननरूप विकल्प मनमें उठता है उसको भी उपचारसे धर्मास्तिकाय कहते हैं जैसे घटके द्वारा घटाकार परिणतरूप ज्ञान कहा जाता है उसीतरह जानना, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयके आकार परिणमन करता है। जब यह आत्मा ज्ञेयतत्त्व के विचारके समय ऐसा विकल्प करता है कि धर्मास्तिकाय यह है तब यह अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको भूल जाता है। तब इस विकल्पको करते हुए मैं धर्मास्तिकायरूप हूं इत्यादि विकल्प उस जीवके उपचारसे सिद्ध होता है ऐसा प्रयोजन है। इससे यह सिद्ध हुआ कि

शुद्धात्माके अनुभवके विना जो अज्ञानभाव है वही कर्मोंके कर्तापनेका कारण है। भावार्थ-जब शुद्धात्मस्वरूपके अनुभवमें तन्मई उपयोग होता है तब इसके कर्मोंका करनेवाला अज्ञान भाव नहीं है। जब इसके विपरीत होता है तब इसका उपयोग अज्ञान भावके कारण कर्मोंका बांधनेवाला होता है ॥ १०२ ॥

इसीको फिर भी कहते हैं:—

गाथाः—**एवं पराणिदव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।**
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥ १०३ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ १०३ ॥

सामान्यार्थ—इसीतरह यह मंद बुद्धि आत्मा अपने अज्ञानभावसे पर द्रव्योंको आत्मारूप माना करता है और आत्माको भी पर द्रव्यरूप माना करता है। शब्दार्थ सहित **विशेषार्थः**—(एवं) ऊपर दो गाथाओंमें कहे प्रमाण यह (मंद बुद्धीओ) मंद बुद्धी अज्ञानी आत्मा निर्विकल्प लक्षण भेदज्ञानसे रहित होता हुआ (अण्णाण भावेण) अपने अज्ञान भावसे (पराणि दव्वाणि) पर द्रव्योंको अर्थात् पर द्रव्य सम्बन्धी भावोंको कि मैं क्रोधरूप हूं व धर्मास्तिकाय रूप हूं अथवा क्रोधादिरूप अपने अशुद्ध परिणामों व धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय स्वरूप पदार्थोंको (अप्पयं कुणदि) आत्मारूप करता है अर्थात् उनको आत्मा है ऐसा मान लेता है तथा (अप्पाणं अवि य) अपने शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको भी (परं) पर स्वरूप अर्थात् अपने आत्मस्वरूपसे भिन्न (करेदि) करता है अर्थात् रागादिकोंमें उसको संयुक्त करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिकोंको आपरूप भूत लगे हुए पुरुषके समान मान लेनेसे व धर्मादि ज्ञेय पदार्थोंको आत्मस्वरूप ध्यानमें तिष्ठे हुए पुरुषके समान जान लेनेसे जो अज्ञान भाव होता है वही अज्ञान भाव शुद्धात्माके स्वसंवेदन ज्ञानसे रहित होता हुआ कर्मोंके कर्तापनेमें कारण होता है अर्थात् इसी अज्ञान भावके कारण इस जीवके कर्मोंका बंधन होता है। जैसे कोई भी पुरुष भूत आदि पिशाचोंसे यदि घिरा हुआ हो तो वह भूताविष्ट पुरुष उस भूत पिशाचके और अपने पुरुषपनेके भेदको नहीं जानता हुआ मनुष्यसे न करने योग्य शिला उठाना, व शिलाको चलाना आदि आश्चर्य्यजनक व्यापारोंको करता हुआ उन व्यापारोंका आप कर्ता हो जाता है वैसे ही यह जीव भी वीतरागमई परम सामायिकमें परिणत शुद्धोपयोग लक्षण भेद ज्ञानको न पाता हुआ काम क्रोधादि भावोंमें और शुद्धात्मामें जो भेद है उसको न जानता हुआ मैं क्रोधरूप हूं, मैं कामरूप हूं, इत्यादि विकल्पोंको करता हुआ कर्मोंका कर्ता होता है। भावार्थ—जैसे भूत ग्रसित प्राणी अपने आपको भूला हुआ जो कार्य्य भूत कराता है उस कार्य्यको करता हुआ ऐसा मानता है कि मैं इस कार्यको कर रहा हूं ऐसे ही आत्मा और परभावोंके भेद ज्ञानका न अनुभव करता

हुआ अज्ञानी आत्मा क्रोधादि द्रव्य कर्मोंके वशसे जो अपनेमें अशुद्ध भाव होते हैं उनको अपने ही भाव मानता हुआ आप उनका कर्ता होता है। इसतरह क्रोधादि द्रव्य कर्मोंके कर्तापनेके माननेमें भूताविष्ट पुरुषका दृष्टान्त है। इसी ही प्रकार जैसे कोई पुरुष महा भैंसा व गरुड़ आदिके ध्यानमें लगा हुआ भैंसा आदिका और आत्माका भेद न जानता हुआ मैं महा महिषा हूं व मैं गरुड़ हूं, कामदेव हूं, व मैं अग्नि हूं व दूधकी धाराके समान अमृतकी राशि हूं इत्यादि अपने आत्माके विकल्पोंको करता हुआ उस विकल्पका कर्ता होता है। वैसे यह जीव भी सांसारिक सुख व दुःखादिकोंमें साम्यभावकी भावनामें परिणत करते हुए शुद्धोपयोग लक्षणमई भेद विज्ञानको न पाकर तथा धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थोंका और शुद्धात्माका भेद न जानता हुआ मैं धर्मास्तिकाय हूं इत्यादि अपनेमें विकल्प करता है, तब वह जीव उसी ही विकल्पका कर्ता होता है। इस प्रकार विकल्प करनेसे इस जीवके ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म्मोंका बंध होता है। इसतरह धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थोंमें ध्यानका दृष्टान्त समाप्त हुआ। यह बात सुनकर शिष्यने प्रश्न किया, हे भगवान! यह धर्मास्तिकाय है या यह जीव है इत्यादि ज्ञेय पदार्थोंके विचारका विकल्प करते हुए यदि इस आत्माके कर्मोंका बंध होता है तब फिर ज्ञेय तत्वोंका विचार करना ही वृथा हुआ, इसलिये ज्ञेय पदार्थोंका विचार करना उचित नहीं है। यह शंका सुनकर आचार्य्य समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं कहना योग्य है यद्यपि मन वचन कायकी गुप्तिमें परिणमन होती हुई विकल्प रहित आत्म समाधिके समय ज्ञेय तत्त्वका विकल्प करना नहीं योग्य है तथापि तीन गुप्तिरूप निश्चल ध्यानके न होनेपर शुद्धात्माके स्वरूपको ही उपादेय मानके व आगम भाषासे मोक्षस्वरूपको उपादेय जानके वीतरागता रहित सराग सम्यक्तके कालमें पंचेन्द्रियोंके विषय और क्रोधादि कषायोंसे हटनेके लिये ज्ञेय पदार्थोंका विकल्प करना योग्य है। इस तत्त्व विचारके करनेसे मुख्यतासे पुण्य बंध होता है। परंपरासे निर्वाणका लाभ होता है, इसलिये ऐसे प्रयोजनसे ज्ञेय तत्त्वोंके विचार करनेमें कोई दोष नहीं है। किन्तु तत्त्वोंके विचारके कालमें भी यह जानना योग्य है कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करता हुआ शुद्धात्मा ही साक्षात् उपादेय अर्थात् गृहण करने योग्य है। फिर शिष्यने प्रश्न किया कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानके विचार कालमें ऐसा जो आपने कहा उसमें वीतराग विशेषण किसलिये लगाया गया, आपने वीतराग विशेषणका प्रयोग प्रचुरताके साथ किया है तो क्या स्वसंवेदन ज्ञान सराग भी होता है? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि पंचेन्द्रियोंके विषय सम्बन्धी सुखके अनुभवका आनंदरूप स्वसंवेदन ज्ञान सर्व जनोंमें प्रसिद्ध सराग रूप भी है तथा शुद्ध आत्मिक सुखका अनुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग रूप है। स्वसंवेदन ज्ञानके व्याख्यानके समयमें यह व्याख्यान सर्व ठिकाने जानना योग्य है। **भावार्थ**—आचार्य यहां पर बतलाते हैं कि अज्ञानभावसे यह आत्मा

अपने अज्ञानमई भावोंको किया करता है और उन भावोंके निमित्तसे कर्मोंका बंध करनेवाला होता है। अज्ञानरूप। विकल्प दो प्रकारका है एक तो क्रोधादि भावोंमें तन्मय रूप दूसरे जानने योग्य पदार्थोंमें तन्मय रूप जैसे भूत ग्रसित प्राणी अपनेको भूलकर भूतके निमित्तसे होनेवाली चेष्टाओंको अपनी माना करता है तैसे यह क्रोधादि कषायोंके उदयके निमित्तसे होनेवाले अशुभ भावोंको अपना मान लेता है। अन्य अजैन ग्रन्थोंमें बहुधा गरुड़ व भैंसा व कामदेव आदिका ध्यान करना कहा है। जब कोई इनका ध्यान करता है तब उस ही रूप अपना विकल्प करता है इसतरह जो कोई धर्मास्तिकाय आदि परद्रव्योंके विचारमें उपयोगको लगाता है वह उस विकल्प रूप होकर अपनेको उस विकल्पका कर्ता मानता है। तब स्व समाधि रूप शुद्धोपयोग भावसे हटा हुआ अपनेमें शुद्ध भावके अभावसे राग अंशकी अधिकता व हीनताके समान द्रव्य कर्मोंका बंध करता है। इस कारण अन्य विकल्पोंको त्याग एक शुद्धात्म स्वरूपमें तन्मय रूप स्वसंवेदन ज्ञानका ही अनुभव करना कार्यकारी है॥१०३॥

आगे कहते हैं कि इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्माका अनुभव रूप लक्षणको धरनेवाले सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे कर्मका कर्तापना नष्ट होता है।

गाथाः—**एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।**
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं॥१०४॥

संस्कृतार्थः—एतेन तु स कर्त्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्तृत्वं॥१०४॥

सामान्यार्थ—इसतरह पूर्वमें कहे हुए गाथा तीनके द्वारा यह कहा गया कि अज्ञान भावसे यह आत्मा पर द्रव्यका कर्ता होता है ऐसा निश्चयके ज्ञाता कहते हैं। यह बात जो कोई ज्ञानी निश्चयसे जानता है वह सर्व कर्मोंके कर्तापनेको त्याग देता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(एदेणदु) इसप्रकार जैसा कि पहले तीन गाथाओंमें व्याख्यान कर चुके हैं अज्ञान भावसे ही (सो आदा) सो अज्ञानी आत्मा (कत्ता) पर द्रव्यका कर्ता होता है ऐसा (णिच्छयविदूहिं) निश्चयके जाननेवाले सर्वज्ञोंके द्वारा (परिकहिदो) कहा गया है। प्रयोजन यह कि जब यह आत्मा उस अज्ञान भावरूप परिणमन करता है जो कि वीतराग परम सामायिक रूप संयममें परणमन करते हुए अभेद रत्नत्रयका प्रतिपक्षी है अर्थात् जिसके होते हुए परम स्वरूपमें लयता नहीं प्राप्त होती है, तब यह आत्मा उस ही मिथ्यात्व राग द्वेषादिरूप अज्ञान भावका कर्ता हो जाता है। तब इसके इस अज्ञान भावके कारण ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका बंध होता है परंतु जब यह आत्मा चिदानंदमई अपने स्वभावरूप शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप परिणाममें परिणमन करता है तब सम्यग्ज्ञानी होकर मिथ्यात्व, राग आदि भावकर्ममई अज्ञान भावका कर्ता नहीं होता है। तब इस कर्तापनेके न होनेपर द्रव्यकर्मोंका बंध भी नहीं होता है (एवं) इसप्रकार (जो) जो कोई (खलु) निश्चयसे (जाणादि) वस्तुके स्वरूप

को जानता है (सो) सो (सव्वकत्तित्तं) सर्व कर्तापनेको (मुंचदि) त्याग देता है अर्थात् प्रथम सराग सम्यग्दृष्टी होकर अशुभ कर्म्मोंके कर्तापनेको त्यागता है फिर निश्चय चारित्रके साथ नियमसे होनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शनको प्राप्तकर वीतराग सम्यग्दृष्टी होकर शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके सर्व कर्मोंके कर्तापनेको त्याग देता है। भावार्थः—इस अज्ञानी जीवका अपने शुद्धात्म सम्बन्धी परिणतिको छोड़कर निरंतर पर परणतिमें ही परिणमन होता है। इस कारण जो शुभ या अशुभ भाव होते हैं, उनका मैं करनेवाला हूं, ऐसा अहंकार करता है इस ही कर्त्तापनके अहंकारके कारण द्रव्यकर्मका बंध इस संसारी जीवके होजाता है। परंतु जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है वह शुभ या अशुभ भावोंको अपने स्वरूपके रमणेमें बाधाकारी जानकर उनका मैं कर्त्ता हूं ऐसा अहंकार नहीं करता है। सराग अवस्थामें इन भावोंको हेय निश्चय करते हुए भी इस प्रकारका उद्यम करता है कि अशुभ भावोंसे बचूं और शुभमें प्रवर्तन करूं। जब धीरे २ शक्ति बढ़ जाती है। तब वीतरागी होकर कर्म्मोंका नाश कर परम कल्याणमय मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मिथ्याज्ञान व अज्ञानसे कर्मोंका उपार्जन व सम्यग्ज्ञानसे कर्मोंका नाश होता है। इसतरह अज्ञानी और सज्ञानी जीवको कथन करनेकी मुख्यतासे द्वितीय स्थलमें ६ गाथाएं पूर्ण हुई। इसतरह द्विक्रियावादीको खंडन करते हुए विशेष व्याख्यानरूप १२ गाथाएं पूर्ण हुई।

अब फिर भी संकोचरूप संक्षेपमें ग्यारह गाथाओं तक इस द्विक्रियावादीका खंडन करते हुए विशेष व्याख्यान करते हैं ॥ १०४ ॥

यद्यपि व्यवहारी लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा परभावोंको कर्ता है परंतु यह कहना व्यवहारी लोगोंका व्यामोह अर्थात् मूढ़पना है ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथाः—**ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरहादिदव्वाणि।**
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ १०५ ॥

संस्कृतार्थ—व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथादि द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ १०५ ॥

सामान्यार्थः—जैसे कोई आत्मा व्यवहारसे एकमेक होकर घट पट रथ आदि द्रव्योंको इच्छा पूर्वक कर्ता है वैसे इस जगतमें यह आत्मा पांच इन्द्रियोंको, नानाप्रकार द्रव्यकर्मोंको तथा नोकर्मोंको करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(एवंदु) इसी प्रकारसे ही जैसे कोई आत्मा (ववहारेण) अनन्य व्यवहारसे अर्थात् व्यवहारके साथ एकमेक होकर (घडपडरहादि दव्वाणि) घट, पट, रथ आदि बाह्य द्रव्योंको (करेदि) इच्छा पूर्वक करता है तैसे ही (इह) इस लोकमें यह आत्मा अभ्यंतरमें भी (करणाणि) पांच इन्द्रियोंको (य) और (विविहाणि) नाना प्रकारके (कम्माणि) क्रोधादि व ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंको (य) और (णोकम्माणि)

औदारिक शरीरादिक नोकर्मोंको ईहा पूर्वक अर्थात् इच्छा पूर्वक विशेष रहित करता है। ऐसा मानना व्यवहारी जीवोंका व्यामोह अर्थात् मूढ़ पना है। भावार्थः—जो कोई ऐसा मानता है कि यह आत्मा एकमेक होकर अपनेसे पर स्वरूप पदार्थोंका करनेवाला है वह पुरुष अज्ञानी है॥ १०५ ॥

आगे आचार्य कहते हैं कि यह व्यामोह सत्य नहीं है:—

गाथाः—**जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।**
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥१०६॥

संस्कृतार्थः—यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥१०६॥

सामान्यार्थः—यदि यह जीव नियमसे पर द्रव्योंको करने लगे तो तन्मई होजावे। पर द्रव्योंके साथ एकमेक होजावे। परन्तु यह आत्मा परद्रव्योंके साथ तन्मई नहीं होता है इससे उनका कर्ता नहीं है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जदि) यदि (सो) वह आत्मा (परदव्वाणि) पर द्रव्योंको (णियमेण) एकान्त रूपसे (करिज्ज) करै तो (तम्मओ) तन्मयी (होज्ज) होजावे। (जम्हा) क्योंकि वह आत्मा स्वभावसे ही शुद्ध अपने स्वभाविक अनंत सुख आदि रूपको त्यागकर (तम्मओ ण) पर द्रव्यके साथ तन्मई नहीं होता है अर्थात् अपने चेतन स्वभावको त्याग कर पुद्गलमई जड़ स्वरूप नहीं होता (तेण) इसलिये (सो) वह आत्मा (तेसिं) उन पर द्रव्योंका उपादानरूपसे (कत्ता) करनेवाला (ण) नहीं (हवदि) होता है। **भावार्थः**— यहां उपादान कारणकी अपेक्षा कथन है कि यह आत्मा परद्रव्योंका कर्ता नहीं है जैसे मिट्टी कलशकी कर्ता है इस तरह पुद्गलके साथ जीवका कर्तापना नहीं है। यदि ऐसा कर्तापना मानेंगे तो जीव पुद्गलके साथ तन्मई होजावेगा, सो ऐसा होता नहीं। जो ऐसा मानते हैं उनका मूढ़पना है॥ १०६ ॥

आगे कहते हैं कि केवल उपादान रूपसे कर्ता नहीं होता है यह बात नहीं है किन्तु निमित्त रूपसे भी परद्रव्यका कर्ता नहीं होता ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथाः—**जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।**
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥१०७॥

संस्कृतार्थः—जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०७ ॥

सामान्यार्थः—न तो जीव घटको बनाता है न पटको और न अन्य द्रव्यको—योग और उपयोग ही कार्यके उत्पन्न करनेवाले हैं, वह आत्मा इन योग उपयोगोंका कर्ता होता है **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जीवो) यह जीव निमित्त रूपसे भी (घडं) घड़ेको (णकरेदि) नहीं करता है (णेव पडं) न पटको (णेव) और न (सेसगेदव्वे) अन्य द्रव्योंको करता है

क्योंकि यदि ऐसा निमित्त रूपसे भी करे तो इस जीवके सर्व काल कर्मोंका कर्तापना हो जायगा। तब फिर कौन करता है इस प्रश्न पर आचार्य कहते हैं कि (जोगुवओगा) आत्माके विकल्प मई व्यापार रूप विनाशिक योग और उपयोग (उप्पादगाय) इन पदार्थोंके उत्पन्न करनेवाले हैं। (सो) वह आत्मा जिस समय संसारिक सुख और दुःखमें व जीवन मरण आदि अवस्थाओंमें समताकी भावनामें परिणमन रूप जो अभेद रत्नत्रय लक्षणको धरनेवाला भेदविज्ञान है उसको न पाकर शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव मई परमात्म स्वरूपसे भृष्ट होता है तब ही (तेसिं) उन योग और उपयोगोंका कदाचित् (कता) कर्ता (हवदि) होता है। सर्वदा नहीं होता है। योग शब्दसे बाह्य हाथ आदिका व्यापार समझना, उपयोग शब्दसे अंतरमें होनेवाला विकल्प समझना। इस तरह परंपरा करके निमित्त रूपसे घटादि पदार्थोंमें जीवका कर्तापना हो सक्ता है। मुख्यतासे नहीं। यदि मुख्य वृत्तिसे निमित्त रूप कर्तापना होवै तो जीवके सदा ही कर्मका कर्तापना होनेका प्रसंग आ जावे, क्योंकि जीव नित्य है और तब मोक्षका अभाव हो जावे। भावार्थः—यदि यह जीव परद्रव्योंका कर्ता निमित्त रूपसे हो जावे तो सदा ही इसके कर्तापना रहा करे और तब पर द्रव्योंके कतृत्त्वसे मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा नहीं है। परद्रव्योंके करनेवाले योग और उपयोग हैं। मन, वचन, कायका हलनरूप व्यापार सो योग है। आत्माके विभाव भाव सो उपयोग हैं। अतः आत्मा जब अपनी स्वसमाधिमें लीन नहीं होता है तब इन योग और उपयोगोंका कर्ता होता है। तब यह योग और उपयोग परद्रव्योंके होनेमें निमित्तकारण होते हैं। ऐसा जानकर यही निश्चय करना योग्य है कि यह आत्मा मुख्यतासे पर द्रव्योंके करनेमें भी निमित्त कारण नहीं है किन्तु परंपराकी अपेक्षासे है। इस कथनसे आत्माको परद्रव्यके कर्तापनेसे निश्चयनयकी अपेक्षा उदासीन जान निश्चय आत्म स्वरूपमें ही तन्मय होना योग्य है। इस तरह व्यवहारके व्याख्यानकी मुख्यता करके तीन गाथाएं पूर्ण हुईं॥ १०७॥

आगे कहते है कि वीतराग स्वसंदेन ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभावका ही कर्त्ता है परभावका कर्त्ता नहीं है:-

गाथाः—**जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।**
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी॥१०८॥

संस्कृतार्थ—ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी॥ १०८॥

सामान्यार्थः—जो ज्ञानावरणादि पुद्गलके परिणाम होते हैं उनको यह आत्मा नहीं कर्ता है किन्तु जो उनकी अवस्थाओंको जानता है वह ज्ञानी है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो) जो (पुग्गलदव्वाणं) कर्म्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्यकी (परिणामा) पर्यायें (णाणावरणा) ज्ञानावरणी दर्शनावरणी आदि द्रव्यकर्म्मरूप (होंति) होती हैं (ते)

उन पर्यायोंको (आदा) यह आत्मा व्याप्य व्यापक होकर जैसे मिट्टी कलशको बनाती है ऐसे (ण करेदि) नहीं करता है। जैसे ग्वाला गोरसका करनेवाला व्याप्य व्यापकरूपसे नहीं है ऐसे आत्मा परद्रव्यकी पर्यायोंका कर्ता नहीं है। (दु) किन्तु (जो) जो कोई (जाणदि) इन द्रव्यकर्मोंको मात्र जानता है (सो) वही जीव मिथ्यात्त्व, विषय और कषायोंको त्यागकर विकल्प रहित समाधिमें ठहरा हुआ (णाणी) सम्यग्ज्ञानी (हवदि) होता है। प्रयोजन यह है कि केवल जाननेसे ही ज्ञानी नहीं है उसका स्वसमाधिमें लीन रहना ही सम्यग्ज्ञानीपना है। यहां यह तात्पर्य्य है कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्ध नयसे व शुद्ध उपादान रूपमे शुद्ध ज्ञानका ही कर्ता है। जैसे सुवर्ण अपने पीतपने आदि गुणोंका व अग्नि अपने गर्मपने आदि गुणोंका व सिद्ध परमेष्टी अपने अनंत ज्ञानादि गुणोंके कर्ता हैं किन्तु यह आत्मा मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिरूप अज्ञान भावका कर्ता नहीं है शुद्ध उपादान रूपमे यह आत्मा शुद्ध ज्ञान आदि भावोंका कर्ता है अशुद्ध उपादान रूपसे अर्थात् अशुद्ध दशाकी अपेक्षा मिथ्यात्व व रागद्वेषादि भावोंका कर्ता है। जिस रूप आप हो उस रूप ही परिणमन होता है। इस ही परिणमनको ही कर्तापना और भोक्तापना कहते हैं ऐसा जानना योग्य है। जैसे कुम्हार घटके बनानेमें इच्छापूर्वक हाथके व्यापारादिको करता है उस समान नहीं। भावार्थ—कर्तापना और भोक्तापना दोनों ही अपने भावोंका परिणमन है। अशुद्ध आत्माके ज्ञानोपयोगका परिणमन अज्ञानरूप होता है इसलिये वह अज्ञान भावका कर्ता है। अशुद्ध आत्मा पर वस्तुमें मोह करता हुआ अपने उपयोगको राग रूप परणमाता है इससे वह इस राग भावका भोक्ता कहा जाता है। शुद्ध आत्मा शुद्ध भावका ही कर्ता और शुद्ध भावका ही भोक्ता है। ऐसा जान अपने शुद्ध परिणमनमें वर्तना ही कार्यकारी है ऐसी भावना करनी योग्य है। ऊपरकी गाथाके भावके अनुसार गाथामें ज्ञानावरणीयके स्थानमें दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय इन सात कर्मके भेदोंको लगाकर वैसे ही मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, व नोकर्म व मनयोग, वचनयोग, काययोग व श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय ऐसे १६ पदोंको जोड़कर सूत्र व्याख्यान करने योग्य हैं। इसीतरह शुद्धात्माके अनुभवसे विलक्षण असंख्यात लोकप्रमाण अन्य भी विभाव परिणाम जानने योग्य हैं। **भावार्थ**—यह आत्मा निश्चयसे इन सर्व विभाव भावोंका कर्ता और भोक्ता नहीं है ऐसा अनुभव करना योग्य है॥ १०८॥

आगे कहते हैं कि अज्ञानी आत्मा भी राग द्वेषादिरूप अज्ञान भावका ही कर्ता है परंतु ज्ञानावरणीय आदि पर द्रव्योंका कर्ता नहीं है:—

गाथा:—**जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।**
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ १०९॥

संस्कृतार्थः—यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥ १०९ ॥

सामान्यार्थः—जो शुभ व अशुभ भाव यह आत्मा करता है उस भावका कर्ता यह आत्मा निश्चयसे होता है। और वह भाव उस आत्माका कर्म्म होता है तथा उस भावका भोक्ता वही आत्मा होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(आदा) यह आत्मा चिदानंदमई एक स्वभावकी अपेक्षासे एक रूप होनेपर भी साता तथा असाताकी उदयकी अवस्थामें तीव्र या मंद स्वादरूप वा सुख दुःखरूप अपने दो भेद करता हुआ (जं सुहं असुहं भावं करेदि) जो शुभ या अशुभ भाव करता है (तस्स) उस भावका स्वतंत्ररूपसे (खलु कत्ता) स्पष्टपने कर्ता होता है। और (तस्स) उस आत्माका (तं कम्मं) वह शुभ व अशुभ परिणाम भावकर्म (होदि) होता है क्योंकि वह भाव आत्माद्वारा किया गया है। (दु) तथा (सो अप्पा) वह आत्मा (तस्स) उस शुभ व अशुभ भाव कर्म्मका (वेदगो) भोगनेवाला होता है क्योंकि यह आत्मा स्वतंत्ररूपसे उन भावोंको भोक्ता है। द्रव्य कर्म्मोंको नहीं भोक्ता है। विशेष यह है कि अज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चय स्वरूप अशुद्ध उपादानकी अपेक्षा मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि भावोंका ही कर्ता होता है ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म्मोंका कर्ता नहीं होता। आत्माको द्रव्य कर्मका कर्ता असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षासे कहा गया है। इस कारण इस अशुद्ध निश्चको निश्चयकी संज्ञा दी गई है। तौ भी शुद्ध निश्चयकी अपेक्षासे इस अशुद्ध निश्चयको व्यवहार ही कहते हैं। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि हे भगवन् आपने कहा कि यह आत्मा अशुद्ध उपादान रूपसे रागादिक भावोंका कर्ता है तब क्या इस उपादानके शुद्ध या अशुद्ध रूपसे दो भेद होते हैं? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि उपाधिरूप जो उपादान होता है उसको अशुद्ध उपादान कहते हैं जैसे गर्म लोहेका पिंड अग्निकी उपाधिसे गर्म है इसी तरह द्रव्य कर्मोंकी उपाधिके वशसे आत्मा अशुद्ध होता है इसीको अशुद्ध उपादान कहते हैं। उपाधि रहित उपादानको शुद्ध कहते हैं जैसे सुवर्णमें पीतपना आदि गुण स्वभावसे हैं, व अनंतज्ञान आदि गुण सिद्ध भगवानमें स्वभावसे हैं व उष्णत्व आदि गुण अग्निमें हैं। स्वाभाविक शुद्ध गुणोंके आधारको शुद्ध उपादान कहते हैं। इस तरह शुद्ध या अशुद्ध उपादानका स्वरूप व्याख्यानके समय सब जगह याद रखना योग्य है। भावार्थ-यह आत्मा उपादान रूपसे अपने ही भावोंका कर्ता और भोक्ता है ऐसा जान यह आत्मा पर द्रव्योंका कर्ता है यह भ्रम त्यागने योग्य है॥ १०९ ॥

आगे कहते हैं कि कोई भी उपादान कारणसे पर द्रव्य सम्बन्धी भाव नहीं किया जासक्ता है:—

गाथा:—जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्ण दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ ११० ॥

संस्कृतार्थः—यो यस्मिन् गुणो द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ॥ १०१ ॥

सामान्यार्थः—जो गुण जिस द्रव्यमें होता है वह अन्य द्रव्यमें नहीं बदल सक्ता है। जब एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं बदलता है तब वह कैसे अन्य द्रव्यको अन्यरूप परिणमन करा सक्ता। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो गुणो) जो चेतन या अचेतन गुण (जह्मि दव्वे) जिस चेतन या अचेतन द्रव्यमें अनादि सम्बन्धसे स्वभावसे ही वर्त्तन कर रहा है (सो) वह चेतन या अचेतन गुण (अण्ण दव्वे) अन्य द्रव्यमें (दु ण संकमदि) नहीं बदलता है (सो) वह चेतन या अचेतन गुण (अण्णम्) अपने गुणीसे दूसरे द्रव्यरूप (असंकंतो) नहीं बदलता हुआ (कह) किसतरह (तं दव्वं) उस अन्य द्रव्यको (परिणामए) परिणमन करावेगा अर्थात् उपादान कारणसे किसी भी तरहसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप व एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं परिणमन करता है। भावार्थ—हर एक द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें ही परिणमन करता है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सक्ता न चेतन अचेतन हो सक्ता है और न अचेतन चेतन हो सक्ता है, इसलिये ऐसा निश्चय करना योग्य है कि आत्मा उपादान रूपसे पर पदार्थोंका कभी कर्ता नहीं हो सक्ता। इस गाथासे सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है ॥ ११११ ॥

इसीको फिर भी दृढ़ करते हैं:—

गाथाः—दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥ ११२ ॥

संस्कृतार्थः—द्रव्यगुणस्य च आत्मा न करोति पुद्गलमयकर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्त्ता ॥११२॥

सामान्यार्थ—यह आत्मा पुद्गलमई कर्ममें न तो पुद्गलमई द्रव्यको करता है और न गुणको। इन दोनोंको नहीं करता हुआ आत्मा किस प्रकार उस पुद्गलमई कर्मका कर्ता हो सक्ता है? शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(दव्वगुणस्स य आदा न कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि) जैसे कुम्हार कर्ता मिट्टीके बने हुए कलशनामा कर्मके विषयमें मिट्टी द्रव्यका जो कि जड़ स्वरूप है व मिट्टीके वर्णादि गुणोंका इसतरह करनेवाला नहीं है जैसे मिट्टी कलशको तन्मई होकर बनाती है। ऐसे ही यह आत्मा भी पुद्गलमई द्रव्यकर्मके विषयमें पुद्गलमय द्रव्यकर्म जड़ स्वरूपको व उसके वर्णादि गुणोंको तन्मयहोकर नहीं करता है (तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता) जब यह आत्मा पुद्गल द्रव्यको व उसके वर्णादि गुणोंको इन दोनोंको भी तन्मई होकर नहीं करता है तब पुद्गल कर्मके विषयमें वह जीव कैसे कर्ता हो सक्ता है। अर्थात् किसी भी तरह नहीं होता है। क्योंकि चेतन अपनेसे भिन्न पर स्वरूप अर्थात् अचेतनरूप नहीं परिणमन करता है। इससे यह कहा गया कि जैसे स्फटिक पत्थर निर्मल है तो भी जपा पुष्प आदि परकी उपाधि

लगनेसे उसरूप परिणमन कर जाता है। तैसे कोई भी सदाशिव नामका सदा मुक्त और अमूर्त्त होने पर भी परकी उपाधिसे परिणमन करके जगत्‌को बनाता है। इस कथनका निराकरण किया गया। क्योंकि मूर्त्तिक पदार्थ स्फटिक है इसीसे उसमें मूर्त्तिक उपाधिका संबंध घट सक्ता है परन्तु जो सदामुक्त और अमूर्तिक है उसके किस तरह मूर्त्तिककी उपाधि लग सक्ती है ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं लग सक्ती। जैसे सिद्ध जीवमें मुक्त अवस्थामें पुद्गलमई उपाधि नहीं होसक्ती। परन्तु अनादि कालसे कर्मबंध प्राप्त जीव द्रव्यके जो कि शक्ति रूप शुद्ध निश्चयसे अमूर्त है।तौ भी व्यक्तिरूप व्यवहारसे मूर्तिक है। इस मूर्त्तिक उपाधिका दृष्टान्त घटता है यह भावार्थ है। **भावार्थ**—आत्मा शुद्ध निश्चयसे पर द्रव्य या पर गुणका कर्ता नहीं होता है। अशुद्ध जीवके कर्मोंके उदयके वश अशुद्ध भावरूप परिणमन होता है अर्थात् उसके औपाधिक भाव होते हैं परन्तु शुद्ध जीवके साथ पुद्गल द्रव्य कुछ नहीं कर सक्ते। इसी तरह यह भी सिद्ध किया कि सदा मुक्त अमूर्त्त ईश्वरके कोई औपाधिक भाव नहीं होसकता जिससे वह जगत्‌को बनावे।

इसतरह चार गाथाओंके द्वारा निश्चयनयकी मुख्यतासे व्याख्यान किया गया॥ १११॥

आगे कहते हैं कि आत्मा द्रव्य कर्मोंको करता है ऐसा जो कहा जाता है सो केवल उपचार मात्र है—

गाथा:—**जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स य पस्सिदूण परिणामं।**
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण॥ ११२॥

संस्कृतार्थः—जीवे हेतुभूते बंधस्य च दृष्ट्वा परिणामं।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण॥ ११२॥

सामान्यार्थ—जीवके निमित्त कारण होने पर कर्मबंधकी पर्याय होती है ऐसा देख कर जीवने यह कर्म किया है, ऐसा उपचार मात्र कहा जाता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स य पस्सिदूण परिणामं) परम उपेक्षा संयमकी भावनामें परिणमन होता हुआ अभेद रत्नत्रय लक्षण स्वरूप भेदज्ञानकी प्राप्ति न होनेपर मिथ्यात्त्व व रागद्वेषादि जीवकी परिणतिके निमित्त होते हुए कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मबंधरूप इसी तरह परिणमन करते हैं जैसे पुद्गल मेघोंका समूह चन्द्रमा व सूर्यके मंडल आदिके संयुक्त योग्य कालके निमित्त होते हुए इन्द्र धनुष आदि रूप परिणमन कर जाते हैं। इसतरह द्रव्यकर्म बंधके परिणामको अर्थात् द्रव्य कर्म्म बंधकी पर्यायको देख करके (जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण) जीवने यह कर्म्म किया है ऐसा उपचार मात्र कहा जाता है। **भावार्थ**—जैसे संध्याकालमें मेघोंकी घटाओंके रहते हुए तथा चंद्रमा या सूर्य मंडलके रहते हुए आकाशके तिष्ठे हुए पुद्गल इन्द्र धनुषके आकार परिणमन कर जाते हैं इसी तरह जीवके रागद्वेषादि परिणामोंके निमित्त होते हुए द्रव्यकर्म्मवर्गणाएं द्रव्यकर्म्मरूप परिणमन कर जाती हैं। इसी कारणसे व्यवहारमें जीवको पुद्गलद्रव्य कर्म्मका कर्त्ता कहते हैं॥ ११२॥

आगे इसी उपचार मात्र कर्ता कर्मपनेको दृष्टान्त और दार्ष्टान्तसे दृढ़ करते हैं।

गाथाः—जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥ ११३ ॥

संस्कृतार्थः—योधैः कृते युद्धे राज्ञाकृतमिति जल्पते लोकः।
तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥ ११३ ॥

सामान्यार्थ—जैसे योद्धाओंने युद्ध किया हो परन्तु लोग यही कहते हैं कि राजाने युद्ध किया। ऐसे ही व्यवहार नयसे यह कहनेमें आता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप होनेके कारणसे यह आत्मा न तो पुद्गल कर्मको उत्पन्न करता है, न करता है, न बांधता है, न परणमाता है, और न ग्रहण करता है तथापि व्यवहार नयसे ऐसा करता है ॥ ११३ ॥

इसी वातको फिर भी कहते हैं:—

गाथाः—उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्य वत्तव्वं ॥ ११४ ॥

संस्कृतार्थः—उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ॥ ११४ ॥

सामान्यार्थः—व्यवहार नयके अभिप्रायसे यह कहना योग्य है कि यह आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, व कराता है, बांधता है, परिणमन कराता है व ग्रहण करता है। **विशेषार्थ**—अनादि कालसे कर्मबंधकी पर्याय होनेके कारणसे वीतराग स्वसंवेदन लक्षण भेदज्ञानके अभावसे रागद्वेषादि परिणामोंसे स्निग्ध अर्थात् चिकना होता हुआ यह आत्मा कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यको जैसे कुम्हार घटको करता है इस तरह द्रव्यकर्मोंको उत्पन्न करता है, व करता है, बांधता है, परिणमन कराता है व ग्रहण करता है यह सब व्यवहार नयके अभिप्रायसे कहना योग्य है व व्याख्यान करना योग्य है, अथवा प्रकृतिबंधको पैदा करता है, स्थितिबंधको करता है, अनुभाग बंधको बांधता है। व प्रदेशबंध रूप परणमन करता है। इसतरह जैसे गर्म तपा हुआ लोहेका पिंड चारों तरफसे जलको खींचकर ग्रहण करता है इसी तरह रागी आत्मा अपने सर्व आत्माके प्रदेशोंके द्वारा कर्मबंधको ग्रहण करता है यह अभिप्राय है ॥ ११९ ॥

अब इस ही व्याख्यानको दृष्टान्त और दार्ष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

गाथाः—जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ ११५ ॥

संस्कृतार्थः—यथा राजा व्यवहारेण दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहाराद्द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ ११५ ॥

सामान्यार्थ—जैसे राजा व्यवहार नयसे प्रजाके दोष और गुणोंको पैदा करनेवाला है ऐसा कहा जाता है, तैसे यह जीव व्यवहार नयसे पुद्गल द्रव्यके पुण्य पाप गुणोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसा कहा जाता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जह) जैसे (राया) देशका पालक राजा (ववहारा) व्यवहार नयसे (दोस गुणुप्पादगोत्ति) दोष सहित तथा दोष रहित मनुष्योंमें दोष और गुणोंको पैदा करनेवाला है ऐसा (आलविदो) कहा जाता है (तह) तैसे (जीवो) यह जीव (ववहारा) व्यवहार नयसे (दव्वगुणुप्पादगो) पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी पुण्य पाप रूपी गुणोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसा (भणिदो) कहा जाता है। **भावार्थ**—पर सम्बन्धसे होती हुई क्रियाको किसी एककी क्रिया कहना व्यवहार है। प्रजामें सज्जन और दुर्जन व सुआचरणी और दुराचरणी व विद्वान और मूर्ख मनुष्योंको देखकर अन्य राज्यसे आए हुए दर्शकगण यही मानते हैं कि यहकि राजाके ही सुप्रबन्ध और कुप्रबन्धका यह फल है और यदि सुप्रबन्ध देखते हैं तो यह कहते हैं कि यहांका राजा गुणोंका पैदा करनेवाला है और यदि कुप्रबन्ध देखते हैं तो कहते हैं कि यहांके राजामें विवेक नहीं, यह दोषोंको ही उत्पन्न करनेवाला है। यद्यपि लोगोंका सुधरना व विगड़ना उनहीके ऊपर है। राजा निमित्तकारण है इसीसे ऐसा कहनेमें आता है। इसी तरह यह पुद्गलमई द्रव्य कर्म्म ही अपने उपादान कारणसे पुण्य या पापरूप परणमन करता है, परन्तु इस परणमनमें निमित्त-कारण रागी जीवका परिणाम है इसीसे इस जीवको कर्मका कर्त्ता कहते हैं:—इसतरह व्यवहार नयकी मुख्यतासे ४ सूत्र पूर्ण हुए ॥११६॥

इस तरह द्विक्रियावादीका निराकरण करते हुए संक्षेप व्याख्यानकी मुख्यतासे ११ गाथाएं पूर्ण हुई।

यहां शिष्यने शंका की कि आपने इस बातका व्याख्यान बारम्बार किया है कि निश्चय करके यह आत्मा द्रव्य कर्मोंको नहीं करता है इस कथनसे ही द्विक्रियावादीका निराकरण सिद्ध होता है फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करना तो पिष्टपेषण मात्र है। इसका समाधान आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है हेतु भाव और हेतुमद् भावका व्याख्यान बतलानेके लिये ऐसा करनेमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि निश्चयसे यह आत्मा द्रव्यकर्मोंको नहीं करता है यह तो हेतु है इसी ही हेतुसे द्विक्रियावादीका निराकरण सिद्ध होता है यह हेतुमद् भाव है—ऐसा जानना चाहिये।

इस तरह पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी पीठिकारूप महाधिकारके व्याख्यानमें पूर्वमें कहे प्रमाण "जदि सो पुग्गल दव्वं करिज्ज" इत्यादि गाथा २ से संक्षेप व्याख्यान किया है फिर १२ गाथाओंसे इसी ही का विशेष व्याख्यान किया है। इसके पीछे ११ गाथाओंमें इसीका संकोचरूप विशेष वर्णन करके समुदायरूप २५ गाथाओंमें द्विक्रियावादीका निषेध करते हुए तीसरा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

चौथा अंतर अधिकार।

अथानंतर 'सामण्ण पच्चया' इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठक्रमसे ७ गाथा पर्यंत चार मूल आश्रवके कारणोंके कर्मका कर्तापना मुख्यतासे है ऐसा व्याख्यान करते हैं। इन ७ गाथाओंके मध्यमें जैनमतमें शुद्ध निश्चयसे अर्थात् शुद्ध उपादान रूपसे यह जीव कर्म नहीं करता है प्रत्यय ही कर्म करते हैं ऐसा कहते हुए गाथाएं ४ हैं। अथवा अशुद्ध निश्चयकी विवक्षासे जो लोग जीवके कर्मका कर्तापना नहीं मानते हैं अर्थात् एकान्तसे ऐसा कहते हैं कि जीव कर्ता नहीं होसकता है वे लोग सांख्य मतके अनुसार चलनेवाले हैं उनके ऐसा माननेमें कई दोष आते हैं। एक दोष तो यह है कि यदि जड़ प्रत्यय (कर्मजड़) ही कर्मको करेंगे और जीव नहीं करेगा तब जीव उन कर्मोंका वेदक अर्थात् भोगनेवाला नहीं होसक्ता। दूसरा दोष यह है कि उनके मतमें एकांतसे जीव कर्मको करता ही नहीं है इससे जीव सर्वथा अकर्ता सिद्ध होजायगा। इसके पीछे तीन गाथाओंमें यह कथन है कि शुद्ध निश्चयसे अर्थात् शुद्ध उपादान रूपसे जीव और जड़ प्रत्ययोंका एकपना जैन मतके अभिप्रायसे नहीं है। अथवा पूर्वमें कही हुई रीतिसे जो नयोंके भेदको नहीं चाहते हैं उनको भी दोष आते हैं। एक दोष तो यह है कि यदि एकांतसे जीव और जड़ प्रत्ययोंकी एकता मानी जायगी तो जीवका अभाव होगा अर्थात् जीव जड़ होजायगा। दूसरा दोष यह है कि यदि एकांतसे जीव और प्रत्ययोंको भिन्न२ ही माना जायगा तो संसारका अभाव होजायगा क्योंकि जीव सदा शुद्ध दशाहीमें रहेंगे। इस तरह चौथे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि निश्चय करके मिथ्यात्व आदि पुद्गल प्रत्यय ही कर्मको करते हैं--

गाथाः—**सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।**
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा॥ ११६॥

संस्कृतार्थः—सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तारः।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः॥ ११६॥

सामान्यार्थः—प्रकटपने सामान्य प्रत्यय बंधके कर्ता चार कहे गए हैं। सो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानने योग्य हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—निश्चयनयसे अभेदकी अपेक्षासे एक पुद्गल ही बंधका कर्ता है। भेदकी अपेक्षासे (चउरो सामण्ण पच्चया) चार मूल प्रत्यय (खलु) स्फुटरूपसे (बंधकत्तारो) बंधके करनेवाले हैं (भण्णंति) ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। उत्तर प्रत्यय तो बहुत हैं। सामान्यका यह अर्थ है कि जिसमें विवक्षाका अभाव हो। यही अर्थ सदा जानना चाहिये ("विवक्षाया अभाव सामान्यमिति सामान्य शब्दार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्यः") अर्थात् जहां अनेक भेदोंका ख्याल न

किया जाय वहीं सामान्यका प्रयोग होता है। (मिछत्तं अविरमणं कसाय जोगाय) वे मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ऐसे चार (वोद्धव्वा) जानने योग्य हैं॥ ११६ ॥

गाथा:—**तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।**
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११७॥

संस्कृतार्थः—तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमांतः ॥ ११७ ॥

सामान्यार्थ—उन चारोंके तेरह भेद कहे गए हैं वे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगि गुणस्थान तक हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(तेसिं) उन ४ प्रत्ययोंके (पुणोवि य) फिर भी (भेदो दु) गुणस्थानके भेदसे (इमो) यह (तेरसवियप्पो) तेरह विकल्प (भणिदो) कहे गए हैं। वे (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (आदी) को आदि ले (चरमंतं) अंतिम (सजोगिस्स जाव) सयोगि गुणस्थान तक हैं। **भावार्थ**—पूर्व बंधे हुए कर्मोदयकी अपेक्षासे मूल प्रत्यय तो एक ही है उसके भेद किये जांय तो ४ हैं और भी भेद किये जांय तो १३ गुणस्थान हैं। यह गुणस्थान यद्यपि जीवके भाव हैं तथापि इनकी संज्ञा द्रव्य कर्मोंके उदयसे होती है इसीसे इनको पुद्गलमयी प्रत्यय कहते हैं यही आगामी बंधके कारण हैं ॥ ११७ ॥

गाथा:—**एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।**
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥ ११८ ॥

संस्कृतार्थ—एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ ११८ ॥

सामान्यार्थ—यह मिथ्यात्व आदि भाव प्रत्यय शुद्ध निश्चय नयसे प्रकटपने अचेतन हैं क्योंकि पुद्गलकर्मोंके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं। और यदि यह कर्मोंको करते हैं तो उनसे पृथक् यह आत्मा शुद्ध निश्चयसे उनका भोगनेवाला नहीं है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**:-(एदे) यह मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आदि भावप्रत्यय अर्थात् कर्मबंधके कारण (खलु) शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे स्फुट रूपसे (अचेदणा) अचेतन हैं शुद्ध ज्ञान चेतनासे रहित हैं (जम्हा) क्योंकि (पुग्गलकंमुदयसंभवा) यह भाव पुद्गलकर्मोंके उदयसे उत्पन्न हैं। जैसे स्त्री और पुरुष दोनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ पुत्र है उसको उसकी माताकी अपेक्षासे देवदत्ताका यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं दूसरे कोई पिताकी अपेक्षासे यह देवदत्तका पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इस कथनमें कोई दोष नहीं है दोनों ही ठीक हैं तैसे ही जीव और पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न यह मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि भावकर्म हैं, सो अशुद्ध निश्चय

व अशुद्ध उपादानरूपसे तो चेतन हैं अर्थात् जीव सम्बन्धी हैं। तथा शुद्ध निश्चयनयसे व शुद्ध उपादानरूपसे ये अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं, जड़ हैं क्योंकि शुद्ध आत्मामें इनका सम्बन्ध नहीं पाया जाता। तथा परमार्थसे विचारा जाय तो यह एकान्तसे न तो जीव रूप हैं न पुद्गलरूप हैं परंतु जैसे फिटकरी और हलदीके संयोगसे एक जुदा परिणाम उपजता है ऐसे ही जीव और पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुए विभावभाव हैं। वास्तवमें सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे यह मिथ्यात्व व रागादिभाव असलमें कुछ भी नहीं हैं। यह अज्ञानसे उत्पन्न कल्पितभाव हैं। इस कथनसे यह कहा गया कि जो कोई एकान्तसे ऐसा कहते हैं कि यह रागादिक भाव जीव सम्बन्धी हैं अथवा कोई कहते हैं कि यह पुद्गल सम्बन्धी हैं। इन दोनोंके भी वचन मिथ्या हैं क्योंकि पूर्वमें कहे हुए स्त्री और पुरुषके दृष्टांतके समान जीव और पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं। यदि कोई प्रश्न करे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयसे यह भाव किसके हैं तो यही कहा जायगा कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयसे इनका अस्तित्व ही नहीं है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है (ते जदि कम्मं करंति) यदि वे मिथ्यात्व आदि प्रत्यय कर्मोंको करते हैं तो करो इसमें जीवका क्या हुआ। अर्थात् शुद्ध निश्चय नयसे जीवका कुछ विगाड़ नहीं हुआ क्योंकि शास्त्र इस विषयमें सहमत ही है कि "सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया" अर्थात् 'द्रव्यसंग्रह' के अनुसार सर्व ही जीव शुद्ध निश्चयसे शुद्ध हैं। क्योंकि शुद्ध निश्चय नय शुद्ध स्वरूपकी ही अपेक्षा रखती है इसलिये उस अपेक्षासे विचार किया जाय तो यह प्रत्यय इस आत्माका कुछ अहित नहीं कर सक्ते परंतु व्यवहारमें तो करते ही हैं ऐसा कहा जाता है। यहांपर शिष्यने कहा कि यह जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जब मिथ्यादृष्टि होता है तब अपने मिथ्यात्व रागद्वेषादि भावकर्मोंको भोगता है जब भोगता है तब यह कर्ता भी होगा, इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है (अप्पा तेसिं वेदको णवि) आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे उन कर्मोंका भोक्ता नहीं है। जब भोक्ता नहीं है तब कर्त्ता भी कैसे होगा? अर्थात् शुद्ध निश्चयनयसे नहीं होगा अथवा जो एकान्त नयसे विना शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे आत्मा कर्त्ता नहीं है ऐसा कहते हैं उनके लिये भी दूषण आते हैं। वे दूषण इस प्रकारसे आते हैं कि यदि यह आत्मा एकान्तसे अकर्ता ही माना जायगा तो जैसे शुद्ध निश्चय नयसे अकर्त्ता है तैसा व्यवहारसे भी अकर्ता प्राप्त होजायगा, तब सर्वथा प्रकारसे अकर्त्ता होजाने पर इस संसारका ही अभाव होजायगा क्योंकि जब आत्मा अपने भाव नहीं करेगा तब न बंधेगा, न मुक्त होगा। दूसरा दोष यह आयगा कि उनके ही मतसे वह भोगनेवाला नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है ऐसा माननेपर सांख्यमती आत्माको अकर्त्ता कहते हुए जो उसे भोगनेवाला मानते हैं उनके मतका घात होजायगा। भावार्थ—आत्मा व्यवहारसे भाव कर्मादिकोंका कर्ता है परंतु शुद्ध निश्चय नयसे नहीं है। यह कर्म कर्त्तापना

व कर्म भोक्तापना आदि भाव अशुद्ध जीवकी अपेक्षासे हैं परंतु शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे नहीं हैं ॥ ११८ ॥

गाथाः—**गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा।**
तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११९ ॥

संस्कृतार्थः—गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवो कर्त्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥ ११९ ॥

सामान्यार्थ—यह गुणस्थान नामके प्रत्यय कर्मोंको करते हैं इसलिये शुद्ध निश्चय नयसे जीव इन कर्मोंका कर्त्ता नहीं है किन्तु गुणस्थान कर्म्म करते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जम्हा) क्योंकि (एदे) यह (गुणसण्णिदा) गुणस्थान रूप (पच्चया दु) प्रत्यय (कम्मं) कर्मोंको (कुव्वंति) करते हैं। (तह्मा) इसलिये (जीवः) यह आत्मा (अकत्ता) शुद्ध निश्चयसे उन कर्मोंका कर्त्ता नहीं है किन्तु (गुणा य) यह गुणस्थान ही (कंमाणि) कर्मोंको (कुव्वंति) करनेवाले हैं। **भावार्थः**-शुद्ध निश्चय नय जो शुद्ध आत्मस्वरूपको वतलाने वाली है उसकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय तो यह आत्मा कर्मका कर्त्ता नहीं है। गुणस्थान सम्बन्धी भाव जो इस जीवके मोह और योगके निमित्तसे होते हैं कर्मोंको वांधने वाले हैं। गुणस्थान से अतीत शुद्ध जीव भावकर्म, द्रव्यकर्म, और नोकर्म्मके कर्त्तापनेसे दूर है।

इस प्रकार शुद्ध निश्चयसे प्रत्यय ही कर्मोंको करते हैं ऐसा व्याख्यान करते हुए चार गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ११९ ॥

आगे कहते हैं कि एकान्त करके जीव और प्रत्ययोंका एकपना नहीं है।
इस सम्बन्धमे तीन गाथाएं हैं:—

गाथाः—**जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तहं जदि अणण्णो।**
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ १२० ॥

संस्कृतार्थः—यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥ १२० ॥

सामान्यार्थः—जैसे इस जीवके साथ ज्ञानदर्शनोपयोगकी एकता है तैसे यदि क्रोधादि प्रत्ययों (कर्मबंधकारणों) की भी एकता हो जाय तो जीव और अजीवकी इस-तरह बिल्कुल एकता प्राप्त हो जायगी। दोनोंमें भेद न रहेगा॥ **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जह) जैसे (जीवस्स) इस आत्माका (उवओगो) ज्ञानदर्शनोपयोग (अणण्णो) जीवके साथ अनन्य है—तन्मयी है क्योंकि इनको किसी भी तरह जीवसे अलग नहीं किया जा सक्ता, जैसे अग्निसे उष्णताको अलग नहीं कर सक्ते (तह) तैसे (जदि) यदि (कोहोवि) क्रोध भी (अणण्णो) जीवके साथ तन्मई होजावे, एकान्त करके एकमेक हो जावे तो क्या दूषण

प्राप्त होगा। इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि (एवं) इसतरह अभेद मानने पर (जीवस्स) शुद्ध निश्चयसे सहज ही शुद्ध अखंड एक ज्ञानदर्शनोपयोगमई जीवको (अजीवस्स) ज्ञानदर्शनोपयोग रहित जड़ पदार्थके साथ (अणण्णत्तम) अनन्यपना अर्थात् एकपना (आवण्णं) प्राप्त हो जायगा भावार्थः—स्वरूपकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो यह क्रोधादि भाव इस जीवके निजभाव नहीं हैं। अतएव यदि इनको निजभाव मान लिया जाय तो इस जीवका लक्षण ही भ्रष्ट होजाय तब यह सदाकाल इस जीवमें पाये जावें फिर पुद्गलकृत विकार है ऐसा कहने हीमें न आवे। अर्थात् पुद्गलके सम्बन्ध की अपेक्षा न रहे तब शुद्ध जीवका अभाव हो जावे ॥ १२० ॥

फिर भी कहते हैं—

गाथाः—एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्म कम्माणं॥ १२१ ॥

संस्कृतार्थः—एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाजीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ॥ १२१ ॥

सामान्यार्थः—इस लोकमें इस प्रकारसे जो जीव हैं सो ही नियमसे अजीव हैं ऐसी एकता माननेसे यह दोष होगा कि देहादि नोकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा मिथ्यात्वादिभावकर्मके साथ इस जीवकी एकता हो जायगी। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(इह) इस लोकमें (एवं) पूर्व सूत्रमें व्याख्यानके अनुसार (जो दु जीवो) जो कोई जीव है (सो चेव दु) सो ही (णियमदो) नियमसे अर्थात् निश्चयसे (अजीवो) अजीव है (तह) ऐसा होने पर (अयम्) यह (दोसो) दोष होगा कि जीवका अभाव हो जायगा, क्योंकि (पच्चय णोकम्म कंमाणं) मिथ्यात्वादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंके साथ (एयत्ते) उस जीवकी एकता होजायगी। जो जीव निश्चयसे कर्मांजन रहित परमानन्दमई लक्षणको रखनेवाला है ॥ १२१ ॥

इसीको और भी कहते हैं:—

गाथाः—अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ १२२ ॥

संस्कृतार्थः—अथ पुनः अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥ १२२ ॥

सामान्यार्थ—पूर्वोक्त जीवके अभावके दूषणको जानकर यह कहा जाय कि क्रोध अन्य है तथा उपयोगवान् आत्मा अन्य है। तो जैसे क्रोध अन्य है वैसे द्रव्यकर्म प्रत्यय व नोकर्म भी अन्य हैं ऐसा होगा। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(अह पुण) अथवा फिर भी पूर्वमें कहे हुए जीवके अभाव स्वरूप दोषके भयसे यदि आपका यह अभिप्राय हो कि

(कोहो) यह क्रोध (अण्णं) जीवसे अन्य है तथा (ओगप्पगो चेदा) विशुद्ध ज्ञानदर्शन मई आत्मा (अण्णुव) क्रोधसे अन्य (हवदि) होता है। तब (जह) जैसे (कोहो) जड़ क्रोध निर्मल चैतन्य स्वभावमई जीवसे भिन्न है (तह) तैसे (पच्चय कम्मं णोकम्मं) प्रत्यय कर्म और नोकर्म (अवि) भी (अण्णं) भिन्न हैं। ऐसा आपका कथन शुद्ध निश्चयसे हमको मान्य ही है परन्तु एकान्त करके नहीं, क्योंकि जब हम ऐसा व्याख्यान करेंगे कि शुद्ध निश्चय करके यह जीव न कर्त्ता है, न भोक्ता है तथा क्रोधादि भावोंसे भिन्न है तब दूसरे पक्षमें यह भी कहना होगा कि व्यवहार नयकी अपेक्षा इस जीवके कर्त्तापना और भोक्तापना तथा क्रोधादिकोंसे अभिन्नपना है क्योंकि निश्चय और व्यवहार नय एक दूसरेकी अपेक्षाको रखनेवाली हैं। अर्थात् जब निश्चय नयसे कथन करेंगे तब व्यवहार कथन गौण रूपसे और जब व्यवहार नयसे कथन करेंगे तब निश्चय नय गौण रूपसे मानना योग्य है। जैसे यदि कोई कहे कि यह देवदत्त दाहनी आंखसे देखता है तब विना कहे हुए ही यह सिद्ध हो जाता है कि यह बाई आंखसे नहीं देखता है इसी तरह निश्चय और व्यवहारका सापेक्षपना है। जब यह कहा गया कि निश्चयसे जीव अकर्त्ता है तब व्यवहारसे कर्त्ता है यह स्वतः ही सिद्ध हो गया। परन्तु जो कोई निश्चय व्यवहारके परस्पर अपेक्षा रूप नय विभागोंको नहीं मानते हैं, वे सांख्य सदाशिव मतके अनुसार माननेवाले हैं। उन लोगोंके मतमें जैसे शुद्ध निश्चय नयसे जीव कर्त्ता नहीं है और क्रोधादिकोंसे भिन्न है तैसे व्यवहारसे भी अकर्त्ता व क्रोधादिसे भिन्न है। ऐसा मानने पर जैसे सिद्धोंके कर्मबंध नहीं होता वैसे और जीवोंके क्रोधादि परिणमनके न होनेके कारण कर्मबंध न होगा। जब जीवोंके कर्मबंध नहीं तब संसारका अभाव हो जायगा। संसारका अभाव होने पर इस जीवके सदा मुक्तपना प्राप्त हो जायगा। पस यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है, क्योंकि संसार प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाई दे रहा है, अनुभवमें आ रहा है। इससे एकान्त मानना मिथ्या है। इस तरह प्रत्यय और जीवका एकांतसे एकपना निषेधते हुए तीन गाथाएं पूर्ण हुई॥१२२॥

अब यहां शिष्यने शंका की कि यह जीव शुद्ध निश्चयसे अकर्त्ता है जब कि व्यवहारसे कर्त्ता है यह बात बहुत प्रकारसे आपने वर्णन की है। परन्तु ऐसा मानने पर जैसे इस जीवके व्यवहार नयसे द्रव्य कर्मोंका कर्त्तापना है वैसे रागद्वेषादि भावकर्मोंका भी है। तब यह द्रव्य कर्म और भाव कर्म दोनों एक हो जावेंगे। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है। रागद्वेषादि भावकर्मोंका कर्त्तापना इस आत्माके जिस व्यवहार नयसे कहा जाता है उसकी अशुद्ध निश्चय नय संज्ञा है। यह संज्ञा इसीलिये है कि जिससे तुमको रागादि भावकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म इन दोनोंका तारतम्य अर्थात् ठीक २ फर्क मालूम पड़े। वह तारतम्य क्या है? इसके लिये कहते हैं कि द्रव्य कर्म तो अचेतन जड़ हैं जब कि भाव कर्म चेतन

हैं तथापि शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षामें इनको अचेतन ही कहते हैं क्योंकि यह अशुद्ध निश्चय भी शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा व्यवहार ही है क्योंकि आत्माका असली स्वरूप नहीं है। यहां यह भावार्थ है कि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे इस आत्माके द्रव्य कर्मोंका कर्त्तापना और भोक्तापना कहा जाता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे रागद्वेष आदि भाव कर्मोंका कर्तापना इस जीवके है परन्तु यह अशुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा व्यवहार ही है ऐसा जानना।

इस तरह पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंका पीठिकारूप महाअधिकारमें सात गाथाओंसे चौथा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे 'जीवेण सयं बद्धं' इत्यादि गाथाको आदि लेकर आठ गाथा तक सांख्यमतानुसारी शिष्यको समझानेके लिये जीव और पुद्गलका अपरिणामीपनाका निषेध करते हुए उनमें किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते हैं। इन आठ गाथाओंमें पुद्गलके परिणामीपनेके व्याख्यानकी मुख्यता करके गाथाएं तीन हैं। इसके बाद जीवके परिणामीपनाकी मुख्यता करके गाथाएं पांच हैं। इस तरह पांचवें स्थलमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

अब सांख्यमतके अनुकूल माननेवाले शिष्यके वास्ते यह साधन करते हैं कि किसी अपेक्षासे इस पुद्गलके परिणमन करनेका स्वभाव है।

गाथाः—**जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।**
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि॥ १२३॥

संस्कृतार्थः—जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति॥ १२३॥

सामान्यार्थः—इस जीवमें यह पुद्गलकर्म्म अपने आप स्वभावसे बंधा हुआ नहीं है और न यह अपने आप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म्म रूप परिणमन करता है—यदि पुद्गलद्रव्यको ऐसा माना जायगा तो यह अपरिणामी हो जायगा॥ **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवे) इस आधारभूत संसारी जीवमें (सयं) स्वयं स्वभावसे (ण बद्धं) यह पुद्गलकर्म बन्धा हुआ नहीं है क्योंकि जीवको तो सर्वदा शुद्ध ही माना जाता है (ण सयं) और न यह पुद्गल स्वयं स्वभावसे (कम्म भावेण) पुद्गल द्रव्यकर्म्मकी पर्याय रूप (परिणमदि) परिणमन करता है क्योंकि सर्वथा नित्य ही है। अर्थात् परिणमनशील नहीं है। (जदि) यदि (इणं) इस प्रकारका (पुग्गलदव्वं) यह पुद्गलद्रव्य आप सांख्य मतवालोंके मतसे माना जायगा (तदा) तब (अप्परिणामी होदि) यह पुद्गल द्रव्य अपरिणामी ही हो जायगा। **भावार्थः**—आचार्य्य सांख्य मतके ऐसे श्रद्धानको रखनेवाले व्यक्तिसे कह रहे हैं कि तू जीवको सदा शुद्ध मानता है इससे तो यह कहा नहीं जा सका कि जीवमें पुद्गल कर्मोंका बंधन है और पुद्गलको सदा ही नित्य मानता है, इससे यह भी नहीं कहा जा सका कि पुद्गल

स्वयं कर्मरूप हो गया है अतएव पुद्गलको सदा परिणाम रहित मानना पड़ेगा ॥ १२३ ॥

ऐसा एकान्त माननेसे क्या दोष आयगा उसे आचार्य अगली गाथामें कहते हैं-

गाथा:—**कम्मइयवग्गणादि य अपरिणमतीहि कम्मभावेण।**
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२४ ॥

संस्कृतार्थः—कार्मणवर्गणासु चापरिणममाणासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२४ ॥

सामान्यार्थ—कार्माण वर्गणाओंके द्रव्य कर्मरूपसे नहीं परिणमन करने हुए सांख्य मतके अनुसार संसारका अभाव हो जायगा। अथवा सांख्यका मत सिद्ध होगा। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(कम्मइय वग्गणादिय) और कार्माण वर्गणाओंके (कम्मभावेण) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप (अपरिणमतीहि) नहीं परिणमन करते हुए (संसारस्स) इस संसारका अर्थात् संसारी जीवोंकी अवस्थाका (अभावो) अभाव (पसज्जदे) प्राप्त हो जायगा। (संख समओ वा) सांख्य समयके समान। भावार्थ—जैसे सांख्य मतमें जीवको सर्वथा शुद्ध अकर्त्ता माना है ऐसा ही जब आत्मा हो जायगा तब सब आत्माएं सदा सिद्ध रूप ही रहेंगी ऐसा माननेसे संसारका अभाव हो जायगा ॥ १२४ ॥

फिर भी कहते हैं-

गाथा:—**जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।**
तं सयमपरिणमंतं कह तु परिणामयदि णाणी ॥ १२५ ॥

संस्कृतार्थः—जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं तु परिणामयति चेतयिता ॥ १२५ ॥

सामान्यार्थः—यह जीव पुद्गल द्रव्योंको कर्मभाव रूपसे परिणमन कराता है यदि ऐसा कहा जाय तो जो पुद्गल स्वयम् परिणमन नहीं करते उनको यह ज्ञानी आत्मा किस-तरह परिणमन करावेगा। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवो) यह जीव कर्त्ता (पुग्गल दव्वाणि) कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्योंको (कम्मभावेण) ज्ञानावरणादि कर्म रूपमे अर्थात् द्रव्य कर्मकी पर्य्यायमें हठसे (परिणामयदे) परिणमन कराता है। इससे संसारके अभाव होनेका जो दोष दिया है वह नहीं लग सक्ता। यदि ऐसा कहा जाय तो यह भी नहीं बन सक्ता क्योंकि (तं सयम परिणमंतं) स्वयम् अपने आप नहीं परणमन करनेवाले पुद्गल द्रव्यको (णाणी) यह ज्ञानी आत्मा (कह तु) किस प्रकारसे (परिणामयदि) परणमन करावेगा?॥ विशेष कहते हैं कि यह आत्मा उस पुद्गल द्रव्यको जो परिणमन कराता है, तो क्या स्वयं परिणमनेवाले पुद्गल द्रव्यको कराता है कि नहीं परिणमने वाले पुद्गल द्रव्यको कराता है।? इसका खुलासा इस प्रकार है कि जो परिणमन करनेवाला नहीं है उसे कोई नहीं परिणमन

करा सक्ता क्योंकि जिस वस्तुमें स्वयं जिस बातके करने या होनेकी शक्ति नहीं होती उस शक्तिको कोई दूसरा नहीं पैदा कर सक्ता । जैसे जपा कुसुमका फूल आदि स्फटिकमणिके साथ जिस तरहकी उपाधिको पैदा करते हैं उस तरहकी उपाधि काष्ठके खंभे आदिमें नहीं कर सक्ते । क्यों नहीं कर सक्ते इसका कारण यही है कि स्फटिकमें स्वयं जपा कुसुमके रंग रूप परिणमन करनेकी शक्ति है परंतु काष्ठ स्तम्भमें नहीं है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो स्वयं जिस तरहका परिणमनशील नहीं है उसे कोई भी उस तरह परिणमन नहीं करा सक्ता । अब यदि एकान्तसे यह कहा जाय कि जो परिणमन करनेवाला है उसे परिणमन कराता है सो यह कहना भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियोंमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं है । तब इस रूपसे माननेपर जीवके निमित्तरूपी कर्ताके विना भी यह पुद्गल स्वयं ही कर्म रूपसे परिणमन कर जावेगा ऐसा होनेपर यह दूषण आयगा कि घट पट स्तंभ आदि पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणतिको प्राप्त कर लेंगे, सो यह प्रत्यक्ष विरोध प्राप्त होगा । क्योंकि यह बात संभव नहीं है । आत्माके निमित्तरूप भावोंके कारणसे कर्मवर्गणा-योग्य पुद्गल ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप परिणमन करते हैं । इससे यह बात सिद्ध हुई कि पुद्गलोंमें स्वभावमई कथंचित् परिणमनकी शक्ति है उस परिणमन शक्तिके होते हुए वह पुद्गल जिस अपनी संबन्धिनी ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म्मकी पर्य्यायको करता है उस पर्य्यायका-यही पुद्गल उपादान कारण है। जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टीका पिंड ही है । जीव नहीं है । जीव तो केवल निमित्त कारण मात्र ही है। यह सर्व कथन हेय तत्व है— अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तु स्वरूप नहीं है । इस कारण पुद्गलसे भिन्न शुद्ध परमात्माकी भावनामें परिणमन करते हुए भेद रहित रत्नत्रय स्वरूपभेद ज्ञानसे जानने योग्य चिदानंदमई एक स्वभावको रखनेवाला अपना शुद्ध आत्मस्वरूप ही शुद्ध निश्चयसे उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेके योग्य है। परन्तु भेदरूप रत्नत्रय अभेद रत्नत्रयका साधक है इससे व्यवहारनयसे उपादेय है। भावार्थः—व्यवहारकी अपेक्षा भेदरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंको आगमके मार्गके अनुसार आराधन करनेसे परम आत्मज्ञानरूप रत्नत्रयकी एकता प्राप्त होगी इसलिये जबतक ऐसी आत्मानंदी दशा न हो, व्यवहार रत्नत्रयका सेवन कार्यकारी है । ऊपरकी गाथाओंमें यह सिद्ध किया गया कि सांख्यमत जो जीवको सदा शुद्ध मानता है उसके मतसे संसार नहीं बनता क्योंकि स्वयं बिना निमित्तके पुद्गलकर्म जीवके साथ लगकर उसे अशुद्ध नहीं कर सक्के और यदि पुद्गलको सदा नित्य माना जायगा तो भी कर्म्मका सम्बन्ध जीवके नहीं बन सक्ता—क्योंकि ऐसी दशामें पुद्गलके परिणमन नहीं हो सक्ता । जिसमें स्वयं परिणमन शक्ति नहीं हो उसे कोई अन्यरूप नहीं कर सक्ता। इससे यह सिद्ध किया कि जीवके

अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमन करती हैं—इससे पुद्गलमें किसी अपेक्षा कर्म्मरूप होनेकी शक्ति है। यह सर्व कथन व्यवहार नयसे है अतः जो शुद्धात्मिक रसका अनुभव करना चाहें उनके लिये हेय है—त्यागने योग्य है, उन्हें तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मज्ञानकी ही शरण लेकर स्वभाव गुप्त रहना योग्य है॥ इस प्रकार तीन गाथाओंका शब्दार्थ कहा गया। इसमे तो व्याख्यानमें शब्दार्थ हुआ ऐसा जानना, इसीमें व्यवहार और निश्चय नयसे अर्थ समझाया सो नयार्थ जानना। इसीमें सांख्य मतके प्रति यथार्थ मतको कहा सो मतार्थ जानना तथा आगममें तो यह अर्थ प्रसिद्ध स्वयं है ही इससे आगमार्थ हुआ। इस कथनमें हेय और उपादेयका व्याख्यान किया सो भावार्थ जानना। इस तरह शब्द, नय, मत, आगम, और भाव इन पांच अर्थोंसे कथन किया। व्याख्यानकालमें सर्व ठिकाने यथासंभव इसीतरह पांच अर्थोंसे कथन जानने योग्य है। इसतरह पुद्गलमें परिणमन होता है इसको स्थापित करते हुए तीन गाथाएं पूर्ण हुईं॥ १२५॥

आगे सांख्य मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यको कहते हैं कि इस जीवमें कथंचित् परिणमन स्वभाव है। पांच गाथाएं हैं।

गाथाः—**ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।**
जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि॥ १२६॥

संस्कृतार्थः—न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति॥ १२६॥

सामान्यार्थ—यदि ऐसा माना जायगा कि यह जीव स्वयं कर्मोंमें बंधा नहीं है और न स्वयं क्रोधादि भावोंसे परिणमन करता है तब तुम्हारे मतके अनुसार यह जीव अपरिणामी हो जावेगा। ऐसा आचार्य सांख्यमतीसे कहते हैं। **विशेषार्थः**—(ण सयं बद्धो कंमे) स्वयं स्वभावसे एकांत करके यह आत्मा कर्मोंसे बंधा हुआ नहीं है क्योंकि सदा मुक्त है (ण सयं कोहमादीहिं परिणमदि) और न स्वयं द्रव्यकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रहित भाव क्रोधादि रूपसे परिणमन करता, है क्योंकि एकान्तसे अपरिणामी है (जदितुज्झजीवो एस) यदि हे सांख्यमती तुम्हारा जीव ऐसा प्रत्यक्ष रूपसे है (तदा अप्परिणामी होदि) तब यह जीव अपरिणामी ही हो जावेगा। **भावार्थ**—आचार्य सांख्यमतके समान बुद्धि रखने वाले शिष्यको कहते हैं कि यदि कर्मोंके बंधनेमें व रागद्वेषादि भावोंके होनेमें आत्माका कुछ भी दोष व कृत्य नहीं माना जायगा तो यह आत्मा एकान्तसे परिणमन रहित कूटस्थ अपरिणामी ही हो जावेगा॥ १२६॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार अपरिणामी होने पर क्या दूषण होगाः—

गाथाः—**अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।**
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥ १२७॥

संस्कृतार्थः—अपरिणममाने हि स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२७ ॥

सामान्यार्थ—यदि यह जीव स्वयं क्रोधादि भावरूप नहीं परिणमन करे तो संसारका अभाव सांख्यमतकी तरह हो जायगा। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जीवे कोहाधिएहिं भावेहिं सयं हि अप्परिणमंतं) इस जीवके स्वयं क्रोधादि भावोंसे नही परिणमन करते हुए (संसारस्स अभावो पसज्जदे) संसारका अभाव प्राप्त हो जायगा (संख समओवा) सांख्यमताकी तरह। भावार्थ जैसे सांख्यमत जीवको सर्वथा अकर्ता मानता है, क्रोधादि भावरूप परिणमन करता है ऐसा नहीं मानता तथा सदा शुद्ध ही कल्पना करता है तैसे यदि माना जायगा तो सर्व ही जीव शुद्ध रहेंगे, कोई संसारी नहीं रहेगा। ऐसी दशामें संसारका अभाव प्राप्त हो जायगा ॥ १२७ ॥

आगे कहते हैं कि यदि ऐसा माना जायगा तो क्या दोष आयगा-

गाथाः—पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं ॥ १२८ ॥

संस्कृतार्थ—पुद्गलकर्मक्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वेन।
तं स्वयमपरिणमन्तं कथं परिणमयति क्रोधत्वम् ॥ १२८ ॥

सामान्यार्थः—पुद्गल कर्म मई द्रव्य क्रोध इस जीवको क्रोध भावरूप परिणमन कराता है ऐसा माननेसे ठीक न होगा क्योंकि जो जीव स्वयं परिणमनेवाला नहीं है उसे किसतरह क्रोधरूप कोई परिणमा देगा। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(पुग्गलकम्मंकोहो) उदयमें आया हुआ पुद्गलमई द्रव्य क्रोध कर्ता बनकर (जीवं) इस अपरिणामी जीवको (कोहत्तं) भाव क्रोधरूप (परिणामएदि) हठसे अर्थात् बलात्कारसे परिणमन करा देवे। भावार्थ-जीवको जबर्दस्ती क्रोधरूप कर देवे। यदि ऐसा माना जायगा तो (तं सयं अपरिणमंतं) उस स्वयं न परिणमन करनेवाले जीवको (कह) किसतरह (कोहत्तं) क्रोध भावरूप यह पुद्गल-कर्म (परिणामएदि) परिणमन करा देगा?। यह पुद्गलकर्म क्या स्वयं अपरिणमन करनेवाले को परिणमन कराता है या परिणमन करनेवालेको परिणमन कराता है यह विचार है। इसका समाधान यह है कि जो स्वयं अपरिणामी कूटस्थ है उसे कोई नहीं परिणमन करा सक्ता क्योंकि जिसमें स्वयं जो शक्ति विद्यमान नहीं है उसे अन्य कोई कदापि पैदा नहीं कर सक्ता यह न्याय है। "नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते" जैसे जपाकुसुमके फूल स्फटिक आदि मणियोंमें उपाधि पैदा करते हैं ऐसी उपाधि काष्ठके खंभे आदिकोंमें नहीं कर सक्के क्योंकि स्फटिकमें स्वयं परिणमन शक्ति है जब कि काष्ठमें नहीं है। यदि एकान्तसे ऐसा माना जाय कि जीव स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन कर जाता है तो यह दोष होगा कि

उदयमें प्राप्त द्रव्य क्रोधके निमित्तके विना भी यह जीव भाव क्रोधादिरूप परिणमन कर जावे, क्योंकि वस्तुकी शक्तियां दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखतीं। ऐसा होनेपर मुक्तात्मा सिद्ध जीव भी द्रव्य कर्मके उदयका निमित्त न होनेपर भी भाव क्रोधादि रूप प्राप्त होजावेंगे। यह बात मानी नहीं जासक्ती, आगमसे विरोधरूप है। भावार्थः—एकान्त करके ऐसा भी नहीं माना जा सक्ता कि यह जीव कूटस्थ रहता है और बलपूर्वक द्रव्यक्रोध आकर जीवको क्रोधवान बना देता है और न यह माना जा सक्ता है कि यह जीव स्वयं ही क्रोधादि भाव रूप हो जाता है दोनों ही दशाओंमें संसार और मुक्तिका अभाव हो जायगा ॥ १२८ ॥

इसी बातको और भी कहते हैं:—

गाथाः—अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदि मिच्छा ॥१२९॥

संस्कृतार्थः—अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा तव बुद्धिः।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥ १२९ ॥

सामान्यार्थ—यदि स्वयम् ही यह आत्मा भाव क्रोधरूप परिणमन कर जाता है यह तुम्हारी बुद्धि होगी तब यह कहना कि द्रव्यक्रोध जीवको भाव क्रोधरूप परिणमन कराता है मिथ्या हो जावेगा। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ-(अह) अथ पूर्व दोष आनेके भयसे यदि (एस दे बुद्धी) यह तुम्हारी बुद्धि होगी कि (अप्पा) यह आत्मा (स्वयं) द्रव्यकर्मके उदयकी अपेक्षा विना (कोह भावेण) भाव क्रोधरूप (परिणमदि) हो जाता है तो हे शिष्य (कोहो) द्रव्यक्रोध कर्त्ता होकर (जीवस्स) इस जीवके (कोहं) क्रोध (परिणामयदे) कर देता है (इदि) ऐसा जो तुमने पूर्व गाथामें कहा है सो (मिच्छा) असत्य हो जावेगा। भावार्थ-सांख्यका मत असत्य ठहर जावेगा ॥ १२९ ॥

इस तरह आचार्य पूर्व पक्ष करके अब उसके उत्तरमें जो यथार्थ बात है उसको समझाते हैं:—

गाथाः—कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १३० ॥

संस्कृतार्थः—क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥ १३० ॥

सामान्यार्थ—यह ही आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होकर क्रोधी, मानसे उपयुक्त होकर मानी, मायासे उपयुक्त होकर मायावी तथा लोभसे उपयुक्त होकर लोभी होजाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ-जैसे घड़ेके आकार परिणमे हुए मिट्टीके पिंड़के पुद्गल घटरूप हीं हो जाते हैं अथवा अग्निरूप परिणमता हुआ लोहेका गोला अग्निरूप हो जाता है तैसे यह (आदा एव) आत्मा ही (कोहवजुत्तो) क्रोधके उपयोग रूप परिणमन

करता हुआ (कोहो) क्रोधरूप हो जाता है, (माणुवजुत्तो) मान कषायके उपयोग रूप परिणमन करता हुआ (माणम्) मानरूप हो जाता है, (माउवजुत्तो) मायानारके उपयोग रूप परिणमता हुआ (माया) मायारूप हो जाता है तथा (लोहुवजुत्तो) लोभके उपयोगरूप परिणमतां हुआ (लोहो हवदि) लोभरूप हो जाता है। इस तरह इस जीवके स्वभावमें रहनेवाली परिणमन शक्ति सिद्ध है। इस परिणमन शक्तिके रहते हुए यह जीव अपने जिस परिणामको करता है उस भावका वही उपादान कर्त्ता होता है। द्रव्यकर्म्म पुद्गलोंका उदय तो निमित्त मात्र ही है तैसे ही वही जीव विकार रहित चैतन्यके चमत्कारमई शुद्ध भावसे परिणमता हुआ सिद्धात्मा भी हो जाता है। भावार्थ—जीवमें स्वयं परिणमन करनेका स्वभाव है जब द्रव्यकर्म्मोंका निमित्त होता है तब औपाधिक भावरूप परिणमन करता है और जब द्रव्यकर्म्मोंका निमित्त नहीं होता तब अपने शुद्ध भावोंमें परिणमन करता है। जैसे स्फटिकको जपा कुसुमकी उपाधि हो तब तो रक्त वर्ण आदिरूप परिणमता है परन्तु जो उपाधि न हो तो अपने शुद्ध श्वेत वर्णरूप ही परिणमन करता है। यहां विशेष यह है कि पहले (जावणवेदि विसेसंतरं) इत्यादि छः गाथाओंमें अज्ञानी और ज्ञानी जीवका संक्षेपसे व्याख्यान किया था तथा कहा था कि पुण्य, पाप आदि सात पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग परिणामसे उत्पन्न हुए हैं और यह परिणाम उसी समय घट सक्ते हैं जब कि जीव और पुद्गलोंमें कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होवे सो यहां उसी ही कथंचित् परिणमन स्वभावको प्रकट करनेके लिये ही विशेष व्याख्यान किया है। अथवा "सामण्ण पच्चया खलु चउरो" इत्यादि ७ गाथाओंसे जो पहले कहा था कि शुद्ध निश्चयसे चार सामान्य प्रत्यय ही मिथ्यात्वादि कर्म्म करते हैं जीव नहीं करता यह जैन मत है, परंतु यदि एकांत करके ऐसा माना जायगा तो जैसे सांख्यमतको आत्माके अकर्त्ता माननेसे यह दोष आता है कि संसारका अभाव हो जायगा उससे भी विशेष दोष जैन मतमें आजायगा क्योंकि वहां अर्थात् सांख्यमतमें एकांतसे कर्त्तापनाका अभाव करनेसे संसारका अभाव रूप दोष आयगा और यहां जैन मतमें एकांतसे यदि जीवको अपरिणामी माना जायगा तो संसारका अभाव रूपी दूषण आजायगा। इसलिये यह सिद्ध है कि भाव कर्म्मरूप परिणमन होना ही इस जीवका कर्त्तापना और भोक्तापना है ऐसा कहा जाता है। भावार्थ—जीव अपने परिणामोंका कर्त्ता है, शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध भावोंका और अशुद्ध निश्चय नयसे अशुद्ध भावोंका ऐसा वस्तुस्वरूप यथार्थ जान कर निश्चय करना। इसतरह यह जीव परिणामी है ऐसे व्याख्यानकी मुख्यतासे पांच गाथाएं पूर्ण हुई॥ १२० ॥

इस तरह पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी पीठिका रूप महा अधिकारके विषैं जीव और पुद्गल परिणामी हैं इस व्याख्यानकी मुख्यता करके आठ गाथाओंके द्वारा पांचमा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

"जावण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दुण्हंपि अण्णाणी तावदु" इत्यादि२ गाथाओंसे अज्ञानी जीवका स्वरूप पहले कथन किया है, वही अज्ञानी जीव जब "विसयकसाओ गाढ़" इत्यादि विषय कषायोंमें दृढ़ होकर अशुभ उपयोगसे परिणमन करता है तब पाप, आश्रव और बंध इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है। और जब मिथ्यात्त्व व कषायोंके मंद उदय होने पर भोगोंकी इच्छारूप निदान बंध आदि रूपसे दान पूजा आदिके भावोंसे परिणमता है तब पुण्य पदार्थका भी कर्त्ता होता है। यह कथन संक्षेपसे पहले सूचित किया है। तथा इसके बाद 'जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हपि णादं होदि विसेसंतरंतु' इत्यादि चार गाथाओंमें ज्ञानी जीवका स्वरूप संक्षेपसे प्रकट किया है कि वही ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग भावमें परिणमन होते हुए अभेद रत्नत्रयमई लक्षणको धरनेवाले भेदज्ञान रूप जब परिणमन करता है तब निश्चय चारित्रके साथ २ होनेवाला अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शनका धारी होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है। यह भी संक्षेपसे पहले निरूपण किया है। तथा वही ज्ञानी जीव निश्चयसम्यक्त्वके अभावमें जब सराग सम्यक्त्वरूप परिणमन करता है तब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस श्रद्धाको करते हुए परंपरासे निर्वाणके कारणभूत तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थका भी कर्त्ता होता है यह बात भी पहले कथन की है—यह सर्व कथन जीव और पुद्गलके कथंचित् परिणामी होने ही पर हो सकता है सो यह कथंचित् परिणामीपना भी पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंके संक्षेपसे सूचित करनेके लिये पहले ही संक्षेपसे कहा था फिर भी जीव और पुद्गलके परिणामीपनेके व्याख्यानके कालमें विशेष करके कथन किया गया। वहां इसतरह कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर अज्ञानी और ज्ञानी जीवके अर्थात् गुणी पदार्थोंके पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंका खुलासा बतलानेके लिये संक्षेपसे व्याख्यान किया था अब यहां ज्ञानमई और अज्ञानमई गुणोंकी मुख्यता करके व्याख्यान किया जाता है। जीव और अजीव गुणीकी मुख्यतासे नहीं। यह कथन भी उन्हीं पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी संक्षेपमें सूचनाके अर्थ करते हैं।—

सो यहां 'जो संगं तु मुइत्ता' इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे ९ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं तिनमें पहले तीन गाथाओंमें ज्ञान भावकी मुख्यता है उसके पश्चात् छः गाथाओंमें कहा है कि ज्ञानी जीवके ज्ञानमई भाव होता है और अज्ञानी जीवके अज्ञानमई भाव होता है ऐसा मुख्यतासे कथन है। इस तरह छठे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका हुई।

आगे कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होनेपर वह ज्ञानी जीव ज्ञानमई भावका कर्त्ता होता है ऐसा अभिप्राय मनमें धरकर आगेके तीन सूत्र प्रतिपादन करते हैं:-

गाथाः—**जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पयं सुद्धं।**
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥ १३१॥

संस्कृतार्थः—यः संगं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमात्मानं शुद्धं।
तं निस्संगं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ १३१ ॥

सामान्यार्थः—जो परिग्रहको छोड़कर ज्ञानदर्शनमई शुद्ध आत्माको जानता है अर्थात् अनुभव करता है उसको परमार्थ स्वरूपके ज्ञाता परिग्रहरहित साधु जानते हैं। **शब्दार्थ-सहितविशेषार्थ**–(जो) जो कोई परम साधु (संगं) बाह्य और अभ्यंतर २४ प्रकारकी परिग्रहको (मुइत्ता) छोड़कर (उवओगम्) शुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोगरूप तथा (सुद्धं) भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादिसे रहित शुद्ध (अप्पयं) आत्माको (जाणदि) वीतराग चारित्रके साथ अवश्य होनेवाले भेदज्ञानके द्वारा जानता है–अनुभव करता है (तंसाहुं) उस साधुको (परमट्ठ वियाणया) परमार्थ स्वरूपके ज्ञाता गणधरदेव आदिक (णिस्संगं) संग अर्थात् परिग्रह रहित (विंति) जानते हैं–कहते हैं। **भावार्थ**–जो सर्व परिग्रहको त्याग अपने शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय स्वरूपका अनुभव करता है वही परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ साधु है॥ १३१ ॥

गाथाः—**जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।**
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥ १३२ ॥

संस्कृतार्थः—यः मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानम्।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ १३२ ॥

सामान्यार्थः—जो मोहको छोड़ करके ज्ञान स्वभावसे पूर्ण आत्माको मानता है उसे परमार्थके ज्ञाता गणधरादिकदेव जितमोह साधु जानते हैं या कहते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**-(जो) जो कोई परम साधु (मोहंतु) सर्व चेतन या अचेतन शुभ व अशुभ पर द्रव्योंमें मोहको (मुइत्ता) त्याग करके (णाणसहावाधियं) विकार रहित स्वसंवेदनज्ञानसे परिपूर्ण (आदं) आत्माको (मुणदि) शुभ व अशुभ मन वचन कायके व्यापाररूप तीनों योगोंके त्यागमें परिणमनस्वरूप अभेद रत्नत्रयके लक्षणके धरनेवाले भेदज्ञानके द्वारा जानता है–अनुभव करता है। (तं साहुं) उस साधुको (परमट्ठवियाणया) परमार्थ स्वरूपके ज्ञाता तीर्थंकर परमदेवादिक (जिदमोहं) (जेत मोह अर्थात् मोहको जीतनेवाला (विंति) जानते हैं। इस ही प्रकार गाथामें मोहपदको अलगकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभपरिणाम, अशुभपरिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा, स्पर्शन, इसतरह २० पद रखकर २० सूत्रोंका अर्थ अनुभव करना व व्याख्यान करना योग्य है। इस ही प्रकारसे निर्मल परमचैतन्य ज्योतिमई परिणतिसे विलक्षण अर्थात् विरुद्ध असंख्यात लोकमात्र विभाव परिणाम जानने योग्य हैं। **भावार्थः**—जो रागको जीते वही जितराग साधु है, जो कर्म्मोंको जीते वही जित कर्म्म साधु है, जो इन्द्रिय जनित ज्ञानमई बुद्धिको जीते वही जितबुद्धि साधु है, इसतरह अनुभवकर अपनी आत्माको इन दोषोंसे मुक्त करना योग्य है ॥१३२॥

फिर भी कहते हैं:—

गाथा:—**जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पयं सुद्धं।**
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति॥ १३३॥

संस्कृतार्थ:—यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमात्मानं शुद्धं।
तं धर्मसंगमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदंति॥ १३३॥

सामान्यार्थ—जो कोई साधु शुभोपयोगरूप धर्मको छोड़ करके शुद्ध व ज्ञानदर्शनोपयोगरूप आत्माको जानता है उसको परमार्थके ज्ञाता धर्मकी परिग्रहसे रहित जानते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:**-(जो) जो कोई परम योगीन्द्र स्वसंवेदन ज्ञानमें तिष्टकर (धंमंतु) शुभोपयोग परिणामरूप व्यवहार धर्ममई पुण्यकी संगतिको (मुइत्ता) त्याग करके, अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें परिणमन होते हुए अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानके द्वारा (उवओगं) विशुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोगमें परिणमन करनेवाले तथा (सुद्धं) शुभ व अशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित शुद्ध (अप्पयं) आत्माको (जाणदि) जानता है या अनुभव करता है। (तं) उस परम तपोधनको (परमट्ठवियाणया) परमार्थके जाननेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानी (धंमसंगमुक्कं) विकाररहित अपनेही शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप निश्चय धर्मसे विलक्षण भोगोंकी इच्छास्वरूप व निदान बंध आदि पुण्य परिग्रहरूप व्यवहार धर्मसे रहित (विंति) जानते हैं—भावार्थ—शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म भी मोक्ष मार्गका निरोध करनेवाला है अतः जो इस विकल्पको भी त्याग कर शुद्धोपयोगमें लीन होते हैं वे ही परम साधु हैं। प्रयोजन यह है कि यह जीव कथंचित् परिणामी अर्थात् परिणमन करनेवाला है इसीलिये प्रथम यह जीव शुद्धोपयोग रूपसे परिणमन करता है पीछे मोक्षको साधता है। यदि जीवके परिणामीपना न माने तो जो बंधा है सो बंधा ही रहेगा उसके शुद्धोपयोगरूप शुभोपयोगसे अन्य परिणामका होना नहीं घटेगा और तब ऐसा माननेसे मोक्षका ही अभाव हो जायगा। भावार्थ—यही जीव जब अपने शुभ व अशुभ भावोंको त्याग देता है और शुद्धोपयोगमें परिणमन करता है तब ही मोक्षका साधक हो कर मोक्ष अवस्थाको प्राप्त करलेता है। यदि जीवको अपने परिणामोंकी अपेक्षा परिणामी न मानें तो कूटस्थ होनेसे यह जीव सदा एकसा ही रहेगा अर्थात् कभी भी मोक्षका लाभ नहीं कर सक्ता। परन्तु यह बात कभी मान्य नहीं हो सक्ती। इसतरह शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय परिणाम गुणके व्याख्यानकी मुख्यता करके तीन गाथाएं पूर्ण हुईं॥ १३३॥

आगे कहते हैं कि यह जीव ज्ञान मई तथा अज्ञानमई दोनों प्रकारके भावोंका कर्त्ता कैसे होता है—

गाथा:—**जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।**
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥१३४॥

संस्कृतार्थ:—यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः॥ १३४॥

सामान्यार्थः—जो भाव आत्मा करता है उसी भावका कर्त्ता वह आत्मा होता है। इससे ज्ञानी जीवके तो ज्ञानमयी भाव और अज्ञानी जीवके अज्ञानमई भाव होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जं भावं) जिस परिणामको (आदा) यह आत्मा (कुणदि) करता है (तस्स भावस्स) उस भावका (कत्ता) करनेवाला (सो) वही (होदि) होता है। (णाणिस्स दु) जो भाव अनंत ज्ञान आदि चतुष्टय लक्षणको धरनेवाले कार्यसमयसारको उत्पन्न करनेवाला है, विकल्प रहित समाधिके परिणाममें परिणमन करते हुए कारण समयसार लक्षणको रखनेवाला है तथा सर्व प्रकारके आरंभमें नहीं परिणमन किये हुए है ऐसा भेदज्ञान रूपभाव ज्ञानी जीवके शुद्धात्माकी प्रसिद्धि, प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि, व अनुभवरूप होनेसे (णाणमओ) ज्ञानमयी ही होता है। (अणाणिस्स) परन्तु अज्ञानी जीवके पूर्वोक्त भेद ज्ञानके अभावसे शुद्धात्मानुभव स्वरूपका लाभ न होनेसे (अण्णाणमओ) अज्ञानमयी ही भाव होता है। **भावार्थ**—ज्ञानी जीव आत्मा और परके भेदको भलीप्रकार जानता हुआ अपने शुद्धात्मानुभवमें तल्लीन होता है इससे उसके ज्ञानमई ही भाव होता है। परंतु भेदज्ञान रहित अज्ञानी जीवके पराश्रित औपाधिक अज्ञानमई ही भाव होता है ॥ १३४ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि ज्ञानमई भावसे क्या फल होता है और अज्ञानमई भावसे क्या होता है जिसका उत्तर आचार्य करते हैं:—

गाथाः—**अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।**
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥१३५॥

संस्कृतार्थः—अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥ १३५ ॥

सामान्यार्थ—अज्ञानी जीवके अज्ञानमई भाव होता है जिससे वह कर्मोंको करता है, परन्तु ज्ञानी जीवके ज्ञानमई भाव ही होता है क्योंकि इस भावसे वह कर्मोंको नहीं करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(अणाणिणो) अज्ञानी जीवके अपने आत्माके अनुभवकी भावनासे विलक्षण होनेके कारण (अण्णाणमओ भावो) अज्ञानमई भाव कहा जाता है। क्योंकि (तेण) उस भावसे (कम्माणि) वह कर्मोंको (कुणदि) करता है। (दु) परन्तु (णाणिस्स) सम्यग्ज्ञानी जीवके (णाणमओ) विकाररहित चैतन्यके चमत्कारकी भावनाके आधीन होनेके कारणसे ज्ञानमई भाव होता है क्योंकि (तम्हा) उस ज्ञानमई भावसे ज्ञानी जीव (कम्माणि) कर्मोंको (न कुणदि) नहीं करता है, प्रयोजन यह है कि जैसे थोड़ी भी अग्नि तृणकाष्ठके बड़े भारी ढेरको भी क्षण मात्रमें जला देती है उसी तरह तीन गुप्तिरूप समाधिके लक्षणको रखनेवाली भेदज्ञानरूपी अग्नि अंतर्मूहूर्त्तमें ही बहुत भवोंके एकट्ठे किये हुए कर्मोंके ढेरको जला देती है ऐसा जान कर सर्व कथनका तात्पर्य यह है कि उस ही परम समाधिके भीतर भावना करनी योग्य है।

भावार्थ—ज्ञानमई भाव कर्मबंध छेदक और अज्ञानमई भाव कर्मबंधकारक है इसलिये ज्ञानमई भावकी प्राप्तिका ही यत्न करना योग्य है। ॥१३५॥

आगे कहते हैं कि किसलिये ज्ञानी जीवके ज्ञानमई ही भाव होता है अज्ञानमई भाव नहीं होता तैसे ही अज्ञानी जीवके अज्ञानमई ही भाव होता है ज्ञानमई भाव नहीं होता।

गाथाः—णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१३६॥

संस्कृतार्थः—ज्ञानमयाद्भावाद्ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥ १३६ ॥

सामान्यार्थ—क्योंकि ज्ञानमई भावसे ज्ञानमई ही भाव पैदा होता है इसलिये ज्ञानी जीवके सर्व ही भाव ज्ञानमई ही होते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जम्हा) क्योंकि (णाणमया भावाओ) ज्ञानमई भावसे अर्थात् निश्चय रत्नत्रयमई जीव पदार्थसे (णाणमओ चेव) ज्ञानमई ही (भावो) भाव अर्थात् अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसी मोक्ष अवस्था (जायदे) उत्पन्न होती है। (तम्हा) इसलिये (णाणिस्स) स्वसंवेदन लक्षणको धरनेवाले भेदज्ञानी जीवके (सव्वे भावा) सर्व ही परिणाम (णाणमया) ज्ञानमई अर्थात् ज्ञानसे ही रचे हुए होते हैं। इसका कारण यह है कि उपादान कारणके समान कार्य होता है ऐसा न्यायका वचन है उससे विरुद्ध नहीं होसक्ता। जौ बोनेसे कदापि चावलोंकी पैदाइश नहीं होसक्ती है। **भावार्थ**—जैसी मूल वस्तु होगी वैसी ही अवस्था उसमें प्रकट होगी। आम्रके बीजसे आम्र व अनारके बीजसे अनार ही पैदा होंगे। सम्यग्ज्ञानी जीवके सम्यग्ज्ञान रूप ही परिणाम होवेंगे ॥ १३६ ॥

आगे कहते हैं कि अज्ञानी जीवके अज्ञानमई भाव होवेंगे।

गाथाः—अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १३७ ॥

संस्कृतार्थः—अज्ञानमयाद्भावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
तस्मात्सर्वेभावाअज्ञानमया अज्ञानिनः ॥ १३७ ॥

सामान्यार्थ—अज्ञानमई पदार्थसे अज्ञानमई ही भाव उत्पन्न होता है इसलिये अज्ञानी जीवके सर्व भाव अज्ञानमई होते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(अण्णाणमयाभावा). अज्ञान मई जीव पदार्थसे (अण्णाणो) अज्ञानमई (चेव) ही (भावो) भाव (जायदे) पैदा होता है (तम्हा) क्योंकि (अणाणिस्स) अज्ञानी जीवके अर्थात् शुद्धात्माकी प्राप्तिसे शून्य मिथ्यादृष्टि जीवके (सव्वे भावा) सर्व भाव अर्थात् परिणाम (अण्णाणमया) अज्ञानमई अर्थात् राग-द्वेषादिरूप होते हैं। भावार्थ—जैसा पदार्थ होगा वैसी उसकी पर्याय होगी। इसलिये जो आत्मा आत्मज्ञानसे रहित है उसके सर्व परिणाम अज्ञानमई अवश्य होंगे ॥ १३७ ॥

इसी कथनको दृष्टान्त दार्ष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं:-

गाथा:—कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमइयादुअयादो जह जायंते दु कडयादि॥ १३८॥

गाथा:—अण्णाणमया भावा अण्णाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥ १३९॥

संस्कृतार्थ:—कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः।
अयोमयास्तुअयोमयात् यथा जायंते तु कटकादयः॥ १३८॥

संस्कृतार्थ:—अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति॥ १३९॥

सामान्यार्थ:—जैसे सुवर्णमई पदार्थसे सुवर्णमई ही कुंडलादिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं तथा लोहमई पदार्थसे कड़ी आदि लोहेकी चीजें बनती हैं ऐसे ही अज्ञानमई आत्मासे नाना प्रकारके अज्ञानमई भाव पैदा होते हैं जब कि ज्ञानी आत्माके सर्व ही भाव ज्ञानमई होते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:**-(जह) जैसे (कणकमयाभावादो) सुवर्ण मई पदार्थसे (कुंडलादओ भावा) सुवर्ण मई ही कुंडलादिक पर्यायें (जायंते) पैदा होती हैं क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है ऐसा ही कार्य होता है (दु) परंतु (अयादो) लोहरूप पदार्थसे (अयमइया) लोहारूप (कड़यादी) कड़ी आदि पर्यायें (जायंते) होती हैं। (तहा) तैसे ही (अण्णाणमयाभावा) अज्ञानमई जीव पदार्थसे (बहुविहावि) बहुत प्रकार भी मिथ्यात्व रागद्वेषादिरूप (अण्णाणिणो) अज्ञानमयी अवस्थाएं पैदा होती हैं यहां लोहेका दृष्टान्त लगता है। (दु) परंतु सुवर्णके दृष्टान्तसे (णाणिस्स) ज्ञानी जीवके (सव्वे भावा) सर्व भाव (णाणमया) ज्ञानमई (होंति) होते हैं। इस कथनका विस्तार यह है कि वीतराग स्वसंवेदन भेदज्ञानी जीव जिस शुद्धात्माके भावनारूप परिणामको करता है वह परिणाम सर्व ही ज्ञानमई होता है। फिर उस-ज्ञानमई परिणामसे संसारकी स्थिति अर्थात् कालकी मर्यादाको कम करके स्वर्गोंमें इन्द्र व लौकांतिक देवको आदि लेकर महा ऋद्धिका धारी देव उत्पन्न होता है वहां दो घड़ीमें ही मति श्रुत अवधि ज्ञानरूप भावको प्राप्त कर लेता है। तब अपने सम्यक् विचारसे विमानादि परिवार व विभूतिको जीर्ण तृणके समान गिनता हुआ पंच महा विदेहोंमें जाता है वहां यह देखता है कि यह समवशरण है, वे वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव विराजमान हैं। ये भेद व अभेद रत्नत्रयकी आराधनामें परणमन करनेवाले गणधरादिक देव तिष्ठे हैं जिनका वर्णन पहले परमागममें सुना था वे प्रत्यक्ष दर्शनमें आए ऐसा जानकर धर्ममें विशेष दृढ़वुद्धि हो जाता है और चौथे गुणस्थानके योग्य शुद्धात्माकी भावनाको नहीं त्यागता हुआ निरंतर धर्मध्यानसे देव लोकमें अपने कालको गमाता है। फिर

मनुष्यभवमें आकर राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर परमदेवाधिदेवके पदको प्राप्त करता है। तौ भी पूर्वभवकी वासनाके कारण अर्थात् शुद्धात्माकी भावनाके बलसे भोग्य पदार्थोंमें मोहको नहीं प्राप्त होता है जैसे रामचंद्र व पांडवादि। तब फिर जिन दीक्षाको लेकर सात ऋद्धि व चार ज्ञान मई पर्यायका लाभ करता है उसके पीछे समस्त पुण्य पाप परिणामका त्याग है जहां ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षणको धरनेवाले दूसरे एकत्ववितर्क वीचार शुक्लध्यान रूप विशेष भेदभावनाके बलसे अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखामृत रससे तृप्त होकर सर्व अतिशयोंसे परिपूर्ण तीन लोकसे पूज्य परम अचिंत्य विभूतिविशेषमई केवलज्ञानरूप अवस्थाको प्राप्त करता है यह अभिप्राय है। परन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व व रागद्वेषादिमई अज्ञान भावको प्राप्त होकर नर नारक आदि अज्ञानमई अवस्थाको प्राप्त करता है यह तात्पर्य्य है। **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन करके सहित जो आत्मा है वह सम्यग्ज्ञानी है उस ज्ञानी आत्माके जितने परिणाम होते हैं वे सर्व ज्ञानमई होते हैं क्योंकि वह स्वपर भेद विज्ञानको अंतरंगसे भूलता नहीं है। परन्तु मिथ्यादृष्टी जीवके मिथ्या ज्ञान होता है इसलिये उसके सर्व ही भाव भेद विज्ञानसे शून्य विषयकषायोंकी पुष्टि करनेवाले होते हैं जिनसे यह जीव तीव्र कर्मोंको बांधता है अतएव अनेक प्रकार उद्यम करके सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करनी योग्य है ॥ १३८-१३९॥

इस प्रकार ज्ञानमई व अज्ञानमई भावको कहनेकी मुख्यता करके छः गाथाएं पूर्ण हुईं। इसतरह पूर्वमें कहे हुए प्रकारसे पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंके पीठिकारूप महा अधिकारमें यह व्याख्यान किया गया कि कथंचित् परिणामी होनेके कारणसे ज्ञानी जीव ज्ञानमई भावका कर्ता तैसे ही अज्ञानी जीव अज्ञानमई भावका कर्त्ता होता है इस कथनकी मुख्यतासे नव गाथाओंमें छठा अंतराधिकार समाप्त हुआ।

(सातवां अंतराधिकार।)

आगे कहते हैं कि पूर्वमें कहा हुआ ही अज्ञानमई भाव द्रव्य और भावरूपसे पंचकारणोंसे पांच प्रकार होता है। वह भाव अज्ञानी जीवके अपने आपके बंधका कारण होता है क्योंकि उसके यह रुचि नहीं होती कि शुद्धात्मा ही उपादेय है न वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा जानता है और न उसी अपने शुद्ध स्वरूपको परम समाधि रूपसे भावना करता है। इस तरह इस सातवें अंतराधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

गाथाः—**मिच्छत्तस्सदु उदओ जं जीवाणं अतचसद्दहणं।**
असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं ॥ १४० ॥

संस्कृतार्थः—मिथ्यात्वस्यतूदयो यज्जीवानामतत्त्वश्रद्धानम्।
असंयमस्यतूदयो यज्जीवानामविरतत्त्वम्॥ १४० ॥

सामान्यार्थ—मिथ्यात्व कर्मके उदयका ही यह अर्थ है कि जीवोंको तत्वकी श्रद्धा न हो तथा असंयमके उदयसे जीवोंके विषय कषायोंसे विरक्तपना नहीं होता। **शब्दार्थ सहित**

विशेषार्थ-(जं) जो (जीवाणं) जीवोंको (अतच्चसद्दहणं) अनंत ज्ञानदर्शन सुखवीर्यमय शुद्धात्म तत्व ही ग्रहण करने योग्य है इस रुचिसे विपरीत जो तत्त्वरुचि, श्रद्धा व उपादेय-बुद्धि होती है सो (मिच्छत्तस्स दु उदओ) मिथ्यात्व नाम दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका कार्य है। तथा (जं) जो (जीवाणं) जीवोंके (अविरदत्तं) आत्मसुखके अनुभवको न पाकर विषय कषायोंसे छूटना नहीं होता सो (असंजमस्स दु उदओ) असंयम अर्थात् अप्रत्याख्यानवर्णी कषायका उदय है। भावार्थः-जो मिथ्यात्व और असंयमरूप भाव है वह दर्शनमोहनीय व चारित्र मोह-नीयका कार्य है। इस जीवका निर्मल ज्ञानमई भाव नहीं है इससे बंधका कारण है ॥१४०॥

गाथाः—**अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।**
जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ॥ १४१॥

संस्कृतार्थः—अज्ञानस्यतूदयो जीवानां या अतत्त्वोपलब्धिः
यस्तु कषायोपयोगो स जीवानां कषायोदयः ॥ १४१ ॥

सामान्यार्थः—जो जीवोंके अतत्त्वका जानना है सो अज्ञानका उदय है और जीवोंके कषायमई उपयोग है सो कषायका उदय है। विशेषार्थः—(जीवाणं) जीवोंके (जं) जो (अतच्च उवलद्धी) भेदज्ञानको छोड़कर विपरीतरूपसे परद्रव्यसे एकतारूप होनेका ज्ञान है सो (दुअण्णाणस्स उदओ) तो अज्ञानका उदय है तथा (जोदु) जो कि (कसाउवओगो) शांत स्वरूप आत्माकी प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धोपयोगको छोड़कर क्रोधादि कषायरूप उपयोग है (सो जीवाणं) सो जीवोंके (कसाउदओ) कषायका उदय है। भावार्थः—ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे निज आत्मा और पर द्रव्योंका भेद विज्ञान नहीं होता तैसे ही कषायोंके उदयसे उपयोग मलीन रहता है इससे शुद्धोपयोग नहीं होता॥१४१॥

गाथाः—**तं जाण जोगउदओ जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।**
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा॥ १४२॥

संस्कृतार्थः—तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥ १४२ ॥

सामान्यार्थः—जीवोंके जो चेष्ठारूप उत्साह है उसे योगोंका उदय जानो। जो शुभ कर्तव्यरूप है वह शुभ योग है और जो हिंसादि पापरूप योग है सो अशुभ है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवाणं) जीवोंके (जंतु) जो (चिट्ठ उच्छाहो) मन, वचन, काय-रूप वर्गणाके आधारसे वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न, कर्मोंके ग्रहणमें कारणभूत आत्माके प्रदेशोंका हलन चलनरूप परिस्पंद लक्षणको रखनेवाला प्रयत्नमई व्यापारका उत्साह है (तं) उसको (जोगउदओ) योगोंका उदय (जाण) हे शिष्य तुम जानो। वह योग शुभ व अशुभ रूपसे दो प्रकारका है। (कादव्वो) जो व्रतादि करने योग्य आचरणरूप

योग है सो (सोहणम्) शुभ है (अविरदि भावोवा) तथा जो अव्रतादिरूप वर्जने योग्य है सो (असोहणं) अशुभ योग है भावार्थः—मन, वचन, कायकी वर्गणाके आधारसे और वीर्यांतराय कर्मोंके क्षयोपशमसे जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद होना उसको योग कहते हैं। आधारके कारण उसके तीन भेद अर्थात् मनयोग, वचनयोग और काययोग कहे जाते हैं। वे तीनों दो रूप हैं जब अहिंसादि व्रतरूप मन, वचन, कायोंका परणमन होता है तब शुभ योग और जब हिंसादि पापरूप इनका परणमन होता है तब इन्हें अशुभयोग कहते हैं ॥ १४२ ॥

गाथाः—एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १४३ ॥

संस्कृतार्थः—एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १४३ ॥

सामान्यार्थः—इन ऊपर लिखे कारणोंके होनेपर कार्माणवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मरूप परणमता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एदेसु हेदुभूदेसु) इन मिथ्यात्त्व, अविरति, अज्ञान, कषाय और योगोंके उदयरूप कारण होनेपर (कम्मइयवग्गणागयं जं तु) कार्माणवर्गणा योग्य परिणमा हुआ नवीन अबंधरूप पुद्गलद्रव्य (णाणावरणादिभावेहिं अट्ठविहं) जीवके सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमें एक परिणतिरूप परम सामायिक भावके न होनेपर ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म्मरूप (परिणमदे) परिणमन करता है। भावार्थः—जिस समय इस अशुद्ध आत्माके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्ररूप भाव होता है उस समय अथवा जब यह निर्विकल्पसमाधि भावमें स्थिर नहीं होता है तब योगोंके परिणमन होनेके कारणसे आठ प्रकार जो कार्माणवर्गणा आती हैं सो आठकर्मरूप परिणमन करती हैं॥१४३॥

गाथाः—तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १४४ ॥

संस्कृतार्थः—तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥ १४४ ॥

सामान्यार्थः—जिस समय कार्माणवर्गणा योग्य पुद्गल योगोंके द्वारा आकर इस जीवके साथ बंध जाते हैं उस समय यह जीव अपने मिथ्यात्व आदि भावबंधरूप भावोंका कारण होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जइया) जिस समय (खलु) प्रकटपने (तंकम्मइयवग्गणागदं) इस जीवके योगोंके द्वारा कार्माण वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य आता है और (जीवणिबद्धं) जीवके साथ बंध जाता है (तइयादु) तिस समय अर्थात् जब पूर्वमें कहे हुए उदयमें प्राप्त पांच द्रव्य प्रत्ययोंका निमित्त होता है तब (जीवो) यह जीव अपने२ यथायोग्य गुण-

स्थानोंके अनुसार (परिणामभावाणं) अपने भाव कर्मरूप भावोंका (हेदु) उपादान कारण (होदि) होता है अर्थात् उदयमें प्राप्त द्रव्यकर्म्मके निमित्त होनेपर मिथ्यात्व व रागद्वेषादि रूप भावरूपमे परिणमन करके यह जीव नवीन कर्मबंधका निमित्तकारण होता है–यहां यह भावार्थ है कि उदयमें प्राप्त द्रव्यकर्मरूप कारणोंके होने पर यदि यह जीव अपने स्वभाव भावको छोड़कर रागद्वेषादिरूप भावकर्म्मसे परिणमन करता है तब ही इसके नवीन कर्मोंका बंध होता है केवल कर्मोंके उदयमात्रसे बंध नहीं होता। जैसे घोर उपसर्गोंके आनेपर भी पांडवादि महामुनियोंको बंध नहीं हुआ। यदि कर्मोंके उदयमात्रसे ही बंध माना जायगा तो सर्व जीवोंके सदा संसार ही रहेगा। क्योंकि संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंका उदय रहता है। भावार्थ—पिछले कर्मोंके उदय होनेपर जब जीव अपने स्वरूपसे च्युत व गाफिल होता है तब इसके रागद्वेषादि भाव कर्म्म होते हैं उनके निमित्तसे उसी समय योगोंके द्वारा नवीन पुद्गलकर्म्म आकर जीवके साथ बंध जाता है। यदि यह सम्यग्ज्ञानी हो आत्मतत्वके अनुभवमें तल्लीन हो तो कर्म्म उदयमें आते हुए भी इस जीवके आत्मीक दृढ़ताके होनेसे अपना असर जीवमें नहीं कर सक्ते इससे नए कर्मोंको नहीं बांधते। तब ज्ञानके प्रभावसे कर्मोंके उदय होनेपर भी मंद कषाय रखनेके कारण इसको यदि कभी बंध भी होता है तो बहुत तुच्छ होता है। जब स्वसमाधिमें लीन होता है तब बंध नहीं होता व दसवें गुणस्थान तक कुछ होता भी है तो वह बहुत ही निर्बल अबंधके सदृश होता है। ऐसा होने हीसे संसारी आत्मा कर्मोंसे मुक्त होसक्ता है, जो सदाकाल कर्मोंके उदयके अनुसार बंध हुआ करे तो यह जीव कभी भी मुक्त न हो—सो यह बात नहीं है। आत्माका पुरुषार्थ जब बलिष्ठ होता है तो जड़ कर्म इसका कुछ भी नहीं कर सक्ते। अतएव सर्व हितेच्छु जीवोंको उचित है कि पुरुषार्थको सम्हाल रागद्वेषादि भावोंके ज़ोरसे बचे और शांतरूप भावका अभ्यास कर वर्त्तमानमें भी सुखी हों और आगामी भी तीव्रबंधसे रक्षित हों॥ १४४॥

इस प्रकार पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी पीठिकारूपसे इस महा अधिकारमें पंच गाथाओंके द्वारा यह व्याख्यान किया गया कि अज्ञानभाव पांच कारणरूपसे शुद्धात्म स्वरूपसे भ्रष्ट जीवोंके लिये बंधका कारण होता है इस तरह सातवां अंतर अधिकार पूर्ण हुआ॥१४४॥

आठवां अंतराधिकार।

इसके पीछे यह कहते हैं कि जीव और पुद्गलके परस्पर उपादान कारण नहीं है इस मुख्यतासे तीन गाथाएँ हैं इसतरह आठवें अंतराधिकारकी समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

अब कहते हैं कि जीवका परिणाम कर्मरूप पुद्गलसे भिन्न ही है।

गाथाः—जीवस्सदु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा॥ १४५॥

संस्कृतार्थः—जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥ १४५ ॥

सामान्यार्थ—यदि उपादान कारणभूत जीवके उपादान कारणरूप कर्मोदयके साथ २ रागादिभाव होते हैं ऐसा माना जायगा तो इस प्रकारसे जीव और पुद्गलकर्म दोनों ही रागादि रूप हो जायँगे। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवस्स दु) इस उपादान कारणरूप जीवके (कम्मेण य सह) उपादान कारणरूप कर्मोदयके साथ २ यदि (रागादी परिणामा) रागादिक भाव होते हैं (एवं) ऐसा मानेंगे तो (जीवो कम्म च दोवि) जीव और कर्म्म दोनोंके ही उपादान कारण होनेसे जैसे फिटकरी और हल्दीके उपादान कारणमें लाल रंगपना हो जाता है ऐसे (रागादिम्) रागादि भावरूपपना (आवण्णा) प्राप्त हो जायगा। यदि जीवके साथ २ पुद्गलको भी रागादि भावोंका उपादान कारण माना जायगा तो पुद्गलको चेतनपना हो जायगा यह बात प्रत्यक्षमें विरोधरूप है। **भावार्थः**—जैसे फिटकरी और हल्दी दोनोंका सम्बन्ध लाल रंगको पैदा करता है इस कार्यमें दोनों ही उपादान कारण हैं ऐसा कारणपना जीव और पुद्गलोंका रागादिभावोंके साथ नहीं है। और यदि दोनोंको उपादान कारण माना जायगा तो पुद्गलमें चेतनपना मानना पड़ेगा यह बात हो नहीं सकती ॥ १४२ ॥

फिर रागादिभावोंका उपादान कर्ता कौन है उसी पर आगे भी विचार करते हैं—

गाथाः—**एक्कस्स दु परिणामा जायदि जीवस्स रागमादीहिं।**
ता कम्मोदयहेदू हि विणा जीवस्स परिणामो ॥ १४६ ॥

संस्कृतार्थः—एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥ १४६ ॥

सामान्यार्थः—यदि एक मात्र इस जीवके ही रागादि भाव होते हैं ऐसा मानेंगे तो यह दोष आवेगा कि कर्मोदयके हेतुके विना भी जीवके रागभाव प्राप्त हो जायगा। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—यदि पूर्वमें आते हुए दोषसे बचनेके भयसे यह आपका अभिप्राय हो कि (एक्कस्स) एकले (जीवस्स) जीवके उपादान कारण होनेसे (रागमादीहिं) रागादिक भाव कर्म पैदा होते हैं (ता) तो यह दोष आयगा कि (कम्मोदय हेदूहिंविणा) कर्म्मोंके उदयका निमित्तपना न होनेपर भी (जीवस्स) शुद्ध जीवके (परिणामो) रागादिक भाव प्राप्त हो जायगा। यह प्रत्यक्ष विरोधरूप बात है क्योंकि मुक्तात्माके कभी भी रागादि भावोंसे छुटकारा नहीं होसकता तथा आगमसे भी विरोध आयगा। दूसरा व्याख्यान यदि इस गाथाका इस प्रकार किया जाय कि एक जीवके अशुद्ध उपादान कारणरूप होनेसे कर्मोदयके उपादान कारणके विना रागादिक परिणाम होते हैं तो ठीक ही है। यहां संस्कृत टीकामें उपादानका विशेषण अशुद्ध नहीं किया है परंतु हमारी समझमें होना चाहिये इस लिये लिखा है। तात्पर्य यह है कि

यह संसारी जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहार नयने ज्ञानावरणीय आदि द्रव्य कर्मोका कर्त्ता है तथा अशुद्ध निश्चय नयसे रागादि भावोंका कर्त्ता है। यद्यपि द्रव्यकर्मोके कर्त्तापनेको कहते हुए जब अनुपचरित असद्भूतव्यवहार नयका प्रयोग करते हैं तब इस अपेक्षासे अशुद्ध निश्चयको निश्चय संज्ञा देते हैं तौ भी शुद्ध आत्मद्रव्यको विषय करनेवाली शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षासे इस अशुद्ध निश्चयको व्यवहार ही कहते हैं। भावार्थः—द्रव्यकर्म जड़रूप हैं इससे आत्माके स्वभावसे भिन्न इससे असद्भूत हैं व आत्मामें बंधरूप हैं केवल उपचार मात्र नहीं हैं इससे अनुपचरित हैं इसीसे अनुपचरित असद्भूत नयका प्रयोग किया है। रागादि भाव आत्माके ही हैं पर अशुद्ध आत्माके हैं इसीसे इनके लिये अशुद्ध निश्चय नयका व्यवहार किया है। शुद्ध आत्माके यह रागादि भाव नहीं हो सक्ते इससे जीवके रागादि भाव हैं यह कहना भी व्यवहार मात्र है ॥ १४६ ॥

आगे कहते हैं कि निश्चयसे इस जीवसे भिन्न ही पुद्गल कर्मका परिणाम होता हैः-

गाथाः—**एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।**
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४७ ॥

संस्कृतार्थ—एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १४७ ॥

सामान्यार्थः—निश्चयसे एक पुद्गल द्रव्यका द्रव्यकर्म रूपसे परिणाम होता है इससे जीवके मिथ्यात्व आदि भावोंके उपादान हेतुके विना द्रव्यकर्मका परिणाम होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(एकस्स पोग्गलमदव्वस्स) एक उपादान कारणरूप कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यका (कम्मभावेण) द्रव्यकर्म रूपसे (परिणामो) परिणमन होता है (ता) तिस कारणसे (जीवभावहेदूहिं विणा) जीव सम्बन्धी मिथ्यात्व रागादि परिणामोंके उपादान कारणके विना भी (कम्मस्स परिणामो) द्रव्यकर्मका परिणमन होता है। **भावार्थः**—द्रव्य कर्मोका उपादान कारण पुद्गलद्रव्य ही है जीवके भाव नहीं। यद्यपि निमित्त कारण अवश्य जीव सम्बन्धी भाव हैं। उपादान कारण वही होता है जो स्वयं कालान्तरमें उसरूप परिणमन कर जावे अतएव पुद्गलके परिणामोंका उपादान कारण पुद्गल और जीवके भावोंका उपादान कारण जीव है ॥ १४७ ॥

इस प्रकार पुण्य पापादि सात पदार्थोंके पीठिकारूप महा अधिकारमें जीव और पुद्गलमें परस्पर उपादान कारणका निषेध है इस मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा आठवां अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

नववां अंतराधिकार।

अथानंतर व्यवहारसे यह जीव कर्मोसे बंधा है निश्चयसे बंधा नहीं है इत्यादि विकल्प

रूप नयके पक्षपातसे रहित शुद्ध पारिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंसे भिन्न शुद्ध समयसारको चार गाथाओंसे कहते हैं। यह नवमें अंतर अधिकारकी समुदाय पातनिका है।

आगे अब शिष्यने प्रश्न किया कि आत्मामें कर्मोंका बंधन व स्पर्शन है कि नहीं इसका समाधान आचार्य नय विभागके द्वारा कहते हैं।

गाथा:—**जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।**
सुद्धणयस्स दु जीवे अवद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४८ ॥

संस्कृतार्थः—जीवे कर्मबद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयेनभणितं।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४८ ॥

सामान्यार्थः—इस जीवके साथ कर्म बंधे हैं व इसे स्पर्श करते हैं यह व्यवहार नयसे कहा गया है। शुद्ध निश्चय नयसे इस जीवमें न तो कर्मोंका बंध है और न स्पर्श है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवे) इस अधिकरण स्वरूप संसारी जीवमें (कंमं) द्रव्यकर्म (बद्धं) दूध पानीकी तरह बंधे हुए एकमेक हो रहे हैं (च) व (पुट्ठं) संयोगमात्रसे लगे हुए हैं (इदि) यह (ववहारणय भणियं) व्यवहार नयके अभिप्रायसे कहा गया है। (दु) परंतु (सुद्धणयस्स) शुद्ध नयके अभिप्रायसे (जीवे) इस अधिकरण रूप जीवमें (कंमं) द्रव्यकर्म्म (अवद्ध-पुट्ठंहवदि) न बंधे हैं न स्पर्शित हैं। तात्पर्य्य यह है कि निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंका विकल्परूप शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है। **भावार्थ**—यह जीव कर्मोंसे बंधा है व नहीं बंधा है आदि कथन नयोंका विकल्प है वास्तवमें यह आत्मा इन विकल्पोंसे परे है।

आगे कहते हैं कि यह जीव बंधा है व बंधा नहीं है इत्यादि विकल्परूप नयका स्वरूपतो कहा परन्तु पारिणामिक परमभावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे इस जीवमें यह नयका विकल्प नहीं होता कि यह जीव बंधा है व बंधा नहीं है।

गाथा:—**कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।**
पक्खादिकंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४९ ॥

संस्कृतार्थः—कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥ १४९ ॥

सामान्यार्थ—जीवमें कर्म बंधे हैं व नहीं बंधे हैं यह कहना नयोंका पक्ष है। परन्तु नय पक्षको छोड़कर जो कोई कथन किया जाता हैं वही समयसार है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जीवे) इस अधिकरणस्वरूप जीवमें (कंमं) यह कर्म (बद्धं) बंधे हैं व (अवद्धं) नहीं बंधे हैं (एदंतु) इस विकल्पको तो (णय पक्खं) नयोंका पक्ष (जाण) जानो—अर्थात् बद्ध व अबद्ध कहना नयोंकी अपेक्षासे स्वीकार किया जाता है (पुणः) परन्तु (पक्खादिकंत्तो) नय पक्षोंको

छोड़कर (जो) जो (भण्णदि) कथन किया जाता है (सो) सो (समयसारो) समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। व्यवहारनयसे यह जीव बंधा है ऐसा कहना नयका विकल्प है शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है तथा निश्चय नयसे यह जीव बंधा नहीं है ऐसा भी कहना नयका विकल्प है शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है। निश्चय व्यवहार दोनों नयोंसे यह जीव बंधा है व नहीं बंधा है यह सब नयोंका विकल्प है शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है क्योंकि "श्रुत विकल्पाः नयाः" अर्थात् श्रुतज्ञानके भीतर जो भेद व विकल्प हैं सो नय हैं ऐसा सिद्धान्तका वचन है तथा श्रुतज्ञान क्षायिक ज्ञान नहीं है किन्तु क्षयोपशमिक है जो क्षयोपशमिक ज्ञान है वह ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होता है। यद्यपि व्यवहार नयसे छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञकी अपेक्षासे इस प्रकार जीवका स्वरूप कहा जाता है तथापि केवलज्ञानकी अपेक्षासे यह शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं हो सक्ता। तब शिष्यने पूछा कि जीवका स्वरूप किस प्रकारका होता है इसका समाधान आचार्य करते हैं कि जो कोई नयोंके पक्षपातसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानी हैं उसके अभिप्रायसे आत्मामें यह नयोंका विकल्प नहीं होता कि यह जीव बंधा है व नहीं बंधा है, मूढ़ है व मूढ़ नहीं है इत्यादि। जोचिदानंदमई एक स्वभाव रूप है सो ही जीवका स्वरूप है। जैसा कि कहा है कि जो नय पक्षपातोंको त्याग कर नित्य अपने स्वरूपमें गुप्त हो जाते हैं वे सर्व विकल्पोंसे रहित शांतचित हो साक्षात् अमृतका ही पान करते हैं। एक नयसे बंधा है एकसे नहीं यह दोनों ही विकल्प दोनों नयोंका पक्षपात है। जो तत्त्वज्ञानी हैं और पक्षपातसे रहित है उसके लिये एक चैतन्य सदा निश्चयसे एक चैतन्यरूप ही अनुभवमें आता है। आगमके ध्यान व विचारके समयमें जो दो नयरूप बुद्धि है वह बुद्धि बुद्धतत्व अर्थात् तत्वज्ञानीके अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होते होते हुए चली जाती है। कहा भी है कि दोनों नयोंसे हेय और उपादेय तत्वका निश्चय करके त्यागने योग्य तत्वको छोड़कर ग्रहण करने योग्य आत्मतत्वमें स्थिर होना ही साधुओंकी सम्मतिमें ठीक है। भावार्थ---नय एक देश वस्तुको ग्रहण करती हैं इससे नयद्वारा विचार सर्वांग ग्रहण करनेको असमर्थ है इससे जो सर्व नयोंका विकल्प छोड़कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें तन्मय होते हैं अर्थात् अपने आत्माके अनुभवमें मग्न हो जाते हैं। उन अनुभवमें विराजमान होनेवाले साधुओंके ही ऐसी स्वरूपमें तृप्तता रहती है कि वहां उनके यह विकल्प नहीं होता कि इस निश्चयसे अनुभव करते हैं या व्यवहारसे। वहां तो केवल मात्र परम स्वस्थता है जिससे परमामृत रस झड़ता है जिसका वे पान करते हुए परमानंदित होते हैं। हां जब स्वरूपानुभवसे छूटते हैं तब विकल्पोंमें अवश्य आजाते हैं॥ १४८॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि नय पक्षोंको उल्लंघन करके शुद्ध जीवका क्या स्वरूप है सो विशेष कहिये इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं।

गाथाः—दोण्हवि णयाण भणिदं जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥१५०॥

संस्कृतार्थः—द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः॥ १५० ॥

सामान्यार्थः—दोनों ही नयोंसे जो आत्माका स्वरूप कहा गया है उसको ज्ञानी केवल जानता है। किन्तु शुद्ध आत्मस्वभावके आधीन होकर नयकी पक्षोंसे छुटा हुआ कुछ भी नय पक्षको नहीं ग्रहण करता है॥ शब्दार्थसहित विशेषार्थः—जो कोई नयोंकी पक्षपातसे दूर स्वसंवेदन ज्ञानी है सो बद्ध अबद्ध मूढ़ अमूढ़ आदि नयके विकल्पोंसे रहित चिदानंदमई एक स्वभावको (दोण्हविणयाण भणिदं) जैसे भगवान केवली निश्चय व्यवहार दोनों नयोंसे कहे हुए द्रव्यपर्याय रूप पदार्थको जानते हैं ऐसा (जाणादि) जानता है। भावार्थ—जैसे केवली महाराज जानते हैं ऐसे गणधर देव आदि छद्मस्थ मनुष्य भी दोनों नयोंसे कहे हुए वस्तुके स्वरूपको जानते हैं। (णवरिंतु) तथापि केवलमात्र (समय पडिवद्धो) सहज परमानंदमई एक स्वभावके आधीन होता हुआ (णय पक्खपरिहीणो) श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न विकल्पोंका जालरूप जो दोनों नयोंका पक्षपात उससे शुद्ध निश्चयसे दूर होकर (णय पक्खं) नयके पक्षपातरूप विकल्पको (णदु गिण्हदि) विकल्प रहित समाधिके कालमें अपने आत्मस्वरूप रूपसे नहीं ग्रहण करता है। भावार्थ—जब ज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें तल्लीन होता है तब नयोंका विकल्प नहीं करता है—स्वरूप तन्मयतामें केवल मात्र स्वरूपसे उत्पन्न आत्मीक रसका पान मात्र है॥ १५० ॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध पारिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नयोंके विकल्पस्वरूप सर्व ही पक्षपातसे अति दूर जो समयसार सो ही अनुभवमें विराजता है।

गाथाः—सम्मदंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो॥१५१॥

संस्कृतार्थः—सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशं।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः॥ १५१ ॥

सामान्यार्थ—सर्व नयोंके पक्षपातसे रहित जो शुद्धात्मा है सो ही यथार्थरूपसे कहा गया है उसीको ही निर्मल दर्शन ज्ञानस्वरूपधारी इस नामसे कहते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(सव्वणय पक्ख रहिदो) सर्व नयोंकी पक्षोंसे रहित अर्थात् पांच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न जो बाह्य इंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंमें विकल्प उनसे दूरवर्त्ती होता हुआ बद्ध अबद्ध आदि सर्व विकल्परूप नयोंकी पक्षसे रहित (जो सो समयसारो) जो कोई समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है उसको अनुभव करते हुए ही निर्विकल्प समाधिमें ठहरे हुए

पुरुषोंके द्वारा यह आत्मा देखा–जाना जाता है ऐसा (भणिदो) कहा गया है। इस कारणसे (णवरि) केवल मात्र (सम्मदंसण णाणं) सर्व प्रकारसे निर्मल केवलदर्शन और केवलज्ञान मई (ववदेसं) नामको (एदं लहदित्ति) यह शुद्धात्मा प्राप्त होता है परन्तु बद्ध अबद्ध नामको नहीं। भावार्थ—शुद्धात्मानुभवमें शुद्धात्माका स्वरूप केवल दर्शन केवल ज्ञानमई तो कहा जा सक्ता है परन्तु बद्ध अबद्ध विकल्प नहीं होसक्ता क्योंकि बंधना व खुलना अशुद्धताकी अपेक्षासे है–तथा शुद्ध दर्शन और ज्ञान तो आत्माका निज स्वभाव ही है। इस-तरह निश्चय व्यवहार दोनों नयोंके पक्षपातसे रहित जो शुद्ध समयसार उसके व्याख्यानकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा नवमां अंतराधिकार समाप्त हुआ ॥१९१॥

इस प्रकार "जावणवेदविसेसंतरं" इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठके क्रमसे अज्ञानी व सम्यग्ज्ञानी जीवकी संक्षेप सूचनाके अर्थ छः गाथाएँ कहीं, उसके वाद अज्ञानी सज्ञानी जीवका विशेष व्याख्यान करते हुए ११ गाथाएं कहीं, फिर चेतन अचेतन कार्योंका एक उपादान कर्त्ता है इस प्रकारलक्षणको रखनेवाले द्विक्रियावादीको निराकरण करनेकी मुख्यतामे २९ गाथाएं कहीं। उसके वाद आश्रवके कारण प्रत्यय ही कर्मोंको करते हैं इसको समर्थन करते हुए सात सूत्र कहे। उसके पश्चात् जीव और पुद्गल दोनों कथंचित् परिणामी हैं इसको स्थापनेकी मुख्यतासे आठ सूत्र कहे। इसके वाद ज्ञानमई और अज्ञानमई परिणामको कहते हुए ९ गाथाएं कहीं। उसके वाद अज्ञानमई भावके मिथ्यात्व अविरति आदि पांच प्रत्ययोंके भेद हैं ऐसा प्रतिपादन करते हुए गाथाएं पांच हैं। इसके पीछे जीव और पुद्गलके परस्पर उपादान कर्त्तापना नहीं है इस मुख्यतासे तीन गाथाएं कहीं। फिर नयोंके पक्षपातसे रहित शुद्ध समयसारको कहते हुए चार गाथाएं कहीं इसतरह ७८ गाथाओंसे और ९ अंतर अधिकारोंसे इस शुद्धात्माकी अनुभूति लक्षणको रखनेवाली तात्पर्य्यवृत्ति नामकी समयसारकी व्याख्यामें पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंका पीठिकारूप तीसरा महा अधिकार समाप्त हुआ।

इसतरह ऐसा होनेपर जीवाजीवाधिकार रंग भूमिमें नृत्य करनेके पीछे जैसे श्रृंगार किये हुए मनुष्य अपना श्रृंगार छोड़कर अलग होजाते हैं इसतरह शुद्ध निश्चयसे जीव और अजीव दोनों अपना कर्मोंको करनेवाला वेष छोड़कर चले गए।

अथ चौथा महा अधिकार। (४)

अथानंतर निश्चयसे पुद्गल द्रव्य कर्म एक ही प्रकार है तथापि व्यवहार नयसे दो पात्र वनकर अर्थात् एक पुण्य दूसरा पापकारूप करके रंग भूमिमें प्रवेश करता है। 'कंम मसुहंकु सीलं' इत्यादि गाथाको आदि लेकर क्रमसे १९ सूत्र तक पुण्य पापका व्याख्यान करते हैं।

इनमेंसे यद्यपि व्यवहारसे पुण्य और पापके भेद है तथापि निश्चयमे भेद नहीं हैं ऐसा व्याख्यान करते हुए छः सूत्र हैं इसके बाद यह कथन है कि अध्यात्मीक भाषाकी अपेक्षा शुद्धात्माकी भावनाके विना तथा आगम भाषामे वीतराग सम्यग्दर्शनके विना व्रत व दानादिक करना केवल पुण्य बंधका कारण ही है, मुक्तिका कारण नहीं है। परन्तु सम्यक्त्व सहित यदि व्रत दानादिक किया जाय तो परंपरासे मुक्तिका कारण होता है। ऐसा कहते हुए 'परमट्ठोखलु' इत्यादि चार सूत्र हैं। इसके बाद निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यतासे 'जीवादिसद्दहणं' इत्यादि गाथाएं नव हैं। इस तरह पुण्य पाप पदार्थोंके अधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि जैसे एक ब्राह्मणीके दो पुत्र जन्मे उनमें एक उपनय अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार किये जानेसे ब्राह्मण कहलाया दूसरा उपनय संस्कारके विना शूद्र ही रहा तैसे ही निश्चयनयसे पुद्गल कर्म्म एक ही है तौभी शुभ व अशुभ जीवके परिणामोंके निमित्तसे व्यवहारसे दो प्रकारका होता है।

गाथाः—कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥ १५२॥

संस्कृतार्थः—कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीहि सुशीलं।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति॥ १५२॥

सामान्यार्थ—अशुभ कर्म्म कुशील है शुभ कर्म्म सुशील हैं ऐसा जानो. यद्यपि यह कथन व्यवहारसे है परन्तु निश्चयसे यह शुभ कर्म्म सुशील कैसे हो सक्ता है? क्योंकि यह इस जीवको संसारमें प्रवेश कराता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(असुहं) अशुभ (कंमं) कर्म्म अर्थात् हिंसा झूठ चोरी आदि पापरूप क्रियाएं (कुसीलं) कुशीलरूप, त्यागने योग्य खोटी हैं। (चावि) ऐसे ही (सुहकंमं) शुभ क्रियाएं दान पूजा परोपकारादि कर्म्म (सुसीलं) सुशील, शोभनीक और उपादेय हैं (जाण ऐसा जानो यह पक्ष व्यवहारी जीवोंका व्यवहार नयसे है परन्तु इसका विरोधी निश्चय नय करके इस कथनमें बाधा आती है। निश्चयवादी कहता है (कह) किसतरह (तं) वह पुण्य कर्म (सुसीलं, सुशील व शोभनीक व उपादेय (होदि) हो सक्ता है? (जं) जो इस जीवको (संसारं पवेसेदि) संसारमें प्रवेश कराता है। भावार्थ—निश्चयनयसे पुण्य कर्म भी त्यागने योग्य है क्योंकि बंधरूप और आत्मस्वभावका निरोधक है। निश्चयनयसे हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रयरूप चारोंका पुण्य और पापमें अभेद है इसलिये इन दोनोमें द्रव्य कर्म्मकी अपेक्षा भेद नहीं है। इन्हीं चारोंको समझाते हैं कि पुण्य पाप दोनोंका हेतु शुभ और अशुभ जीवका परिणाम है सो परिणाम शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अशुभ रूप ही है इसलिये दोनोंका हेतु अशुभ है। प्रत्येक ही द्रव्य पुण्य व द्रव्य पापकर्म पुद्गल द्रव्य है इसलिये निश्चयसे दोनोंका स्वभाव पुद्गल द्रव्यरूप है। पुण्य कर्मका फल सुखरूप पाप कर्मका दुःखरूप है इन दोनोंका फलरूप अनुभव आत्मासे

उत्पन्न विकार रहित आनंदकी अपेक्षा दुःखरूप है इस ही से एकसा ही है। पुण्यका आश्रय शुभ बंध रूप और पापका अशुभ बंध रूप है सो दोनों ही बंधकी अपेक्षा एक ही हैं, इसलिये हेतु, स्वभाव, अनुभव, आश्रयोंमें व्यवहारनयसे यद्यपि पुण्य और पाप कर्मके भेद है तथापि निश्चयसे इनमें कोई भेद नहीं है इसतरह व्यवहार वादियोंका पक्ष बाधाको प्राप्त होता है। भावार्थ—शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा शुभ व अशुभ दोनों ही हेय व त्यागने योग्य हैं। १५२॥

आगे साधते हैं कि पुण्य और पाप दोनों ही कर्म विशेषकरके बंधके कारण हैं।

गाथा:—**सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।**
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १५३ ॥

संस्कृतार्थः—सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥ १५३ ॥

सामान्यार्थ—जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बांधती है ऐसे ही सुवर्णकी बेड़ी बांधती है इसी प्रकार शुभ व अशुभ किया हुआ कर्म इस जीवको बांधता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जह) जैसे (पुरिसं) पुरुषको (सोवण्णियम्मि णियलं) सुवर्णकी बेड़ी (च) तथा (कालायसं) लोहेकी बेड़ी (बंधदि) बांधती है (एवं) इसी प्रकार (सुहम्) शुभरूप (असुहं) वा अशुभरूप (कदं) किया हुआ (कंमं) कर्म (जीवं) इस संसारी जीवको (बंधदि) बांधता है। दोनों ही प्रकारके कर्म आत्माको बांधनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि भोगोंकी इच्छारूप निदान करके रूप, सुन्दरता, सौभाग्य, कामदेवपना, इंद्रपना, अहमिंद्रपना, प्रसिद्धि, पूजा, लाभ आदिके निमित्त जो कोई व्रत तपश्चरण दान पूजादिक करता है वह पुरुष दहींके वास्ते मानों रत्न बेंचता है, व भस्मके लिये रत्नके ढेरको जलाता है व सूतके वास्ते हारको चूरता है व कोदवका खेत बोनेके लिये अगरके वनको काटता है अर्थात् अपने व्रतादिके परिश्रमको वृथा ही नष्ट करता है। परन्तु जो कोई शुद्धात्माकी भावनाके साधनके लिये बाह्य व्रत तपश्चरण दान पूजादिक करता है वह परम्परासे मोक्षको प्राप्त करता है। भावार्थ—भोगोंकी इच्छासे किये हुए शुभ कर्म भी संसार भ्रमण हीके कारण हैं। इसलिये महाबंधरूप हैं, कुशील हैं, त्यागने योग्य हैं। परन्तु जो शुद्धात्माकी भावनाके अर्थ शुभ कर्म किये जाते हैं वे यद्यपि मंद रागकी अपेक्षा बंधके कारण हैं तथापि अंतरंगमें शुद्ध भावनाकी भूमिका होनेसे इस आत्माके मोक्षपदके ही प्रेरक हैं इसलिये उपादेय हैं॥१५३॥

आगे कहते हैं कि मोक्षमार्गमें शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकारके कर्म निषेधने योग्य हैं:—

गाथा:—**तह्मादु कुसीलेहिय रायं माकाहि माव संसग्गं।**
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेहिं॥ १५४ ॥

संस्कृतार्थः—तस्मात्तु कुशीलैः रागं मा कुरु मा वा संसर्गं।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागाभ्याम् ॥ १५४ ॥

सामान्यार्थः—इसलिये शुभ अशुभ कर्मरूप कुत्सितभावोंसे न तो राग कर और न संसर्ग कर क्योंकि कुशीलकी संगति व रागसे अवश्य स्वाधीन सुखका नाश होवेगा। **शब्दार्थसहित विशेषार्थः**–(तम्हादु) ऊपर लिखित कारणसे (कुसीलेहिय) आत्मस्वभावसे विलक्षण शुभ व अशुभ कर्मोंके साथ (रागं) मन सम्बन्धी प्रीति (माकाहि) मत कर। (वमा संसग्गं) और न वचन तथा कायसे संगति कर कारण यह है कि (कुसील संसग्गराएहिं) शुभाशुभ कर्मरूप कुशील भावोंके साथ राग व संगति करनेसे (हि) नियमसे (साहीणो) निर्विकल्प समाधि अथवा स्वाधीन आत्मीक सुखका (विणासो) नाश है। **भावार्थ**—आत्मसमाधि शुद्धोपयोगरूप है अतएव आचार्य्य शिष्यको कहते हैं कि यदि तू निजाधीन अतीन्द्रिय सुखको चाहता है तो शुभ व अशुभ दोनों कर्मोंको त्याग कर, मन वचन कायसे इनकी संगति न कर। क्योंकि शुद्ध आत्मसमाधि रूप भाव ही मोक्षका साक्षात् मार्ग है। जिसकी शक्ति स्वसमाधिमें ठहरनेकी नहीं है वह उसीकी प्राप्तिके लिये उस शुद्ध स्वरूपकी भावना भगवद्भक्ति, स्वाध्याय, तत्व विचारादिसे करता है। उस समय उसके कर्म यद्यपि शुभ हैं पर शुद्धभावमें लेजानेको सहायक हैं ॥१५४॥

आगे श्री कुंदकुंदाचार्य्य देव दोनों ही शुभ व अशुभ कर्मोंका निषेध दृष्टान्त व दार्ष्टान्तसे कहते हैं:—

गाथाः—जहणाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥ १५५ ॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा ॥ १५६ ॥

संस्कृतार्थ—यथा नाम कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥ १५५ ॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं हि कुत्सितं ज्ञात्वा।
वर्जयन्ति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥ १५६ ॥

सामान्यार्थ—जैसे कोई पुरुष किसी मनुष्यको खोटा, कुशीला व अपने स्वभावसे भिन्न जानकर उस जनके साथ न तो राग करता है और न उसकी संगति करता है। उसी ही तरह शुभ व अशुभ कर्मोंकी प्रकृति, शील व स्वभावको खोटा जानकर अपने आत्मस्वभावमें लवलीन पुरुष उनकी संगतिको छोड़ते हैं तथा मना करते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**–(जह) जैसे (कोपि) कोई भी (पुरिसो) पुरुष (कुछिय सीलं) कुत्सित स्वभाववाले (जणं) मनुष्यको (नाम) प्रकटपने (वियाणित्ता) जान करके (तेण) उसके (समयं) साथ (संसग्गं) वचन

और काय सम्बन्धी मेल (च) और (रायकरणं) मनसे राग करनेको (वज्जेदि) मना करता है अर्थात् खोटे आदमीको बुरा जानकर उससे मन वचन काय द्वारा प्रेम नहीं करता है। यह दृष्टान्त कहा-(एमेव) इसी ही तरह (कंम पयड़ी) कर्म्म प्रकृति (सीलसहावं) व उसके शील या स्वभावको (कुच्छिदं) कुत्सित अर्थात् त्यागने योग्य खोटा (णादुं) जानकर (तं संसग्गं) उस समस्त शुभाशुभ कर्मोंसे मन सम्बन्धी राग व वचन और कायसे संगतिको (महावरदा) सर्व द्रव्य व भाव पुण्य पाप परिणामोंको त्यागनेसे उत्पन्न हुई जो अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाली विकल्प रहित समाधि उस मई अपने स्वभावमें लीन साधुजन इस जगतमें (वज्जंति) वर्जन करते हैं (परिहरंति) व त्याग देते हैं। यह दार्ष्टान्त है। भावार्थ—साधुपुरुष पुण्य और पाप दोनों ही कर्म्मोंको त्यागने योग्य समझकर अपनी निर्विकल्प समाधिमें तल्लीनता पानेके लिये उन्हें त्याग देते हैं। क्योंकि बंधके कारण भावोंसे राग व मेल ही आत्माके स्वभावका घातक है॥ १५५-१५६॥

आगे दोनों ही कर्म्म शुद्ध निश्चयनयसे न केवल बंधके ही कारण हैं परन्तु निषेधने योग्य हैं ऐसा आगम द्वारा साधन करते हैं।

गाथाः—**रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।**
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज॥ १५७॥

संस्कृतार्थ—रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्पन्नः।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मारज्यस्व॥ १५७॥

सामान्यार्थ—रागी पुरुष कर्मोंको बांधता है परन्तु विरागी जीव कर्मोंसे मुक्त होता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवानका उपदेश है इसलिये शुभाशुभ कर्मोंमें रंजायमान मत हो। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(रत्तो) रागी द्वेषी (जीवो) जीव (कंमं) कर्मोंको (बंधदि) बांधता है (विरागसंपण्णो) परंतु कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भावोंमें वैराग्यको धरनेवाला आत्मा (मुंचदि) कर्मोंसे छूटता है (एसो) यह प्रत्यक्ष रूपसे (जिणोवदेसो) जिनेन्द्र देवका उपदेश है। भगवानने कहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही प्रकारके कर्म बंधके कारण हैं न केवल बंध ही के कारण हैं परंतु त्यागने योग्य हैं। (तम्हा) इसलिये शुभ व अशुभ संकल्प व विकल्पोंसे रहित होकर अपने ही शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न होनेवाला जो विकार रहित सुखामृत रसका स्वाद उससे तृप्त हो (कंमेसु) शुभ व अशुभ कर्मोंमें (मारज्ज) मत रागद्वेष कर। **भावार्थ**—रागी द्वेषी आत्मा कर्मोंको बांधता है परन्तु वीतरागी नये कर्मोंको नहीं बांधता है किन्तु पुराने बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता है इसलिये मुमुक्षु पुरुषको योग्य है कि इन शुभ व अशुभ कर्मोंमें राग व द्वेष न करके अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका ही अनुभव करे॥ १५७॥

इस प्रकार यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे द्रव्यपुण्य और पापमें भेद है तथा अशुद्ध निश्चय नयसे द्रव्यपुण्य और पापसे उत्पन्न इन्द्रिय सुख और दुःखमें भेद है तथापि शुद्ध निश्चयसे भेद नहीं है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे छः गाथाएं पूर्ण हुईं।—

आगे विशुद्ध ज्ञानशब्दका वाच्य जो परमात्मा है वही मोक्षका कारण है ऐसा कहते हैं।—

गाथाः—**परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।**
तह्मिठिदा सब्भावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ १५८॥

संस्कृतार्थः—परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनिनः प्राप्नुवंति निर्वाणं॥ १५८॥

सामान्यार्थ—परम पदार्थ आत्मा निश्चयसे शुद्ध, केवली, मुनि और ज्ञानी है। इस आत्माके स्वभावमें ठहरनेवाले मुनिजन निर्वाणको प्राप्त करते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(खलु) निश्चयसे (परमट्ठो) परमार्थरूप उत्कृष्ट पदार्थ जो परमात्मा है अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंमें सर्वसे महानपुरुषार्थ मोक्ष है अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदोंसे रहित जो निश्चय एकस्वरूप परमार्थ है सो ही परमात्मा है। वही समय है। अर्थात् जो भले प्रकार अपने शुद्धगुण और पर्यायोंमें परिणमन करे वह समय है (सम्यक् अयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमति)। अथवा भलेप्रकार संशय आदिसे रहित जो ज्ञान है सो ही समय है (सम्यक् अयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्यस)। अथवा अपने एक परम समरसी भावसे अपने ही शुद्ध स्वरूपमें परिणमन करे सो समय है (सम् इति एकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः) वही (सुद्धो) शुद्ध रागादि भावकर्मोंसे रहित है, वही (केवली) परद्रव्यसे रहित होनेके कारणसे किसीके सहाय रहित केवली है, सो ही (मुणी) मुनि प्रत्यक्षज्ञानी है तथा सो ही (णाणी) विशुद्धज्ञानमई है ऐसा ही परमात्मा उत्कृष्ट आत्मा है। (तह्मिसब्भावे) इस परम आत्मस्वरूपमें (ठिदा) ठहरनेवाले वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें लवलीन (मुणिणो) मुनिजन अर्थात् तपोधन (णिव्वाणं) निर्वाण अर्थात् मुक्ति (पावंति) पाते हैं। **भावार्थ**—जो मुनि रागादि भावरहित शुद्धज्ञान दर्शन सुखादिगुणोंका पुंज उत्कृष्ट आत्मस्वभावमें अपनी स्वसंवेदन ज्ञान परिणतिके द्वारा लीन होते हैं वे अवश्य कर्मबंधोसे छूटकर परमकल्याणमय मोक्षको प्राप्त करते हैं॥ १५८॥

आगे कहते हैं कि उस ही शुद्ध उत्कृष्ट आत्मस्वरूपमें न ठहरनेवाले तथा जिनको स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है उन जीवोंके द्वारा किया हुआ व्रत व तपश्चरण आदि सो सर्व पुण्य बंधका ही कारण है।

गाथाः—**परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।**
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वह्नु॥ १५९॥

परमार्थे चास्थितः करोतिय: तपो व्रतं च धारयति।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विदंति सर्वज्ञाः ॥ १५९ ॥

सामान्यार्थ—जो परमार्थ स्वरूपमें नहीं लीन होते हुए तप करते व व्रत धारण करते हैं वह सब अज्ञान तप और अज्ञानव्रत है, ऐसा सर्वज्ञभगवान कहते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जो) जो कोई आत्मज्ञान रहित प्राणी (परमट्ठम्मिय) परमार्थ लक्षणमई परमात्माके स्वरूपमें (अठिदो) नहीं स्थिर होते हुए अर्थात् परमात्म स्वरूपका अनुभव नहीं करते हुए (तवं कुणदि) अनशन आदि १२ प्रकारका तप करता है (च) तथा (वदं धारयदि) अणुव्रत व महाव्रतादिक धारण करता है (तं सव्वं) यह सर्व (बालतवं बालकोंकासा अज्ञान तप व (बालवदं) बालकोंकासा अज्ञानव्रत है ऐसा सव्वह्) सर्वज्ञ भगवान (विंति) कहते हैं। क्योंकि वह पुण्य व पापके उदयजनित भावोंमें विशेष भेदज्ञानको नहीं धारण किये हुए है। **भावार्थ**—निज शुद्धात्माको उपादेय मानके जो व्रत व तपादिक किया जावे सो ही यथार्थ मोक्षका कारण है, अन्यथा केवल पुण्य बंधका कारण होके संसारका ही बढ़ानेवाला है॥१५९॥

आगे कहते हैं कि स्वसंवेदन ज्ञान मोक्षका और अज्ञान बंधका हेतु है।

गाथा:—**वदणियमाणिधरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।**
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी॥ १६० ॥

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वाणाः।
परमार्थबाह्या येन तेन ते भवन्त्यज्ञानिनः ॥ १६० ॥

सामान्यार्थ—व्रत नियमोंको धारण करते हुए तथा शील व तपश्चरणको पालते हुए जो जीव परमार्थ स्वरूपसे बाहर हैं वे अज्ञानी हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(वदणियमाणि) महाव्रत अणुव्रत व अन्य नियम प्रतिज्ञाओंको (धरंता) धारण करते हुए (तहा) तथा (सीलाणि) शीलोंको अर्थात् क्रोधादि रहित स्वभावोंको व शीलव्रतको व सात प्रकार शीलोंको और (तवं) तपको (कुव्वंता) करते हुए (च) भी जो मन, वचन, कायकी गुप्तिमें गुप्तरूप समाधि लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानसे बाहर हैं वे (परमट्ठ बाहिरा) परमार्थसे बाहर हैं (जेण तेण) इस कारणसे (अण्णाणी) अज्ञानी (भवंति) हैं। अज्ञानी पुरुषोंको किसतरह मोक्षका लाभ हो सक्ता है? जो कोई परमसमाधि लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञान संयुक्त हैं वे यदि बाह्यरूप व्रत नियमोंको व शील व तपको नहीं प्रकटरूप प्रवृत्ति रूपसे आचरण कर रहे हैं तौ भी मोक्षको प्राप्त कर सक्ते हैं क्योंकि वहां भेदज्ञानका सद्भाव है। क्योंकि वे परमार्थसे बाहर नहीं हैं इसलिये वे ज्ञानी हैं। ज्ञानियोंको तो मोक्ष होता ही है। भावार्थ—जो मुनि अवस्था धार कर भी जब तक द्रव्यरूप बाह्य व्रतादि पालनेमें ही उपयुक्त हैं तब तक उनके परम तन्मयरूप भेदज्ञान नहीं हैं जब उस ओरसे उपयोगको हटाकर अपने स्वरूपमें तन्मय होते हैं तब ही वे मोक्षको

प्राप्त कर सक्ते हैं—इसीका विस्तारसे कथन यह है कि शिष्यने प्रश्न किया कि यदि व्रत नियम शील व बाह्य तपश्चरणके विना भी मोक्ष होती है तो संकल्प विकल्प रहित जीवोंके विषयोंके व्यापार होते हुए भी पाप नहीं होगा तथा तपश्चरण न करते हुए भी मोक्ष हो जावेगी फिर तो जैसा सांख्य व शैवके अनुसार कहनेवाले हैं उन्हींका मत सिद्ध हो जावेगा। आचार्य इस वातका उत्तर कहते हैं कि यह वात ठीक नहीं है जो विकल्प रहित और मन, वचन कायकी, गुप्तिमई समाधिलक्षण भेदज्ञानके रखनेवाले हैं उन्हीं जीवोंके मोक्ष होती है यह वात पहले बहुतवार विशेष करके कही गई है। जिससमय परम समाधि लक्षण भेदज्ञान अंतःरंगमें विराजता है उस समय वे शुभ मन, वचन, कायके व्यापार भी नहीं हैं जो परंपरासे मुक्तिके कारण हैं तो फिर अशुभ विषय कषायरूप व्यापार तो हो ही नहीं सक्ते। चित्तमें विराजनेवाले रागभावके नष्ट होते हुए वाह्य विषयोंमें व्यापार नहीं दिखलाई पड़ता है जैसे चावलके भीतरका छिलका उतरने पर वाहरका तुष नहीं प्रकट हो सक्ता। इसमें कारण यह है कि विकल्प रहित समाधि लक्षण स्वरूप भेदज्ञान और विषय कषायरूप व्यापार इन दोनोंमें परस्पर विरोध है जैसे शीत और उष्णका परस्पर विरोध है। भावार्थ—जहां परम अनुभव स्वरूप ध्यानमें तन्मयपना है वहां शुभ व अशुभ दोनों प्रकारके व्यापार नहीं हैं इसीसे कहा है कि उस कालमें वाह्य प्रवृत्तिरूप महाव्रत व नियमादि सर्व विकल्पोंका अभाव है। जबतक निजानंद भावका लाभ नहीं है तब तक कदापि मोक्षका साक्षात् उपाय नहीं हो सक्ता। इसीसे इस आत्मज्ञानके विना मुनिपना मोक्षका कारण नहीं है।

इसका यह प्रयोजन नहीं है कि विना मुनिपना धारण किये हुए भी ऐसे भाव हो जायँगे जो साक्षात् मोक्षके कारण हैं। मुनिलिंग वाह्य निमित्त है जबतक यह निमित्त न होगा तब तक परिग्रह सम्बन्धी तीव्र रागभाव दूर नहीं हो सकता और विना उस रागभावके त्यागे हुए यह प्राणी उस वीतरागमई आत्मज्ञानको नहीं पासकता जो सातवें गुणस्थानमें होता है। छठे गुणस्थान सम्बन्धी परिणाम भी उस जातिके रागभावके त्याग विना नहीं हो सकते। जो केवल मुनिव्रत धार वाह्य व्रतादि आचरण करे और अंतरंगमें आत्मज्ञानकी ज्योतिको न जगावे उसके लिये आचार्य्यने मोक्षमार्ग निषेध किया है। अतएव जिसतरह हो उपाय करके आत्मज्ञानका यत्न करना योग्य है। इसीके होते हुए ही चौथा व पांचवा गुणस्थान भी संभव है विना इसके कुछ नहीं॥ १६० ॥

आगे जो वीतराग सम्यग्दर्शन रूप शुद्धात्माकी भावनाको छोड़कर एकान्तसे पुण्यकर्मको ही मुक्तिका कारण कहते हैं उनको समझानेके लिये आचार्य फिर भी उसको दूषण बताते हैं—

गाथाः—परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता॥ १६१॥

संस्कृतार्थः—परमार्थवाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति।
संसारगमनहेतुं विमोक्षहेतुमजानतः ॥ १६१ ॥

सामान्यार्थ—जो परमार्थसे वाहर हैं और मोक्षके कारणको नहीं जानते हैं वे संसारमें गमनका कारण जो पुण्य है उसकी इच्छा करते हैं। शब्दार्थ महित विशेषार्थ—(परमट्ठ वाहिरा) जो इस संसारमें कोई जन सकल कर्मोंके क्षयरूप मोक्षको चाहते हुए भी अपनी परमात्म भावनामें परिणमन करनेवाले अभेद सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र लक्षणमई परम सामायिकको पहले दीक्षाकालमें करनेकी प्रतिज्ञा करके भी चिदानंदमई एक स्वभावरूप शुद्ध आत्माके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और चारित्रमें ठहरनेकी शक्ति न होनेके कारणसे पूर्वमें कही हुई परम सामायिकको नहीं अनुभव करते हुए परमार्थ स्वरूपसे वाहर ठहरे हुए (विमोक्खहेदुं) अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षके कारणको (अयाणंता) नहीं जानते हैं। (ते) वे (अण्णाणेण) अपने अज्ञानभावसे (संसार गमणहेदुं) संसारमें भ्रमणका कारण होनेसे बंधका कारण स्वरूप (पुण्णं) पुण्यकर्मको (इछंति) चाहते हैं अथवा बंधका कारण स्वरूप जो पुण्य है उसे मोक्षका कारण भी मान लेते हैं क्योंकि वे पूर्वमें कहे हुए परम सामायिक रूप मोक्षके कारण को नहीं जानते हैं। प्रयोजन यह है कि विकल्प रहित समाधिके कालमें स्वयं ही व्रतोंका व अव्रतोंका प्रस्ताव नहीं हो सक्ता अर्थात् वाह्य व्यवहाररूप व्रत वहां नहीं हैं अथवा जो निर्विकल्प समाधि है वही निश्चयव्रत है ऐसा अभिप्राय समझना। भावार्थ—वाह्यमें क्रिया रूप महाव्रतादि धारणेका प्रयोजन विकल्प रहित समाधि भावका लाभ है फिर जव वह प्राप्त हो गई तव अन्य विकल्पोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रहा। निजात्मानुभवरूप समाधिमें स्वरूप गुप्तता और स्वरूपानंद है सो ही मोक्षका मार्ग है। इस प्रकार शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी वीतराग सम्यक्त्वरूप भावनाके विना व्रत तपश्चरण आदिक पुण्यके कारण ही हैं और जो शुद्धात्माकी भावना सहित हों तो यह व्रतादि वाह्य साधनरूप होनेसे परंपरासे मोक्षके कारण हैं ॥ १६१ ॥

इस व्याख्यानको मुख्य लेकर ४ गाथाएं कहीं। इस प्रकार १० गाथाओंमें पुण्याधिकार समाप्त हुआ।

आगे विकल्पसहितपना होनेके कारणसे तथा परका आश्रय रखनेके हेतुसे, निश्चयसे, पाप अधिकारके कहनेकी मुख्यतासे अथवा निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्गकी मुख्यतासे 'जीवादीसद्दहणम्' इत्यादि दो सूत्र कहेंगे। उसके वाद मोक्षके कारणरूप जो यह सम्यक्त्व आदि जीवके गुण हैं उनके आवरणके कहनेकी मुख्यतासे 'वछस्स सेद भावो' इसतरह तीन गाथाएं हैं। इसके पीछे पाप और पुण्य दोनो ही बंधके कारण हैं इस वातके कहनेकी मुख्यतासे 'सो सव्वणाण' इत्यादि सूत्र एक है। इसके पीछे जो मोक्षका कारणभूत यह जीव गुणी है उसके आवरणकी मुख्यतासे 'सम्मत्त' इत्यादि गाथाएं तीन हैं इस प्रकार समुदायसे नव सूत्र तक तीसरे स्थलमें व्याख्यान करते हैं। आगे उन अज्ञानी जीवोंके लिये निश्चय मोक्षका हेतु दिखलाते हैं:—

गाथाः—जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १६२ ॥

संस्कृतार्थः—जीवादिश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेषामधिगमो ज्ञानं।
रागादिपरिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥ १६२ ॥

सामान्यार्थः—जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उनका जानना ज्ञान है तथा रागादिक भावोंका त्यागना सो चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवादी) जीव आदि ९ पदार्थोंका (सद्दहणं) विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान करना सो (सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन है (तेसिम्) उन्हींका (अधिगमो) संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित निश्चय रूप ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है तथा (रागादी) रागादि भावोंका (परिहरणं) (दूरकरना (चरणं) चारित्र है (दु एसो) ऐसा ही व्यवहार नयसे (मोक्ख पहो) मोक्षका मार्ग है अथवा उनही सत्यार्थ रूपसे जाने हुए पदार्थोंका शुद्धात्मासे भिन्नरूपसे भले प्रकार अवलोकन करना अर्थात् श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, उनहींका भले प्रकार ज्ञान करके शुद्धात्मासे भिन्न जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है, उन्हीं पर पदार्थोंका शुद्धात्मासे भिन्न रूपसे निश्चय करके रागादि विकल्पोंका त्याग करके अपने ही शुद्ध आत्म स्वरूपमें स्थिति प्राप्त करना सो निश्चय चारित्र है, यही निश्चय मोक्षका मार्ग है। भावार्थः—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप ही मोक्षका मार्ग है व्यवहार नयसे भेदरूप है निश्चय नयसे अभेदरूप एक शुद्धात्माका एकतासे श्रद्धान ज्ञान आचरण है ॥१६२॥

आगे कहते हैं कि निश्चय मोक्षका मार्ग जो शुद्धात्माका स्वरूप है उससे अन्य शुभ व अशुभरूप मन, वचन, कायका व्यापाररूप जो कर्म है वह मोक्ष मार्ग नहीं हैः—

गाथाः—मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥ १६३ ॥

संस्कृतार्थः—मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे, न विद्वांसः प्रवर्तंते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवति ॥ १६३ ॥

सामान्यार्थः—निश्चय आत्म पदार्थको छोड़कर व्यवहारमें विद्वान् साधु गण नहीं प्रवर्तन करते हैं क्योंकि परमार्थका आश्रय करनेवाले यतियोंके ही कर्मोंका क्षय होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(णिच्छयट्ठं) निश्चय स्वरूप आत्म पदार्थको (मुत्तूण) छोड़कर (विदुसा) ज्ञानीजीव (ववहारे) व्यवहारमें (ण) नहीं (पवट्टंति) आचरण करते हैं क्योंकि (परमट्ठम्) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकाग्रपरिणति लक्षणको रखनेवाले अपने शुद्धात्माकी भावनारूप परमार्थको (अस्सिदाणं) आश्रय करनेवाले (जदीण) यतियोंके (दु) ही (कंमक्खओ) कर्मोंका क्षय (होदि) होता है। भावार्थः—जब यतिगण व्यवहार प्रवृत्तिका झगड़ा व विचार

त्यागकर निश्चय स्वरूप आत्मपदार्थमें तन्मय होते हैं तब ही यथार्थ निश्चय मोक्ष मार्गकी प्राप्ति करते हैं और इसीके प्रतापसे कर्मोंका नाश कर सके हैं ॥ १६३ ॥

इसतरह मोक्ष मार्गका कथन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र जो जीवके गुण हैं उनका मिथ्यादर्शन आदि प्रतिपक्षी कर्मोंसे प्रच्छादनपना इसतरह हो रहा है जैसे श्वेत कपड़ा मलसे ढक जाता है ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथाः—वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥ १६४ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥ १६५ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो।
तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादव्वं ॥ १६६ ॥

संस्कृतार्थः—वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा च सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ॥ १६४ ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ॥ १६५ ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः।
तथातु कषायाच्छन्नं चारित्रं भवति ज्ञातव्यं ॥ १६६ ॥

सामान्यार्थ—जैसे वस्त्रका सफेदपना मलके सम्बन्धसे ढका हुआ नाशको प्राप्त हो जाता है ऐसे ही जीवका सम्यग्दर्शन नामा गुण मिथ्यात्वरूपी मलसे ढका हुआ नाश होता है ऐसा जानना ॥ १६४ ॥ जैसे वस्त्रका सफेदपना मलके सम्बन्धसे ढका हुआ नाश हो जाता है उसीतरह जीवका सम्यग्ज्ञानरूपी गुण अज्ञानरूपी मैलसे ढका हुआ नाश हो जाता है ऐसा जानना ॥ १६५ ॥ जैसे वस्त्रका सफेदपना मलके सम्बन्धसे ढका हुआ नाश हो जाता है उसीतरह इस जीवका चारित्र नामा गुण कषायोंसे विपरीत हुआ नाशको प्राप्त हो जाता है ऐसा जानना। शब्दार्थ सुगम है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही इस जीवके गुण हैं स्वाभाविक हैं परंतु अनादि कालसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और कषायोंके कारण ढक रहे हैं, गुप्त हो रहे हैं। ज्ञानी जीवको उचित है कि इन कर्मोंके सम्बन्धको दूर करै जिससे निज गुणोंका विकाश हो।

इसतरह मोक्षके कारणभूत सम्यक्त्व आदि गुणोंका उनके प्रतिपक्षी मिथ्यात्व, अज्ञान कषायोंसे प्रच्छन्नपना याने ढकजाना हो रहा है ऐसा कहते हुए तीन गाथाएँ पूर्ण हुई ॥ १६४–१६५–१६६ ॥

आगे शुभाशुभ कर्म जब स्वयमेव ही बंधरूप है तब वह किसतरह मोक्षका कारण हो सक्ता है ऐसा कहते हैं-

गाथाः—**सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियएण उच्छण्णो ।**
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥ १६७ ॥

संस्कृतार्थः—स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छिन्नः ।
संसारसमापन्नो नापिजानाति सर्वतः सर्वं ॥ १६७ ॥

सामन्यार्थः—वह शुद्धात्मा निश्चयसे सर्वको देखने–जाननेवाला है तौ भी अनादिकालसे अपनी ही कर्मकी धूलसे ढका हुआ संसारमें गिरा हुआ सर्व प्रकारसे सर्व वस्तुओंको नहीं जानता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(सो) वह शुद्धात्मा निश्चयसे (सव्व णाण दंसी) समस्त प्रकार परिपूर्ण ज्ञान दर्शन स्वभावको रखनेवाला है तौ भी (णियएण) अपनी ही बांधी हुई (कंमरयेण) ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूपी रजसे (उंच्छन्नो) ढका हुआ (संसारसमावण्णो) व इस संसारमें पड़ा हुआ (सव्वदो) सर्व प्रकारसे (सव्वं) सर्व वस्तुओंको (णवि) नहीं (जाणदि) जानता है। इससे जानपड़ता है कि कर्म स्वयमेव इस जीवके लिये बंधरूप है इससे यह कर्म मोक्षका कारण कैसे हो सक्ता है? भावार्थ–शुभ या अशुभ भावोंसे किया हुआ पाप या पुण्य कर्मबंध हीका कारण है मोक्षका कारण नहीं है क्योंकि यह कर्म आत्माके स्वाभाविक गुणोंको प्रकट नहीं होने देते। इसप्रकार जैसे पाप बंधका कारण है वैसे पुण्य भी बंधका कारण है ऐसा कहते हुए गाथा पूर्ण हुई॥ १६७ ॥

आगे पहले कहा था कि मोक्षके कारणरूप सम्यग्दर्शन आदि जो जीवके गुण हैं उनका मिथ्यात्व आदि कर्मोंसे ढकना होता है अब यह बात कहते हैं कि उन गुणोंको रखनेवाला आधारभूत गुणी जीव मिथ्यादर्शन आदि कर्मोंसे ढकता है।

गाथाः—**सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरे हि परिकहिदं ।**
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति, णादव्वो ॥ १६८ ॥
णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाणं जिणवरे हि परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥ १६९ ॥
चारित्तपडिणिवद्धं कसायं जिणवरे हि परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरिदो होदि णादव्वो ॥ १७० ॥

संस्कृतार्थः—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं ।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥ १६८ ॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं ।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥ १६९ ॥
चारित्रप्रतिनिबद्धं हि कषायो जिनवरैः परिकथितः ।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥ १७० ॥

—

सामान्यार्थ—सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्व है ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है उसी मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे यह जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना। ज्ञानको रोकनेवाला उसका विरोधि अज्ञान है ऐसा जिनवरोंने कहा है उसी अज्ञान व ज्ञानावरणीयके उदयसे यह जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना, तथा चारित्रको रोकनेवाला उसका विरोधी क्रोधादि कषाय है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है उसी कषायके उदयसे यह जीव चारित्र विहीन होता है ऐसा जानना। शब्दार्थ सुगम है। प्रतिनिबद्ध नाम प्रतिकूल व विरोधीका है। **भावार्थ**—जीवके मुख्यगुण स्वाभाविक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं इनका प्रकटपना, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और कषायोंके कारणसे नहीं हो रहा है इसीसे इस जीवको मिथ्यात्वी, अज्ञानी व कुचारित्रवान कहते हैं ऐसा जानना ॥१६८–१६९–१७०॥

इसप्रकार मोक्षका कारण भूत जो यह जीव गुणी है उसके आवरणके कथनकी मुख्यतासे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं। सम्यक्त्व आदि जीवके गुण हैं सो ही मुक्तिके कारण हैं। तैसे ही इन गुणोंमें परिणमन करनेवाला जीव मोक्षका कारण है। इससे शुद्ध जीवसे भिन्न शुभ व अशुभ मन, वचन, कायके व्यापार व उस व्यापारसे उत्पन्न किये हुए शुभ व अशुभ कर्म्म सो मोक्षके कारण नहीं हैं ऐसा जानकर यह शुभ व अशुभ पुण्य व पापरूप कर्म्म त्यागने योग्य हैं इसप्रकार व्याख्यानकी मुख्यता करके ९ गाथाएं पूर्ण हुईं। दूसरी पातनिकाके अभिप्रायसे पापाधिकारके व्याख्यानकी मुख्यतासे कथन पूर्ण हुआ।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि यहां "जीवादीसद्दहणं" इत्यादि व्यवहार रत्नत्रयका व्याख्यान किया है सो इसको पापाधिकार कैसे कह सक्ते हैं? इसका समाधान आचार्य्य करते हैं। यद्यपि व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय रत्नत्रय जो उपादेयभूत है उसका कारण होनेसे उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है तथा परंपरासे जीवकी पवित्रताका कारण है, इससे पवित्र भी है तथापि वाह्यद्रव्यका आलंबन होनेके कारणसे पराधीन है इससे नाशको प्राप्त होता है यह एक कारण है जिससे व्यवहारको पापमें गर्भित किया है। तथा विकल्प रहित समाधिमें लवलीन जीवोंका अपने स्वरूपसे पतन व्यवहार विकल्पोंके आलंबनसे होजाता है यह दूसरा कारण है, जिससे व्यवहार मोक्ष मार्गको पापाधिकारमें गर्भित करते हैं। इससे निश्चय नयकी अपेक्षासे व्यवहार मोक्ष मार्ग पाप है अथवा इस अधिकारमें सम्यक्त्व आदि जीवके गुणोंसे प्रतिपक्षी मिथ्यात्व आदि भावोंका व्याख्यान किया गया है इससे भी यह पापाधिकार है।

इस तरह समयसार ग्रंथकी शुद्धात्माकी अनुभूति लक्षणको रखनेवाली तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें तीन स्थलके समुदायसे २१ गाथाओंसे चौथा पापाधिकार समाप्त हुआ। इनमें ऐसा होनेपर व्यवहार नयसे पुण्य पापरूप दो प्रकार कर्म हैं तौभी निश्चयसे कर्म एक प्रकार है। ऐसा यह कर्म श्रृंगारसे रहित पात्रके समान पुद्गलरूपसे एक रूप होकर रंग भूमिसे निकल गया। अब आश्रव प्रवेश करता है।

पांचवा महा अधिकार। (५)

आश्रव तत्व।

जहां भले प्रकार भेद भावनामें परिणमन होता हुआ कारण समयसाररूप संवर नहीं है वहां आश्रव होता है इसप्रकार संवरका विपक्षी होनेके कारणसे १४ गाथाओं तक आश्रवका व्याख्यान करते हैं। उनमेंसे पहले ही भेदज्ञानसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है ऐसा संक्षेपसे व्याख्यान करनेकी मुख्यतासे "उवओगो" इत्यादि गाथाएं तीन हैं, उसके वाद भेदज्ञानसे कैसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है ऐसा प्रश्न होनेपर उसका समाधान करते हुए "जहकणयमग्गि" इत्यादि सूत्र दो हैं। उसके बाद शुद्ध भावनासे शुद्ध होता है इस कथनकी मुख्यतासे "सुद्धंतु वियाणंतो" इत्यादि सूत्र एक है। उसकेवाद किस प्रकारसे संवर होता है ऐसा पूर्वपक्ष किये जानेपर उसके समाधानकी मुख्यतासे 'अप्पाणमप्पणो' इत्यादि गाथाएं तीन हैं। आगे आत्मा परोक्ष है उसका ध्यान कैसे किया जाय इस प्रश्नके होनेपर देवतारूपके दृष्टान्तसे परोक्ष होनेपर भी विदित होता है। ऐसा समाधान करते हुए 'उवदेसेण' इत्यादि गाथाएं दो हैं। उसके बाद उदयमें आए हुए आश्रवमई रागादि अध्यवसानोंके अभाव होनेपर जीवके रागादि भावाश्रवोंका अभाव होता है इत्यादि संवरके क्रमको कहनेकी मुख्यतासे 'तेसिंहेदु' इत्यादि गाथाएं तीन हैं–इसतरह संवरके विपक्षी आश्रवके व्याख्यानमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

पहले ही शुभ कर्म और अशुभकर्मोंके रोकनेका सबसे बड़ा उपाय विकार रहित स्वसंवेदनज्ञान लक्षणमई भेद ज्ञान है उसको कहते हैं।—

गाथाः—**उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवयोगो।**
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥ १७१॥

संस्कृतार्थः—उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधे, क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः॥ १७१॥

सामान्यार्थः—ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप आत्मा आत्मामें है क्रोधादिक भावोंमें निश्चय करके कोई भी उपयोग नहीं है, क्रोध क्रोधमें ही है, निश्चयसे आत्मामें कोई भी क्रोध नहीं है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ** (उवओगे) ज्ञान दर्शनोपयोग लक्षण रखनेके कारणसे अभेदनयसे आत्माको ही उपयोग कहते हैं इस उपयोग स्वरूप शुद्धात्मामें (उवओगो) उपयोग मई आत्मा ठहरता है (कोधादिसु) शुद्ध निश्चयनयसे क्रोधादिक परिणामोंमें (कोवि) कोई भी (उवओगो) उपयोगमई आत्मा (णत्थि) नहीं है। (कोहे) क्रोधमें (कोहो चे वहि) क्रोध ही निश्चयसे ठहरता है (खलु) स्फुट रूपसे–निश्चयसे (उवओगे) शुद्धात्मामें (कोहो) क्रोध (णत्थि) नहीं है। भावार्थः–क्रोधादिक भाव-

चारित्र मोहनीय कर्मके निमित्तसे होनेवाले औपाधिक भाव हैं। शुद्ध शांत ज्ञानानंदमयं आत्माके स्वाभाविक भाव नहीं हैं इस कारणसे भेदज्ञान यही बतलाता है कि शुद्धात्मा शुद्धज्ञान दर्शनोपयोगमई है उसमें यह विभाव भाव नहीं हैं-तथा यह विकारी भाव विकार स्वरूप क्रोध कषाय विशिष्ट अशुद्ध आत्मा में हैं ॥ १७१ ॥

आगे फिर भी भेद ज्ञानको दिखाते हैं:—

गाथाः—**अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो**
उवओगह्मिय कम्मं णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥ १७२ ॥

संस्कृतार्थः—अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगेऽपि च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥ १७२ ॥

सामान्यार्थ—आठ प्रकार कर्म और नोकर्ममें भी यह आत्मा नहीं है और न उपयोगमई आत्मामें कर्म्म और नोकर्म्म हैं। शब्दार्थसहित विशेषार्थ—(अट्ठ वियप्पे) आठ भेदरूप ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय आदि द्रव्यकर्मोंमें तथा (णोकंमे) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, शरीरादि नोकर्मोंमें (चावि) भी (उवओगो) शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्मा (णत्थि) नहीं है। तैसे ही (उवओगम्हिय) उपयोगमई शुद्धात्मामें शुद्ध निश्चयसे (कम्मंणोकम्मं) द्रव्य कर्म्म और नोकर्म्म (चावि) भी णो अत्थि) नहीं हैं। भावार्थ—भेदज्ञान ऐसा ही अनुभव करता है कि जैसे भाव कर्म्म मेरे शुद्धस्वरूपसे जुदे हैं तैसे ही द्रव्य कर्म्म और नोकर्म्म भी मेरे शुद्धस्वरूपसे भिन्न हैं ॥ १७२ ॥

आगे कहते हैं कि ऐसा भेद ज्ञानी जीव कोई भी पर भावको नहीं करता है।

गाथाः—**एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।**
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥ १७३ ॥

संस्कृतार्थः—एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा भवति जीवस्य।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥ १७३ ॥

सामान्यार्थः—जब इस जीवके विपरीत अभिप्रायसे रहित यह भेदज्ञान होता है तब यह उपयोगवान शुद्धात्मा कोई भी अन्य औपाधिक भावको नहीं करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जइयादु) जिस समय (जीवस्स) इस जीवके (एदंतु) यह चिदानंदमई एक शुद्धात्माका स्वसंवदेनरूप (णाणं) भेदविज्ञान (अविवरीदं) विपरीत अर्थात् मिथ्या अभिप्राय रहित (होदि) होता है (तइया) तब उस भेद विज्ञानसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है, शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर (उवओग) विकाररहित चिदानंदमई एक लक्षणको रखनेवाले शुद्धोपयोगका धारी (सुद्धप्पा) यह शुद्धस्वभावी आत्मा (किंचि ण) किसी भी मिथ्यात्त्व व रागद्वेषादि भावको नहीं (कुव्वदि] करता है। यहां ऐसा अभिप्राय है कि जिस जीवके ऊपर कहे अनुसार

संवर नहीं है उसमें आश्रव होता है। इस अधिकारमें यह कथन सब ठिकाने जानना योग्य है। भावार्थ—जब यह आत्मा रागद्वेषादि भावोंका त्याग कर अपने शुद्ध स्वभावमें तन्मय होता है तब इसके संवर होता है। और जब अपने स्वरूपकी तन्मयतासे बाहर होता है तब इसके शुभ व अशुभ कर्मोंका आश्रव होता है—

इस तरह पूर्वमें कहे अनुसार भेदज्ञानसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर यह जीव मिथ्यात्व रागद्वेषादि भावको नहीं करता है तब इसके नए कर्मोंका आश्रव नहीं होता अर्थात् संवर होता है इसतरह संक्षेपसे व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ १७३ ॥

आगे शिष्यने पूछा कि भेदज्ञानसे ही किसतरह शुद्धात्माका लाभ होता है जिसका समाधान आचार्य करते हैं।

गाथाः—**जह कणय मग्गितवियं कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।**
तहकम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं ॥ १७४ ॥

संस्कृतार्थ—यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकस्वभावं न तत्परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न त्यजति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ॥ १७४ ॥

सामान्यार्थ—जैसे अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने सुवर्णके स्वभावको नहीं छोड़ता है तैसे कर्मोंके उदयसे तप्तायमान ज्ञानी जीव अपने ज्ञानपनेको नहीं त्यागता है। **शब्दार्थ-सहित विशेषार्थ**—(जह) जैसे (कणयं) सुवर्ण (अग्गितवियं) अग्निसे तपा हुआ भी (तं कणय सहावं) अपने उस सुवर्णपनेके स्वभावको (ण परिच्चयदि) नहीं त्यागता है (तह) तैसे (कम्मो-दय तविदो) कर्मोंके उदयसे गर्म हुआ भी (णाणी) राग द्वेष मोह सम्बन्धी परिणामोंके त्यागमें परिणमन करनेवाले अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानका धारी ज्ञानी आत्मा (णा-णित्तं) शुद्धात्माका अनुभवरूप ज्ञानीपनेको (ण चयदि) नहीं त्यागता है। जैसे पांडवादिकों ने नहीं त्यागा। भावार्थ—जैसे युधिष्टिर भीमसेन अर्जुन ऐसे तीन पांडवोंको जब सेत्रुंजय पर्वत पर उपसर्ग किया गया तब उन्होंने ध्यानमें अपनी तल्लीनता ऐसी रक्खी कि उससे चलाय-मान न हुए और परमधामके अधिकारी हुए। इसीतरह जो आत्मज्ञानी अनुभवी दृढ़ महात्मा हैं वे अनेक कर्मोंके उदयसे होनेवाले उपसर्गोंके पड़ने पर भी अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होते। सुवर्णको कितना भी गर्म किया जाय तौ भी वह अपने स्वभावको नहीं त्यागता उसी तरह ज्ञानी जीव अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। यह सम्पूर्ण आत्मज्ञानकी महिमा है ॥ १७४ ॥

आगे अज्ञानी जीवका कर्तव्य कहते हैं—

गाथाः—**एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।**
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥ १७५ ॥

संस्कृतार्थः—एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानं ।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नमात्मस्वभावमजानन् ॥ १७५ ॥

सामान्यार्थ—ऊपर लिखे प्रकारसे ज्ञानी जानता है परंतु अज्ञानी जीव आत्माको रागरूप ही मानता है क्योंकि वह अज्ञानरूपी अंधकारसे ढका हुआ आत्मस्वभावको नहीं पहचानता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(णाणी) वीतराग स्वसंवेदन भेदज्ञानी महात्मा (एवं) ऊपर कहे प्रमाण अपने शुद्धात्माको (जाणदि) जानता है परंतु (अण्णाणी) भेदज्ञानसे रहित अज्ञानी आत्मा (अण्णाणतमोच्छण्णो) अज्ञानरूपी अंधकारसे ढका हुआ तथा (आद-सहावं) विकार रहित परम चैतन्यरूप चिन् चमत्कारको रखनेवाले शुद्धात्माके स्वभावको निर्विकल्प समाधिके अभाव होनेपर नहीं जानता हुआ—नहीं अनुभव करता हुआ, (आदं) अपने आत्माको (रागं) मिथ्यात्व व रागद्वेषरूप (एव) ही (मुणदि) मानता है। **भावार्थ**—अज्ञानीको अपने आत्माके वास्तविक स्वरूपका तथा रागादि भावोंका व शरीरादिकोंका भिन्न २ जानपना नहीं है इससे शुभ राग व अशुभ राग रूप ही रहता है और उस रूप ही अपने आत्माको मानता है। इससे भिन्न किसी शुद्ध बुद्ध ज्ञान स्वभाव आत्माका अनुभव नहीं करता है इससे संसारका नाश नहीं कर सक्ता। जब कि भेद ज्ञानी पर भावोंसे भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव करता हुआ कर्मकलंकोंसे मुक्त होता है। ॥ १७५ ॥

इसतरह शिष्यका यह प्रश्न होने पर कि भेदज्ञानसे कैसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है इसका समाधान करते हुए दो गाथाएं कहीं।

आगे फिर शिष्यने प्रश्न किया कि शुद्धात्माकी प्राप्तिसे ही संवर किसतरह होता है इसका उत्तर आचार्य कहते हैं—

गाथाः—सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १७६ ॥

संस्कृतार्थः—शुद्धं तु विजानन् शुद्धमेवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥ १७६ ॥

सामान्यार्थ—यह जीव अपने आत्माको शुद्ध रूप अनुभव करता हुआ शुद्ध स्वरूप ही आत्माको प्राप्त करता है परंतु अशुद्ध रूप अनुभव करता हुआ अशुद्ध रूप ही आत्माको प्राप्त करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(जीवो) ज्ञानी जीव (सुद्धं) भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इन तीन प्रकार कर्मोंसे रहित अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य आदि गुण स्वरूप शुद्ध आत्माको (वियाणंतो) विकार रहित सुखका अनुभव लक्षणमई भेद ज्ञानके प्रतापसे जानता हुआ व अनुभव करता हुआ (सुद्धम्) शुद्ध (एव) ही (अप्पयं) आत्माको (लहदि) प्राप्त करता है। क्योंकि जैसे गुणोंसे विशिष्ट शुद्ध आत्माको जो कोई ध्याता है व उसकी भावना करता है वह जीव उसी ही प्रकार उसने

ही गुण विशिष्ट शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि जैसा उपादान अर्थात् मूल कारण होता है वैसा ही कार्य्य होता है यह नियम है। (दु) परंतु अज्ञानी जीव (असुद्धं) मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि भावरूप परिणमनेवाला आत्माको (जाणंतो) अनुभव करते हुए (असुद्धं) अशुद्ध अर्थात मनुष्य व नरकादिरूप (एव) ही (अप्पयं) आत्माको (लहदि) प्राप्त करता है। भावार्थ—जिस स्वरूपमें तन्मय हुआ जायगा वैसा ही स्वरूप प्राप्त होगा। जो कोई ज्ञानी शुद्धोपयोगकी भावना करेगा वह शुद्ध होगा और जो अशुद्धोपयोगकी भावना करेगा वह अशुद्ध होगा ऐसा जानना॥ १७६॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि किस प्रकारसे संवर होता है इसका विशेष करके उत्तर कहते हैं:—

गाथाः—अप्पाणमप्पणो रुंभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणह्मिठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि॥ १७७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं॥ १७८॥

संस्कृतार्थः—आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन्॥ १७७॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वं॥ १७८॥

सामान्यार्थ—जो कोई अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा पुण्य और पाप दोनोंसे रोककर अन्य रागादि पर द्रव्योंकी इच्छासे विरक्त होता हुआ अपने दर्शनज्ञान स्वभावमें ठहराता है तथा जो सर्व परिग्रहको त्यागकर अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माको ध्याता है, द्रव्यकर्म्म व नोकर्म्मको नहीं ध्याता है सो ज्ञानी आत्मा अपने एक स्वभावको चिंतवन करता है॥ शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(अप्पाणं) अपने आत्माको (अप्पणा) अपने आत्माके द्वारा (दोसु पुण्ण पाव जोगेसु) दोनों पुण्य और पाप योगोंसे अर्थात् अपनेमें वर्त्तमान स्वसंवेदनज्ञानके बलसे शुभ और अशुभ मन, वचन, कायके योगोंकी निरुद्धतासे (रुंभिदूण) रोककरके अर्थात् हटा करके (य) और (अण्णम्हि) अपने आत्मासे दूसरे देह व रागद्वेषादि परद्रव्योंमें (इच्छाविरदो) सर्व तरहसे इच्छा न करके (दंसण णाणह्मि) अपने दर्शनज्ञान स्वभावमें (ठिदो) जो स्थित अर्थात् कायम होता है। तथा (जो) जो आत्मा (सव्वसंगमुक्को) परिग्रह रहित आत्मिक तत्त्वसे विलक्षण बाहर और अंतरंगकी २४ प्रकारकी परिग्रहसे छुटा हुआ (अप्पणो) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा (अप्पाणं) अपने शुद्ध आत्माको (झायदि) ध्याता है (कम्मं णोकम्मं) परंतु द्रव्यकर्म्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म्म शरीरादि इनको

(णवि) नहीं ध्याता है सो (चेदा) चेतना गुणधारी आत्मा (एयत्त) अपने एक स्वभावका (चिंतेदि) चिंतवन करता है। किसतरह चिंतवन करता है इसके लिये श्लोक कहते हैं—

श्लोकः—एकोऽहं निर्म्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः।
बाह्या संयोगजाभावाः मत्तः सर्वेपि सर्वथा॥

अर्थ—मैं एक हूं, मेरा कोई पदार्थ नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूं, तथा मुनीश्वरोंके द्वारा जानने योग्य हूं। परके संयोगसे उत्पन्न जितने भाव हैं वे सर्व ही सर्वथा मुझसे बाह्य हैं। **भावार्थ**—ज्ञाता आत्मा अपने स्वरूपको परम उपादेय निश्चय करके उसीका ही चिंतवन करता है और सम्पूर्ण परिग्रह आदिसे विरक्त हो जाता है॥ १७७-१७८॥

आगे कहते हैं कि आत्माके ध्यानसे किस फलकी प्राप्ति होती है:

गाथाः—**अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमइओ अणण्णमणो।**
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं॥ १७९॥

संस्कृतार्थः—आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमनाः।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मनिर्मुक्तं॥ १७९॥

सामान्यार्थः—ऊपर कहे प्रमाण ज्ञानी आत्मा दर्शन ज्ञान मई तथा एकाग्रमन होकर अपने आत्माको ध्याता हुआ कर्म कलंकसे मुक्त आत्माको ही थोड़े कालमें प्राप्त करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(सो) ऊपर दोनों सूत्रोंमें कहे प्रमाण ज्ञानी आत्मा (अप्पाणं) आत्माको पूर्वमें कहे अनुसार (झायंतो) चिन्तवन करता हुआ तथा निर्विकल्प रूपसे ध्याता हुआ (दंसणणाणमइओ) दर्शनज्ञानमई होकर अर्थात् आत्माका संदेह रहित निश्चय और ज्ञान करके (अणण्णमणो) तथा अपने आत्मामें एक चित्त होकर (कम्मणिमुक्कं) भाव कर्म रागद्वेषादि, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनसे मुक्त अर्थात् बिल्कुल छुटे हुए (अप्पाणमेव) आत्माको ही (अचिरेण) थोड़े ही कालमें (लहदि) प्राप्त करता है। भावार्थः—जो कोई भेद ज्ञानी शुद्धात्माको विकल्पोंको त्याग करके ध्याता है वह शीघ्र ही शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है। ॥१७९॥ इसतरह शिष्यका यह प्रश्न हुआ कि संवर किसतरह होता है इसका विशेष रूपसे समाधान करते हुए तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे परोक्ष आत्माका ध्यान किस तरह किया जाता है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य करते हैं:—

गाथाः—**उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।**
भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठोय णादोय॥ १८०॥

संस्कृतार्थः—उपदेशेन परोक्षरूपं यथा दृष्ट्वा जानाति।
भण्यते तथैव ध्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च॥ १८०॥

सामान्यार्थः—जैसे किसीका परोक्षरूप उपदेशद्वारा लिखा देखकर वह जाना जाता है

वैसे यह जीव वचनोंके द्वारा कहा जाता है तथा मनके द्वारा ग्रहण किया जाता है। मानों प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(जह) जैसे इस लोकमें (परोक्खं रूवं) परोक्ष रूप हुआ भी देवदत्त नामके किसी मनुष्यका रूप (उवदेसेण) दूसरोंके उपदेशसे लिखा हुआ (पस्सिदूण) देखकर (णादेदि) जाना जाता है कि यह देवदत्त है (तहेव) वैसे ही (जीवो) यह जीव (भण्यते) वचनोंके द्वारा कहा जाता है तथा (दिठ्ठोय) यह जीव मेरे द्वारा देखा गया (णादोय) और जाना गया ऐसा (घिप्पदि) मनके द्वारा ग्रहण किया जाता है अर्थात् मनमें धारण किया जाता है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थमें कहा गया है "गुरूपदेशाभ्यासात् संवित्तेः स्वपरांतरं-जानातियः स जानाति मोक्ष-सौख्यं निरंतरं ॥" अर्थात् गुरुके उपदेशसे, अभ्यासके बलसे व स्वसंवेदन ज्ञानसे जो कोई अपने आत्मा और पर पदार्थका भेद जानता है वह मुक्तिके सुखको निरंतर जानता है अर्थात् अनुभव करता है। भावार्थः—जैसे किसीने देवदत्तका रूप देखकर उसका चित्र खींचा-उस चित्रको किसी अन्य मनुष्यने देखकर दूसरेके उपदेशसे यह जान लिया कि देवदत्तका इसतरहका रूप है। यद्यपि उसने देवदत्तको प्रत्यक्ष नहीं देखा है तथापि परोक्ष चित्रके देखनेसे ही उसको ज्ञान हो गया कि देवदत्तका स्वरूप ऐसा है। उसी तरह प्रत्यक्ष ज्ञानीने आत्माको प्रत्यक्ष देखकर उनका स्वरूप वर्णन किया-सुननेवाला परोक्षज्ञानी है प्रत्यक्ष आत्माको देख नहीं सक्ता। तौभी परके उपदेशसे आत्माकी पहचान करके उसका अनुभव इसी प्रमाण कर सक्ता है कि मानों मैंने साक्षात् आत्माको देख ही लिया। इस तरह स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा अनुभव करते हुए यह आत्मा मुक्तिका परमसुख प्राप्त कर सकता है ऐसा जानना।॥ १८० ॥

आगे फिर भी इसी वातको कहते हैं:—

गाथाः—**कोविदिदिच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।**
पच्चक्खमेव दिठ्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं ॥ १८१ ॥

संस्कृतार्थः—कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणेत् रूपमिदं।
प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं ॥ १८१ ॥

सामान्यार्थः—इस वर्तमान पंचमकालमें कौन ऐसा आत्म पदार्थका ज्ञाता साधु है जो यह कहे कि मैंने इस प्रकार परोक्ष श्रुतज्ञानमें प्रवर्तनेवाले आत्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष ही देख लिया है? अर्थात् कोई नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(को) कौन (विविदिछो) पदार्थोंका ज्ञाता (साहू) साधु (संपड़िकाले) इस वर्तमान पंचमकालमें (भणिज्ज) यह कह सक्ता है कि मेरे द्वारा (परोक्खणाणे) केवल ज्ञानकी अपेक्षा परोक्षश्रुत ज्ञानमें (पवट्ठंतं) प्रवर्तनेवाला (इणं) इस प्रकारका (रूवं) आत्माका स्वरूप (पच्चक्खमेव) प्रत्यक्षमें ही (दिठ्ठं) देखा गया है जैसा

चौथेकालमें केवलज्ञानीने प्रत्यक्ष आत्माको देखा था। इस कथनका विस्तार यह है कि यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षासे रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदन रूप भाव श्रुतज्ञान शुद्ध निश्चय-नयसे परोक्ष है ऐसा कहा जाता है क्योंकि श्रुत ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न है तथापि इन्द्रिय और मनके द्वारा उत्पन्न विकल्पसहित ज्ञानकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष है। इस कारण यह आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है क्योंकि अनुभवगम्य है तथापि केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्षही है। सर्वथा परोक्षही है ऐसा नहीं कहा जा सक्ता है। किंतु चतुर्थकालमें भी केवली भगवान क्या आत्माको हाथमें लेकर दिखलाते हैं? नहीं; वे भी अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा ही कहते हैं तौभी ध्वनिके सुननेके कालमें भी सुननेवालोंके लिये आत्माका स्वरूप परोक्ष ही है। पीछे जब परम समाधि जागृत की जाती है तब आत्मा प्रत्यक्ष होता है। जैसा चौथे कालमें था वैसा इस पंचम कालमें भी है ऐसा तात्पर्य है। भावार्थः—यह आत्मा केवल ज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है परन्तु भावश्रुत ज्ञानरूप स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। वचनोंके द्वारा इसका स्वरूप नहीं दिखाया जा सक्ता—चाहे केवलज्ञानकी ध्वनि हो चाहे श्रुतज्ञानीके शब्द हों—केवल वचनोंसे कहा जाता है तब परोक्ष रूप ही मालुम होता है—जब वह श्रोता विकल्प त्याग निज समाधिमें तल्लीन होता है तबही आत्माको प्रत्यक्ष अनुभवकर परमानन्दका लाभ करता है॥ १८१ ॥ इस प्रकार परोक्ष आत्माका किस तरह ध्यान किया जाता है इसका समाधान करते हुए दो गाथाएं समाप्त हुईं।

आगे कहते हैं कि जब उदयमें आए हुए द्रव्य कर्म्म रूप राग द्वेषादि अध्यवसानोंका अभाव होता है तब जीवमें होनेवाले रागद्वेषादि भाव कर्म्म रूप अध्यवसानोंका भी अभाव होता है इत्यादि रूपसे संवरका क्रमसे वर्णन करते हैं।

गाथाः—तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावोय जोगोय॥ १८२॥

संस्कृतार्थः—तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च योगश्च॥ १८२॥

सामान्यार्थः—उन रागादि भावोंके कारण उदय प्राप्त मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, तथा योग ऐसे चार अध्यवसान हैं यह बात सर्व दर्शी भगवान सर्वज्ञोंने कही है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(तेसिं) उन प्रसिद्ध जीव सम्बन्धी रागद्वेषादि विभाव कर्मोंके अर्थात् भावाश्रवोंके (हेदू) कारण (अज्झवसाणाणि) उदयमें आए हुए द्रव्य कर्म्मरूप रागादिक हैं ऐसा (सव्वदरसीहिं) सर्व दर्शी सर्वज्ञोंने (भणिदा) कहा है। यहां शिष्यने शंकाकी कि अध्यवसान तो भावकर्मरूप होते हैं इसलिये उनको जीव सम्बन्धी ही होना चाहिये। उदयमें प्राप्त द्रव्यकर्म्म रूपी कारणोंको भाव प्रत्यय

रूप अध्यवसान कैसे कह सक्ते है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि भावकर्म्म दो तरहके होते हैं एक जीव सम्बन्धी दूसरे पुद्गल सम्बन्धी—क्रोध मान माया लोभ आदि प्रगट रूप भावोंको जीव सम्बन्धी भाव कर्म्म तथा पुद्गलपिंड जो उदयमें आते हैं उनमें जो शक्ति है उनको पुद्गल द्रव्य रूप भावकर्म्म कहते हैं—ऐसा ही कहा है:—“ पुग्गल-पिंडो दव्वं कोहादी भावकम्मंतु। पुग्गल पिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मंतु ” ॥ यहां दृष्टांत द्वारा समझाते हैं कि मीठी या कड़वी आदि स्वादवाली चीज़ जब भक्षण की जाती है तब उस खानेवाले जीवके मीठा या कड़वा आदि स्वादका प्रगट विकल्परूप जीव सम्बन्धी भाव होता है उस भावकी व्यक्तता अर्थात् प्रगट होनेका कारण मीठी या कड़वी आदि द्रव्यके भीतर रह-नेवाली मीठे या कड़वेपनेकी शक्ति है जो कि पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी है इस शक्तिको पुद्गलका भावकर्म्म कहते हैं। इस तरह भावकर्मका स्वरूप जीव सम्बन्धी और पुद्गल सम्बन्धी दो तरहका जानना—जहां कही भावकर्म्मका व्याख्यान हो वहां ऐसा ही मतलब समझना योग्य है। वे अध्यवसान चार हैं (मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावोय जोगोय) मिथ्यादर्शन कर्म्म जिसके उदयसे विपरीत श्रद्धान होता है, अज्ञान जिसके उदयसे ज्ञानकी मंदता रहती है, अविरति भाव अर्थात् कषायोंका उदय जिसके कारण अपने आत्मामें चारित्रका यथार्थ अनुभव नहीं कर सक्ता तथा योग अर्थात् शरीरादि नाम कर्म्मके उदयके कारण आत्माके प्रदेशोंका हलनचलन व्यापार होता है अथवा आत्माकी योग शक्तिका परिणमन होता है। **भावार्थ:**-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्रके कारण मिथ्यादर्शन कषायादि कर्मोंका उदय है—पुद्गल पिंडमें जो फलदान शक्ति होती है उसे भी भावकर्म कहते हैं और जो जीवके उसके उदयसे भाव होता है उसे भी भावकर्म कहते हैं। इसलिये दोनोंको अध्यवसानके नामसे वर्णन करते हैं। यह अध्यवसान संसारके कारण हैं अतएव भेद ज्ञानी आत्मा इनका त्यागकर अपने आत्मीक आनन्दका अनुभव करे।

आगे संवर कैसे होता है-सो कहते हैं:-

गाथा:—**हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।**
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो ॥१८३॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो।
णो कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥ १८४ ॥

संस्कृतार्थ:—हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥ १८३ ॥
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन तु संसारनिरोधनं भवति ॥ १८४ ॥

सामान्यार्थः—कारणोंके अभावसे नियम करके इस ज्ञानी जीवके आश्रवका रुकना होता है। आश्रव भावके विना कर्मोंका निरोध होता है। द्रव्यकर्मोंके अभावसे नोकर्मोंका निरोध होता है। नोकर्मोंके निरोधसे संसारका अभाव होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः —(हेदु) पूर्वोक्त कहे हुए उदयमें प्राप्त द्रव्यकर्मोंका जो जीवके भावाश्रवोंके अर्थात् रागद्वेषादि भावोंके कारण हैं (अभावे) अभाव होनेपर अर्थात् उदय न होनेपर (णाणिस्स) वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीवके (णियमा) निश्चयसे (आसवणिरोहो) रागद्वेषादि भाव रूप आश्रवोंका रुकना है लक्षण जिसका ऐसा संवर (जायदि) उत्पन्न होता है। (आसव भावेण) आश्रवसे रहित परमात्मतत्वके स्वरूपसे भिन्न लक्षणको रखनेवाले जीव सम्बन्धी भावाश्रवभावके विणा) विना (कम्मस्सदु णिरोहो, परमात्मतत्वके रोकनेवाले नवीन द्रव्यकर्मोंका रुकना (जायदे) होता है। (च) और (कमस्साभावेण य) फिर नवीन द्रव्यकर्मोंके अभाव होनेसे अर्थात् रुकनेसे (णोकम्माणं निरोहो) शरीरादि नोकर्मोंका निरोध (जायदि) होता है (णोकंमणिरोहेण य) और नोकर्मोंके रुकनेसे (संसारणिरोहणं होदि) संसारसे रहित शुद्ध आत्मीक तत्वके विरोधी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावमई पांच प्रकार संसारका रुकना होता है। **भावार्थः**—शरीरादि नोकर्मोंका जबतक ग्रहण है तबतक संसार है-यह शरीर द्रव्यकर्मोंके उदयसे होता है। द्रव्यकर्मोंका बंध भावकर्मोंसे होता है। भावकर्मोंका होना प्राचीन उदय प्राप्त द्रव्यकर्मोंके उदयसे होता है-इसलिये जिसके रागद्वेषादि भावोंके कारणभूत द्रव्यकर्मोंका अभाव हो गया वह संसारसे नियमसे छूट गया। इस सम्यग्ज्ञानी जीवको अपने तत्वज्ञानके द्वारा व निज आत्मसमाधिमें तल्लीन होनेके कारणसे जब द्रव्यकर्मोंकी निर्जरा होती है तब उस भावको ही संवर भाव कहते हैं क्योंकि वह नवीन द्रव्यकर्मोंका रोकनेवाला है। अतएव अनेक उपाय करके इस संवरभावकी प्राप्तिका यत्न करना ज़रूरी है। इसतरह तीसरी गाथा पूर्ण हुई। इस तरह संवरके क्रमका वर्णन करते हुए तीन गाथाएं पूर्ण हुई ॥१८३-१८४॥

इस तरह समयसारकी व्याख्याको करती हुई शुद्धात्मानुभवलक्षण तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें १४ गाथाओंसे व ६ स्थलोंसे संवरका विपक्षी आश्रव नामा पांचवां अधिकार समाप्त हुआ।

इस तरह जैसे नाटकमें नाटयरूपी पात्र अपना खेल दिखा चला जाता है ऐसे ही संवरका विरोधी आश्रव नाटयशालासे निकल गया।

छठा महा अधिकार। (६)

संवरतत्त्व।

आगे संवर तत्त्व प्रवेश करता है:—

संवरके अधिकारमें जो जहां मिथ्यादर्शन तथा रागद्वेषादिमें परणमन होता हुआ बहिरात्मापने अर्थात् मिथ्यादर्शनपनेकी भावनारूप आश्रव भाव नहीं है वहां संवर होता है। इस तरह आश्रवका विरोध करते हुए वीतराग सम्यक्त रूप संवरका व्याख्यान १७ गाथाओंमें करते हैं—पहले ही वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवके रागद्वेष मोहरूप आश्रवभाव नहीं होते इसका संक्षेपसे वर्णन करते हुए 'मिच्छत्तं अविरमणं' इत्यादि गाथाएं तीन हैं। उसके बाद रागद्वेष मोहरूप आश्रवभावोंका फिर भी विशेष वर्णनकी मुख्यतासे 'भावो रागादि जुदो' इत्यादि स्वतंत्र गाथाएं ३ हैं। उसके पीछे केवलज्ञान आदि गुणोंकी प्रगटतारूप कार्य समयसारके कारणभूत निश्चय रत्नत्रय स्वरूपमें परिणमन करनेवाले सम्यग्ज्ञानी जीवके रागद्वेषादि भाव कर्मोंका निषेध है इस कथनकी मुख्यतासे 'चउविह' इत्यादि गाथाएं तीन हैं। उसके पीछे उस ही सम्यग्ज्ञानी जीवके मिथ्यादर्शन व कषायादि द्रव्य कर्म्म सत्तामें रहते हुए भी वीतराग चारित्रकी भावनाके बलसे रागद्वेषादि भाव कर्मोंका निषेध है, इस कथनकी मुख्यता करके 'सव्वेपुव्वणिवद्धा' इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके पीछे नवीन द्रव्यकर्मोंके आश्रवके लिये उदयमें आए हुए द्रव्यकर्म्म कारण होते हैं उन उदयमें आए हुए द्रव्यकर्मोंके कारण जीव सम्बन्धी रागद्वेषादि भाव कर्म होते हैं। इस तरह कारणका कारण इस बातके व्याख्यानकी मुख्यता करके चार सूत्र हैं। इस प्रकार १७ गाथाओंके पांचस्थलोंमें संवरके अधिकारकी समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे द्रव्य और भाव आश्रवका स्वरूप कहते हैं:—

गाथाः—**मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगाय सण्ण सण्णादु।**
बहुविहभेदा जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा॥ १८५॥

संस्कृतार्थः—मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः॥ १८५॥

सामान्यार्थः—मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग यह चेतन और अचेतन रूपसे दो प्रकार हैं तथा इनके उत्तर भेद बहुत प्रकार हैं ये इस जीवमें होते हैं इसलिये इस जीवके ही अभिन्न अर्थात् अपने भाव हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(मिच्छत्तं) मिथ्यादर्शन (अविरमणं) अविरति अर्थात् असंयम (कसाय) क्रोधादि कषाय (जोगाय) मन, वचन कायके योग (सण्णसण्णादु) ये चार भावप्रत्यय और द्रव्यप्रत्यय रूपसे संज्ञा अर्थात् चेतनरूप और असंज्ञा अर्थात् अचेतनरूप हैं। भावार्थः—जीव सम्बन्धी विभाव भाव तो चेतन हैं और पुद्गल-

गई द्रव्यकर्म सम्बन्धी प्रकृति अचेतन जड़ हैं— असत श्रद्धान रूप भाव भावमिथ्यात्व है और दर्शनमोहनीय कर्मप्रकृति द्रव्य मिथ्यात्व है; संयम न पालने रूप भाव भाव असंयम है, अप्रत्याख्यानावरणी आदि चारित्र मोहनीय कर्म द्रव्य असंयम है, क्रोध मानादि अशुद्ध भाव भावकषाय हैं, क्रोध मानादि चारित्र मोहनीय कर्म द्रव्य कषाय हैं, आत्माकी योगशक्तिका परिणमन अथवा आत्माके प्रदेशोंका हलनचलन भावयोग है, शरीर अंगोपांग स्वर आदि नामकर्म द्रव्ययोग हैं। अथवा (दूसरा अर्थ यह है कि) मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, और योग इनके सिवाय आहार, भय, मैथुन, और परिग्रहरूप चार संज्ञाएं अर्थात कामनाएं तथा असंज्ञा तीन, यहां असंज्ञाके ईषत् संज्ञा अर्थात् संज्ञाकी अपेक्षा कुछ कम कामना ऐसा अर्थ लेना—यह असंज्ञा तीन प्रकार है—इस लोककी इच्छा, परलोककी इच्छा, तथा कुधर्म अर्थात् जो धर्म नहीं है उसकी इच्छा—यह सर्व (बहुविह भेदा) भाव उत्तरभेदमें अनेक प्रकारके (जीवे) इस अधिकरणभूत जीवमें होते हैं। और ये सर्व विभाव परिणाम (तस्सेव) इस ही जीवके (अणण्ण परिणामा) अभिन्न परिणाम अशुद्ध निश्चय नयसे हैं। भावार्थः—पुद्गलके संयोग सम्बन्धके कारण इस आत्मामें अनेक विभाव परिणाम होते हैं। यह सर्व विभाव अशुद्ध निश्चय नयसे इस अशुद्ध जीवके भाव हैं। इससे इसके ही भाव कहे जाते हैं परन्तु शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा यह सर्व इस जीवके भाव नहीं हैं परन्तु पुद्गल द्रव्यकृत विकार हैं। अतएव भेद विज्ञानी आत्मा इन सर्व आश्रवके कारणभावोंको अपनेसे भिन्न अनुभव कर अपने शुद्धस्वरूपमें तन्मय रहता है। यही शुद्ध भावसंवर रूप भाव है॥ १८५ ॥

आगे आश्रव भावोंको फिर भी वर्णन करते हैं—

गाथाः—**णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।**
तेसिंपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो ॥ १८६ ॥

संस्कृतार्थः—ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति।
तेषामपि भवति जीवः रागद्वेषादिभावकरः १८६ ॥

सामान्यार्थः—वे उदयमें आए हुए द्रव्यकर्म नवीन ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार कर्मबंधके कारण होते हैं। उन द्रव्य प्रत्ययोंका भी कारण रागद्वेषादि भावोंका करनेवाला जीव है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(तेदु) वे पूर्वमें कहे हुए बंध प्राप्त द्रव्यकर्म उदयमें आने हुए (णाणावरणादीयस्स कम्मस्स) निश्चय चारित्रके साथ अवश्य होनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शनके अभावमें शुद्धात्मीक स्वरूपसे भ्रष्ट जीवोंके लिये ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार द्रव्यकर्माश्रवके (कारणं होंति) कारण होते हैं। भावार्थः—जब द्रव्यकर्म उदयमें आकर आत्मा उनसे विचलित होता है तब इसके नवीन द्रव्यकर्मोंका आश्रव होता है। (तेसिंपि) उन द्रव्यकर्मोंका भी कारण (रागदोसादि भावकरो जीवो) रागद्वेषादि भावोंमें परिणमन

होनेवाला जीव है। यहां यह तात्पर्य है कि पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्मोंका उदय होने पर जब यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनाको छोड़के रागद्वेषादि विभाव परिणामरूपसे परिणमन करता है तब इसके नवीन द्रव्यकर्मोंका बंध होता है। केवल कर्मोंके उदय मात्र होनेहीसे नवीन द्रव्यकर्मोंका बंध नहीं होता। यदि यह माना जाय कि पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्मोंके उदय मात्रसे अवश्य नए कर्मोंका बंध होगा तो सदा प्रत्येक जीवको संसार ही रहेगा क्योंकि संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंका उदय रहता है। परन्तु यह बात नहीं है, केवल कर्मोंका उदय बंधका कारण नहीं है। जो विकल्प रहित समाधिसे भ्रष्ट जीव हैं उनको यह मोह सहित कर्मोंका उदय व्यवहारसे नवीन बंधके लिये निमित्त कारण होता है निश्चयसे कर्मबंधके लिये अशुद्ध उपादान कारण इस जीवका अपना ही रागद्वेषादि अज्ञानभाव है। भावार्थः—जब यह अपनी आत्म समाधिमें लीन रहता है तब कर्म उदयमें आकर योंही झड़ जाते हैं इससे नए कर्मोंका बंध नहीं होता। परन्तु जब स्वस्वरूपमें तन्मय नहीं है तब मोहनीय आदि कर्मोंका उदय होने पर यह आत्मा अपने भाव रागद्वेष मोहरूप कर लेता है तब वे विभाव भाव नवीन द्रव्यकर्मोंके आनेमें कारणभूत होते हैं। ऐसा जानना। अतएव बलपूर्वक उद्यम करके अपने आत्मस्वरूपमें तन्मय रहनेका यत्न करना योग्य है॥ १८६॥

आगे वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीवके रागद्वेष मोह रूप भावाश्रवोंका अभाव है ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथाः—**णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।**
संते पुव्वणिवद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो॥ १८७॥

संस्कृतार्थः—नास्त्यास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन्॥ १८७॥

सामान्यार्थः—सम्यग्दृष्टी जीवके तो आश्रव और बंध दोनों नहीं हैं किन्तु आश्रवको रोकनेवाला संवर भाव है तथा पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्म हैं परंतु वह उनको केवल जानता है और अपने भेद ज्ञानके बलसे नवीन कर्मोंको नहीं बांधता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(सम्मा दिट्ठिस्स) सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञानी अंतरात्माके (दु आसवबंधो) तो आश्रव और बंध दोनों (णत्थि) नहीं हैं (यहां गाथामें समाहार द्वन्द्वसमासकी अपेक्षासे द्विवचनको भी एक वचन किया गया है) परंतु (आसंवणिरोहो) आश्रवको रोकना है लक्षण जिसका ऐसा संवर भाव है। (सो) वह सम्यग्दृष्टी (पुव्वणिवद्धे) पूर्वमें बांधे हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंको (संते) विद्यमान रहते हुए (ते) नवीन कर्मोंको (अबंधंतो) अपने विशिष्ट भेद ज्ञानके बलसे नहीं बांधता हुआ (जाणदि) केवलमात्र कर्मोंके स्वरूपको वस्तु स्वरूपसे जानता है। यहां यह तात्पर्य है कि सम्यग्दृष्टीके दो भेद हैं एक सराग और दूसरा वीतराग इनमेंसे जो सराग

सम्यग्दृष्टी है सो "सोला पणवीसणभ दस चउ छक्केक्को छिन्ना। दुगतीस चदुर पुव्वेपण सोलस जोगिणो इक्को" इत्यादि बंध त्रिभंगीमें कही हुई गाथाके अनुसार क्रमसे जों जों गुणस्थान चढ़ता है अधिक अधिक प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति करता है अर्थात् कम कम प्रकृतियोंके बांधता है। इस गाथाका भावार्थ यह है कि प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें १६ प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति है अर्थात् इन १६ का बंध मिथ्यात्वमें ही है आगे नहीं है। वे प्रकृति यह हैं:—मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, पंडवेद, असं० संहनन. एकेन्द्रि, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्य०, नरकायु इसी तरह सासादनमें २५ का बंध हैं आगे नहीं हैं वे २५ प्रकृति यह हैं:—४ अनंता० क; १ स्त्यानगृद्धि, प्रचलाप्रचला, निद्रानिद्रा, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोधादि ४ संस्थान, वज्रनाराचादि ४ संहनन, १ अप्र० विहायोगति, १ स्त्रीवेद, १नीचगोत्र, १तिर्यंचगति, १ति. गत्यानुपूर्वी १ उद्योत, तिर्यंचायु, मिश्र ३रे गुणस्थानमें बंधकी व्युच्छित्ति नहीं है। चौथे असंयत गुणस्थानमें १० प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति है अर्थात् इन १० का बंध चौथेसे आगे नहीं होता—वे १० यह हैं "अप्रख्याना. ४, वज्रवृषभना० १, औदारिक शरीर अंगोपांग २ मनुष्यगत्यानुपूर्वी १ मनुष्यगति १, मनुष्यायु १" पंचमगुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरणी कषायचारका ही बंध है इसके आगे नहीं। छठे प्रमत्तमें अथिर, अशुभ, अयश, अरति, शोक, असाता इन छः का बंध है आगे नहीं। अप्रमत्तमें देवायु बंधे, आगे नहीं। अपूर्वकरणके प्रथम भागमें निद्रा, प्रचलाका छठे भागमें तीर्थंकर, निर्माण, प्र० विहायोगति, पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्माण, आहारक, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक, वैक्रियिकअंगो; वर्णादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उश्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय इन ३० का, तथा ७ वें भागमें हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन ४ का इस तरह ३६ का बंध यहीं तक आगे नहीं। अनिवृत्तिकरणमें पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज० मान, संज्व० माया, स्वंज्वलन लोभ इन पांचका बंध है आगे नहीं। दसवें सूक्ष्म साम्परायमें ५ ज्ञानावरणी, अंतराय ५, दर्शन० ४, यश १, उच्चगोत्र १ ऐसे १० का बंध है आगे नहीं। ११, १२, १३ गुणस्थानोंमें एक समय स्थितिवाला सातावेदनीयका बंध होता है, चौदहवेंमें नहीं। इस कथनके अनुसार सराग सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला आत्मा मिथ्यादृष्टि व सासादनकी अपेक्षासे ४३ अर्थात् (१६+२५+२ आहारक) प्रकृतियोंका बंध नहीं करता है केवल ७७ प्रकृतियोंको थोड़ी स्थिति व अनुभागको लिये हुए बंध करता है तो भी संसारकी स्थितिको छेदनेवाला होता है इस कारणसे इसको अबंधक कहते हैं। इसी तरह अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके ऊपर यथासंभव जहां तक सरागसम्यग्दृष्टि है वहां तक नीचेके गुणस्थानकी अपेक्षासे तारतम्यसे अबन्धक हैं। परन्तु उससे ऊपरके गुणस्थानकी अपेक्षासे बंधक है। इस तरह

जब इसके वीतराग सम्यग्दर्शन होता है तब यह साक्षात् बंधसे रहित हो जाता है ऐसा मानकर हम सम्यग्दृष्टि हैं सर्वथा हमें बंध नहीं होगा ऐसा नहीं कहना योग्य है। भावार्थ– यहां गाथामें कहा है कि समयग्दृष्टीके न तो कर्मोंका आश्रव है न बंध है। इसका अभिप्राय यह है कि वीतराग सम्यग्दर्शनके होते हुए कर्मोंका सांपरायिक आश्रव अर्थात् संसारका कारण कर्माश्रव नहीं होता और न कर्मोंकी स्थिति पड़ती है न अनुभाग बंध होताहै, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, गुणस्थानमें यद्यपि योगोंके परिणमनसे सातावेदनीय कर्मका आश्रव होता है तथापि कषायोंके न होनेसे केवल ईर्यापथ आश्रव व प्रकृति व प्रदेशबंध एक समयमात्र स्थितिका होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टीको अबंधक कहा है। जिसको सम्यक्त्व होजाता है उसका संसार थोड़े कालके लिये रहजाता है। यहांपर कोई ऐसा माने कि हम सम्यग्दृष्टी हैं हमें कर्मका बंध नहीं होगा। तो उसका मानना मिथ्या है। यद्यपि उसको गुणस्थानकी अपेक्षा अपने योग्य कितनी प्रकृतियोंका बंध नहीं होगा तथापि जिनके बंधनेका अभाव आगेके गुणस्थानमें है उनका नीचेके गुणस्थानमें अवश्य बंध होगा॥ १८७॥

इसतरह आश्रवका विपक्षी जो संवर उसकी संक्षेपसे सूचनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे रागद्वेष मोह रूपी भावोंके आश्रवपना हैं ऐसा निश्चय करते हैं:-

गाथाः—**भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि।**
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि॥ १८८॥

संस्कृतार्थः—भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बंधको भवति।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायको नवरि॥ १८८॥

सामान्यार्थ—इस जीवसे किया हुआ रागद्वेषादि भाव तो कर्मोंका बांधनेवाला होताहै किन्तु रागद्वेषादिसे रहितभाव भावकर्मोंका बांधनेवाला नहीं है ऐसा जानो। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—जैसे **लोहा और चुम्बक** पत्थरका सम्बन्धजनित भाव अर्थात् परिणति विशेष लोहेकी सुईको अपनी ओर आकर्षण करनेमें प्रेरणा करती है तैसे ही (जीवेणकदो) इस अशुद्ध संसारी जीवसे किया हुआ (रागादि जुदो भावो) रागद्वेषादि रूप अज्ञानमई भाव अर्थात् परिणति विशेष शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा (दु) तो आनन्दरूप, अविनाशी, अनादि और अनंत शक्तिको रखनेवाला, प्रकाशमान, कर्मादि पर पदार्थोंके लेप रहित, निर्मलगुणके धारी आत्माको भी शुद्धस्वभावसे हटाकर (बंधगो होदि) कर्मबंध करनेके लिये प्रेरणा करती है (णवरि) किन्तु (रागादि विप्पमुक्को) रागद्वेषादि अज्ञान भावोंसे छुटा हुआ निर्मल शुद्धोपयोग रूप भाव (अबंधगो) अबंधक होता हुआ इस जीवको कर्मबंध करनेके लिये प्रेरणा नहीं करता है, परन्तु इस आत्माको पूर्वमें कहे हुए शुद्ध स्वभाव रूपसे ही स्थिर रखता है

(जाणगो) अर्थात् ज्ञाता दृष्टा रखता है इस कथनसे वह जाना जाता है कि रागादि रहित चैतन्यके चमत्कार मात्र परमात्म पदार्थसे भिन्न जो रागद्वेष मोह हैं वे ही बंधके कारण हैं **भावार्थः**—जैसे चुम्बक पत्थर और लोहेका सम्बन्ध लोहेको आकर्षण कर लेता है। ऐसा ही रागद्वेष मोह भावोंसे लिप्त आत्मा कर्मोंको आकर्षण करके बांध लेता है और जैसे चुम्बक पत्थर लोहेके सम्बन्धसे अलग पड़ा हुआ लोहेको नहीं घसीटता—इसीतरह रागद्वेष मोह भावोंसे रहित शुद्धोपयोगी वीतरागी आत्मा द्रव्य कर्मोंको नहीं बांधता है—इससे रागद्वेष मोह ही भावाश्रव हैं इससे जिस तरह बने इनको रोककर संवरभाव रखनेका उद्यम करना योग्य है॥ १८८॥

आगे रागद्वेषादि भावोंसे रहित शुद्ध भावका संभवपना दिखलाते हैं:-

गाथाः—पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेदि॥ १८९॥

संस्कृतार्थः—पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्ते।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति॥ १८९॥

अर्थः—जैसे पका फल वृक्षसे गिर जाने पर फिर वही फल अपनी टहनीमें नहीं लग सक्ता है तैसे ही तत्त्वज्ञानी जीवके साता व असाताके उदयजनित सुख दुःखरूप कर्म भाव अर्थात् कर्म पर्यायके गलनेपर फिर वह कर्म बंधको प्राप्त नहीं होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जह) जैसे (पक्के फलंमि) पक्के फलके (पड़िदे) गिरते हुए (पुणो) फिर (वेंटे) उस टहनीमें (फलं) वह फल (ण वज्झदे) नहीं बंधता है तैसे (जीवस्स) तत्त्वज्ञानी जीवके (कंम भावे पड़िदे) साता व असाताके उदय जनित सुख दुःखरूप कर्मोंकी अवस्थाके फल देकर झड़ जाने पर (ण पुणो उदयमुवेदि) फिर वह कर्म नहीं बंधको प्राप्त होता है क्योंकि वहां रागद्वेष मोहका अभाव है और न वह फिर उदयको प्राप्त होता है। इससे जब रागद्वेषादि भावोंका अभाव होता है तब शुद्ध भाव उत्पन्न होता है इसीसे ही उस सम्यग्दृष्टी जीवके विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे संवर पूर्वक निर्जरा होती है। **भावार्थः**—जो आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें तल्लीन है उसके कर्म उदयमें आकर झड़ जाते हैं और फिर वे कर्म न बंधतेहैं और न फिर उदयमें आसक्ते हैं—प्राचीन कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं। तब जो रागद्वेष न करके वीतराग भावमें तन्मय रहता है उसके न नए कर्म बंधते हैं और न वे उदयमें आसक्ते हैं। अतएव जब सर्व कर्म झड़ जाते हैं, तब शुद्ध आत्मीकभाव परिपूर्ण रूपसे प्रकाशित होजाता है। इसलिए जिस तरह होसके रागद्वेषादि भावोंको दूर कर वीतराग भावरूप ही रहना योग्य है॥ १८९॥

आगे ज्ञानी जीवके नवीन द्रव्याश्रवोंका अभाव है ऐसा दिखलाते हैं।

गाथाः—पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ॥ १९० ॥

संस्कृतार्थः—पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १९० ॥

सामान्यार्थः—उस वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवके वे पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्म पृथ्वीपिंडके समान हैं, कार्यकारी नहीं हैं। वे सर्व ही कर्म कार्माण शरीररूपसे बंधे हुए ज्ञानी जीवके रहते हैं। शब्दार्थ सहित विशेपार्थः—तस्स) उस वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवके (पुव्वनिबद्धा) पूर्वकालमें बांधे हुए (पच्चया) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि द्रव्याश्रवरूपी कर्म (दु) तो (पुढवीपिंडसमाणा) मिट्टीके ढेरके समान अकार्यकारी होते हैं, अर्थात् रागद्वेपादि भावोंको नहीं पैदा करनेके कारणसे आगामी बंधके लिये कुछ कार्यकारी नहीं होते, अर्थात् उसके नवीन द्रव्य कर्मोका बंध नहीं होता (ते सव्वे वि) वे सर्व ही (बद्धा) पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्म (णाणिस्स) निर्मल आत्माका अनुभवरूपी लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानी जीवके (कंमसरीरेण दु) कार्माण शरीर रूपसे ही रहते हैं। रागद्वेपादि भावोंमें जीवको परिणमन नहीं कराते हैं। यद्यपि द्रव्याश्रवरूपी कर्म मुट्ठीमें रक्खे हुए विषके समान कार्माण शरीररूपसे पड़े रहते हैं तथापि उदयमें आए विना अर्थात् विना रसोदयके सुख दुःखरूपी विकारमई बाधाको नहीं करते हैं। इसी कारणसे ज्ञानी जीवके नवीन कर्मोका आश्रव नहीं होता। भावार्थः—जब यह वीतराग सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मा उद्यम करके अपने स्वरूपमें तिष्ठता है तब पुराने रागद्वेपादि द्रव्य कर्म रागादि भावोंको पैदा न करके मिट्टीके ढेलेके समान पड़े रहते हैं कुछ भी काम न करके अपने समयपर झड़ जाते हैं जैसे मुट्ठीमें रक्खा हुआ विष शरीरमें ज़हर नहीं चढ़ा सक्ता ऐसे ही वे द्रव्यकर्म यों ही पड़े रहते हैं ॥ १९० ॥

इस तरह रागद्वेष मोहरूपी आश्रवोंका विशेपरूपसे विवरण करते हुए स्वतंत्र तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी आश्रव रहित होता है।

गाथाः—चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु ॥ १९१ ॥

संस्कृतार्थः—चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥ १९१ ॥

सामान्यार्थ—चार प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ऐसे द्रव्याश्रव कर्म जीवके ज्ञानदर्शन गुणोंके द्वारा अनेक प्रकार ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्मोको प्रति समयमें बांधते हैं, इस कारणसे जो भेदज्ञानी है वह अबंधक है। शब्दार्थ सहित विशेपार्थ—(चउविह) चा

प्रकार मूल प्रत्यय अर्थात् कारण जैसे मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग उदयमें आकर (णाणदंसणगुणेहिं) जीवके ज्ञान दर्शनगुणोंके द्वारा (अणेयभेयं) अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंको (समये समये) प्रत्येकसमय समयमें (बंधंते) बांधते हैं। यहां यह भाव है कि द्रव्याश्रवरूपीः कर्म उदयमें आते हुए जीवके ज्ञानदर्शन गुणोंको रागद्वेषादि अज्ञान भावमें परणमन करादेते हैं, तब वे रागद्वेषादि अज्ञान भावमें परिणमन होनेवाले ज्ञान दर्शनगुण बंधके कारण होते हैं। वास्तवमें तो राग द्वेषादि अज्ञान भावोंमें परणमन होनेवाले ज्ञान और दर्शन दोनोंको अज्ञान ही कहते हैं (कहीं २ "अण्णाणदंसण" गुणेहिं, ऐसा पाठ है) (जम्हा) क्योंकि ज्ञान दर्शन गुण रागादि अज्ञान भावमें परिणमन होकर नवीन कर्मोंको बांधते हैं (तेण) इसलिये (णाणी दु) भेदज्ञानी (अबंधुत्ति) कर्मबंध करनेवाला नहीं होता, किन्तु ज्ञानदर्शन गुण रागद्वेषरूप होनेके कारणसे वे उदयमें आए हुए द्रव्यकर्म बंध करनेवाले हैं। इसतरह ज्ञानी जीवके आश्रवपनेका अभाव है ऐसा सिद्ध हुआ। भावार्थः—जब इस जीवके द्रव्य कर्मोंका उदय होता है तब इस भेदज्ञान रहित आत्माके रागद्वेषादि रूप परिणति होती है अर्थात् इसकी ज्ञान दर्शन परिणति रागद्वेषरूप हो जाती है तब नवीन कर्मोंका बंध होता है। परन्तु जो यह ज्ञानी आत्मा अपने स्वरूपमें लीन रहे, रागद्वेष न करे तो यह कर्मोंको बंध नहीं करता इससे जिसतरह बने भेदज्ञानरूप रहना योग्य है ॥ १९१ ॥

आगे फिर भी प्रश्न करते हैं कि ज्ञान गुणका परिणाम बंधका कारण कैसे होता है?

गाथाः—जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १९२ ॥

संस्कृतार्थः—यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात्पुनरपि परिणमते।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥ १९२ ॥

सामान्यार्थः—यथाख्यात चारित्रसे पहले जघन्य ज्ञान गुणसे फिर भी अन्य अवस्थाको परिणमन करता है। इस कारणसे वह ज्ञानगुण बंध करनेवाला कहा गया है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जम्हा दु) क्योंकि यथाख्यात चारित्रसे पूर्व जघन्य अर्थात् हीन अर्थात् कषाय सहित ज्ञान गुण होता है (जहण्णादो णाण गुणादो) इसलिये उस जघन्य ज्ञान गुणके कारणसे अंतर्मुहूर्तके पीछे विकल्प रहित समाधिमें ठहर नहीं सक्ता है। इसकारणसे (णाण गुणो) वह ज्ञान गुण (पुणोवि अण्णत्तं परिणमदि) फिर भी अन्य अवस्थाको अर्थात् विकल्पसहित पर्यायमें परिणमन करता है। (तेण दु) उस विकल्पसहित कषाय भावके कारण (सो) वह ज्ञान गुण (बंधगो) कर्मबंध करनेवाला (भणिदो) कहागया है। भावार्थ—यथाख्यात चारित्र ११ वें व १२ वें गुणस्थानमें होता है, उस समय विकल्परहित समाधि है उसके पहले कषायोंका उदय है। अप्रमत्तमें अव्यक्त परन्तु प्रमत्तमें व्यक्त है। चौथे अविरति गुणस्थानसे लेकर

कषायके उदय सहित गुणस्थानोंमें ज्ञान गुणकी स्थिरता कम होती है इससे वह अंतर्मूहूर्त्तसे अधिक ध्यानमें व आत्मानुभवमें नहीं ठहर सक्ता है। उसके पीछे उसको गिरकर विकल्प सहित अवस्थामें आना पड़ता है तब वह ज्ञान गुण कषायोंके उद्वेगके कारण अपने २ गुणास्थानोंके अनुसार यथासंभव द्रव्यकर्मोंका बांधनेवाला होता है। १२वें गुणस्थानसे पतन नहीं होता जब कि ११ वेंसे होजाता है अतएव ११ वेंमें अबंधक था सो नीचे आकर बंधक होजाता है अथवा इस ही गाथाका दूसरा व्याख्यान करते हैं:-(जहण्णादो) जघन्य अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान सम्बन्धी (णाणगुणादो) ज्ञान-गुणसे (पुणोवि) काललब्धिके वश सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर (णाणगुणो) वह ज्ञानगुण मिथ्यात्व अवस्थाको त्यागकर (अण्णत्तं परिणमदि) दूसरे रूप अर्थात् सम्यग्ज्ञानीपनेको परिणमन करता है अर्थात् मिथ्याज्ञानीसे सम्यग्ज्ञानी होजाता है (तेणदुसोऽवंधगो भणिदो) इसकारणसे वह ज्ञानगुण या ज्ञानगुणमें परिणमन करनेवाला जीव अबंधक कहा गया है। भावार्थः—मिथ्याज्ञान संसारके भ्रमणके कारण कर्म बंधोंको करानेवाला है। जब कि सम्यग्ज्ञान संसारका कारण कर्मबंध नहीं कराता है। जो कुछ कर्मबंध होता है उसमें स्थिति वहुत कम पड़ती है। अतएव जिस तरह बने कर्मोंको निवारण करनेके लिये सम्यक्त्वका ग्रहण कार्यकारी है॥ १९२॥

यथाख्यातचारित्र होनेके पहले यह जीव अंतर्मूहूर्त्तसे अधिक निर्विकल्प समाधिमें ठहरनेको असमर्थ है ऐसा जो पहले कहा गया है। तब ऐसा मानने पर ज्ञानी आश्रव रहित कैसे हो सकता है:- सो कहते हैं:-

गाथाः—**दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।**
णाणी तेण दु वज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण॥ १९३॥

संस्कृतार्थः—दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन॥ १९३॥

सामान्यार्थ—जब ज्ञानीका दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यरूपसे परिणमन करता है तब उस जघन्य परिणमनके कारण वह नाना प्रकार पुद्गल कर्मोंसे बंधता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—यद्यपि ज्ञानी आत्माके रागद्वेषादि विकल्प कारणोंका अभाव है इससे उसके आश्रव नहीं होता अर्थात्वह निराश्रव ही है किन्तु वह भी जितनी देर तक परम समाधिकी प्राप्तिके अभावमें शुद्ध आत्मस्वरूपको देखने, जानने व अनुभव करनेके लिये असमर्थ होता है उतनी देर तक उस जघन्यज्ञानीके (जंदंसण णाण चरित्तं) जो दर्शन ज्ञान और चारित्र है सो (जहण्णभावेण) जघन्य भावसे अर्थात् सकषाय भावसे अनीहितवृत्तिसे अर्थात् अपने कषाय करनेकी इच्छा न होते हुए भी (परिणमदे) परिणमन करता है। (तेणदु) तिस कारणसे ही (णाणी) वह भेदज्ञानी त्मा (विवहेण पुग्गल कम्मेण) अपने २ गुणस्थानोंके अनुसार नाना प्रकार तीर्थंकर नाम कर्म

प्रकृतिको आदि लेकर पुण्य कर्मोसे (वज्रादि) बंधता है। भावार्थः—जब तक निर्विकल्प परम समाधि भावमें यह आत्मा ठहरता है तब तक इसके कर्मोंका बंध नहीं होता परंतु नीचेके गुणस्थानवाले बहुत काल स्वरूपका अनुभव नहीं कर सक्ते हैं इससे किसीके प्रकटरूप व किसीके अप्रकटरूप कषाय अंश जग उठता है-जितना २ कषाय अंश होता है उतना २ द्रव्यकर्मोंका बंध होता है। ऐसा जानकर अपनी ख्याति अर्थात् बड़ाई, पूजा, लाभ व भोगोंकी इच्छारूप निदान बंध आदि विभाव परिणामोंको त्यागकर व निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर उस समय तक शुद्ध आत्म स्वरूपको देखना व श्रद्धान करना चाहिये, जानना चाहिये तथा अनुभव करना चाहिये जिस समय तक शुद्धात्मस्वरूपका परिपूर्ण केवलज्ञानरूपी भाव देखने, जानने व अनुभव करनेमें नहीं आवे ॥१९३॥

इस तरह ज्ञानी जीवके भावाश्रवके निषेधकी मुख्यताकरके तीन गाथाएं पूर्ण हुई।

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि द्रव्यकर्मोंको सत्तामें विद्यमान रहते हुए ज्ञानी निराश्रव कैसे होता है। उसका समाधान चार गाथाओंमें करते हैं:—

गाथाः—सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १९४ ॥

संस्कृतार्थ—सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः।
उपयोगप्रयोग्यं बध्नंत कर्म भावेन ॥ १९४ ॥

सामान्यार्थ—उस सम्यग्दृष्टी जीवके वे सर्व पूर्वमें बांधे हुए द्रव्य-कर्म विद्यमान हैं तथापि केवल अपने उपयोगके योग्य कर्म रागादि भावके कारणसे बंध होते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(सम्मदिट्ठिस्स) उस सम्यग्दृष्टी अंतरात्माके (सव्वे पुव्व निबद्धा-पच्चया) सर्व ही पूर्व समयोंमें बांधे हुए द्रव्य कर्म (दु संति) तो सत्तामें विद्यमान हैं तो भी (उवओगप्पाओगं) उसके उपयोगके योग्य अर्थात् उदयमें आए हुए कर्मोंके कारणसे जैसा आत्माका उपयोग होता है उसके योग्य (कम्मं) नवीन द्रव्य कर्म (भावेण) उसके रागद्वेषादि परिणामके द्वारा (बंधंते) बंधते हैं। केवल पूर्व द्रव्य कर्मोंकी सत्तामात्रसे नवीन बंध नहीं होता। **भावार्थ**—जिस समय किसी अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके काल लब्धि आदि कारणोंके होनेपर मिथ्यात्व व अनंतानुबन्धी कषायके उपशम होनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उस समय उस सम्यक्त्वीकी सत्तामें द्रव्य कर्म बंधे हुए रहते हैं। जब वह सम्यक्त्वी आत्मा उपाय करके स्वसंवेदन ज्ञानरूप आत्मानुभवमें तल्लीन होता है और कर्मोंके उदयके अनुसार अपने उपयोगको नहीं होने देता है तब उसके नवीन कर्म बंध ऐसा नहीं होता जिसकी कोई गणना की जावे, परंतु जब उसीका उपयोग कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन कर जाता है तब जैसे भाव होते हैं और उसमें जैसी कुछ कषायकी कालिमा होती है उसीके

अनुसार नए कर्मोंका बंध होता है। यदि वह अपने स्वरूपमें लवलीन रहे तो केवलमात्र कर्मोंकी सत्ता होनेसे नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता, इससे ज्ञानीको अपने स्वरूपानुभवका सदा प्रयत्न करना योग्य है। उसी हीके प्रतापसे आश्रव रहित रह सक्ता है ॥१९४॥

इसीको और भी कहते है।

गाथाः—**संतीव निरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्स।**
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स ॥ १९५ ॥

संस्कृतार्थः—संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथैव पुरुषस्य।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा पुरुषस्य ॥ १९५ ॥

सामान्यार्थः—जैसे किसी पुरुषकी स्त्री बालिका है अर्थात् नवयुवतिपनेको प्राप्त नहीं है तो वह पुरुषके भोगने योग्य नहीं होती ऐसे ही कर्म आत्माकी सत्तामें बंधे हुए जबतक उदयमें नहीं आते तबतक उपभोगने योग्य नहीं होते। और जैसे युवा स्त्री पुरुषके भोगने योग्य होती है तैसे ही वे बंधे हुए कर्म उदयमें आकर भोगने योग्य होते हैं और तब यह जीव नवीन कर्मोंको बांधता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जहेव) जैसे बाला इच्छी) अज्ञान अर्थात् युवापनेको अप्राप्त कोई वधू (पुरुसस्स) अपने पतिके भोगने योग्य नहीं होती तैसे ही वे कर्म (संतीव) आत्माकी सत्तामें मौजूद रहते हुए भी (णिरुव भोज्जा) अपने उदय कालके पहले उपभोग करने योग्य नहीं होते और (जह) जैसे (णरस्स) किसी पुरुषकी (तरुणी इच्छी, जवान स्त्री उसके द्वारा भोगने योग्य होती है तैसे यह जीव कर्मोंके उदयकालमें (ते उवभोज्जे) उन कर्मोंका भोगनेवाला होता है तथा (बंधदि) अपने रागद्वेषादि भावोंके कारणसे नवीन कर्मोंका बांधनेवाला होता है। **भावार्थः**—पूर्वके कर्म केवल आत्माकी सत्तामें पड़े हुए जबतक उदयमें नहीं आते तबतक न तो वे भोगे जाते हैं और न यह उनके कारणसे रागी द्वेषी होकर नए कर्मोंको बांधता है। परन्तु जब वे ही कर्म उदयमें आकर रस देते हैं तब यह उनके फलको भोगता है और उस समय यदि रागद्वेषादि भाव करे तो फिर और नए कर्मोंको बांधता है ॥ १९५॥

इस ही अर्थको और भी मजबूत करते हैः—

गाथाः—**होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।**
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १९६ ॥

संस्कृतार्थः—भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १९६ ॥

सामान्यार्थ—जो सत्तामें बंधे हुए द्रव्यकर्म उदयके पहले बिना भोगे हुए रहते हैं वे कर्म उदयमें आकर जब भोगे जाते हैं तब जैसे भाव होते हैं उनके अनुसार यह जीव हर समय ज्ञानावरणको आदि ले सात प्रकार कर्मोंको तथा आयुबंधके कालमें आठ प्रकार कर्मोंको

बांधता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(णिरुवभोज्जा होदूण) उदय होनेके पहले कर्म विना भोगे हुए होते हैं वे कर्म अपने २ गुणस्थानके अनुसार उदयकालको प्राप्त होकर (जह उवभोज्जा हवंति) जिस तरह भोगने योग्य होते हैं (तह) उसी तरह (सत्तट्ठविहा ज्ञानावरणादि भावेहिं) यह जीव अपने रागादि भावोंके अनुसार आयुबंधके कालमें ८ प्रकार शेष कालमें ७ प्रकार ज्ञानावरणीय आदि नवीन द्रव्यकर्मोंसे (बंधदि) बंधको प्राप्त होता है, केवल सत्तामें कर्मोंके होनेसे यह जीव बंधता नहीं है। भावार्थः—जब द्रव्यकर्म जिनको इस जीवने पहले बांधा था गुणस्थानोंके अनुसार उदयमें आते हैं तब इस जीवके जैसे रागादि भाव होते हैं उन रागादि भावोंके निमित्तसे फिर भी कर्मोंको बांधता है। यदि तत्वज्ञानमें लीन रहे और रागादिरूप न परिणमें तो वे कर्म उदयमें आकर भी योंही चले जायँ नवीन बंधमें कारण न हों, अतएव जिस तरह वने रागद्वेष भावोंसे अपने आत्माको बचाना योग्य है:–॥ १९६ ॥

इसी निराश्रवपनेको फिर भी कहते हैं:-

गाथाः—एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा॥ १९७॥

संस्कृतार्थः—एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भवति।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भाणिताः॥ १९७॥

सामान्यार्थ—आश्रवरूपी भावोंके अभावमें केवल द्रव्यकर्म जो सत्तामें हैं वे नवीन बंधके कारण नहीं कहे गए हैं इस कारणसे सम्यग्दृष्टी कर्मोंका बांधनेवाला नहीं होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः–(आसवभावाभावे) रागद्वेष मोह आदि आश्रवको करनेवाले भावोंके विना (पच्चया) पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्म (ण बंधगा) केवल सत्ता मात्रसे नवीन द्रव्यकर्मोंके बांधनेवाले नहीं (भणिदा) कहे गए हैं (एदेणकारणेणदु) इसी कारणसे ही (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टी तत्वज्ञानी (अबंधगो) बंधसे रहित (होदि) होता है। यहां यह विस्तार है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानमें सराग सम्यग्दृष्टी आत्मा ४३ प्रकृतियोंका बंधक नहीं है केवल ७७ प्रकृतियोंको ही थोड़ी स्थिति व अनुभागको लिये बांधता है। यद्यपि ऐसा बंध होता है तथापि यह बंधन संसारका बढ़ानेवाला नहीं किन्तु संसारकी स्थितिको छेदनवाला होता है। ऐसा ही सिद्धान्तमें कहा है "द्वादशांगावगमस्त तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थिति घातकारणानि भवंति" अर्थात्– १२ अंग श्रुतका ज्ञान, उसमें तीव्रभक्ति, विरक्तभाव तथा केवलि समुद्घात यह चारों ही संसारकी मर्यादाके घात करनेके कारण होते हैं। इसका विस्तार यह है कि द्वादशांगश्रुतका ज्ञान सो व्यवहार नयसे ज्ञान है क्योंकि बाह्य पदार्थ उसका विषय है परंतु निश्चयसे

वीतराग स्वसंवेदन लक्षणको रखनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। भक्तिको ही सम्यक्त्व कहते हैं क्योंकि जहां रुचि होती है वहां भक्ति व प्रेम वास्तवसे होता है। व्यवहार नयसे सराग सम्यग्दृष्टी जीवोंकी भक्ति पंच परमेष्ठीकी आराधनारूप है अर्थात् अर्हत, सिद्ध, आचार्य्य, उपाध्याय व सर्व साधुकी पूजा व भक्ति व गुणानुवाद करन रूप है, निश्चयसे वीतराग सम्यदृष्टी जीवोंके शुद्धात्मतत्त्वकी भावनारूप निश्चय भक्ति है। निवृत्ति न करना सो अनिवृत्ति है अर्थात् शुद्धात्मिक स्वरूपसे न चलायमान होना उसीमें एकतासे परिणति रखनी सो अनिवृत्ति है। ऐसा अर्थ किये जानेपर द्वादशांगका ज्ञान तो निश्चय व व्यवहार ज्ञान-भया; और भक्ति निश्चय व व्यवहार सम्यक्त्व हुआ, तथा अनिवृत्ति परिणाम सराग चारित्रके पीछे होनेवाला वीतराग चारित्र हुआ, इसतरह यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, भेद रत्नत्रय रूपसे या अभेद रत्नत्रयरूपसे संसारकी स्थितिके छेद करनेके कारण होते हैं। जिनके केवल ज्ञान नहीं हुआ अर्थात् छद्मस्थ हैं उनके लिये यह कारण हैं। परन्तु केवली भगवानोंके जिनकी आयु कम व नाम, गोत्र, वेदनीकर्म स्थितिमें अधिक हैं दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्णरूप चार प्रकार केवलि समुद्घात संसारके छेदके कारण हैं ऐसा तात्पर्य है। भावार्थः—यद्यपि गुणस्थानोंकी अपेक्षा १३ वें सयोग गुणस्थान पर्यंत कर्म बंध होता है परन्तु सम्यक्त्वकी अपेक्षा जिसके केवलमात्र सम्यक्त्व होगया है उसके भी कर्म बंधपना नहीं है क्योंकि संसार छेदके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र उसकी आत्मामें विद्यमान हैं। इससे थोड़ी स्थिति सहित जो कर्म बंध कुछ प्रकृतियोंका गुणस्थानके अनुसार होता भी है वह संसारको बढ़ानेवाला नहीं होता इसीसे समक्त्वीको अबंधक कहा है ॥ १९७ ॥

इसतरह पूर्वमें बांधे हुए द्रव्य कर्म सत्तामें मौजूद हों भी, परंतु राग द्वेषादि भावाश्रवोंके अभावमें वे बंधके कारण नहीं होते हैं। इस व्याख्यानकी मुख्यतासे चार गाथाएं पूर्ण हुईं

आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्माके कर्मबंधके कारण राग द्वेष मोह नहीं होते इसीसे ही उस ज्ञानीके नवीन कर्मोका बंध नहीं होताः-

गाथाः—**रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।**
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥ १९८ ॥

संस्कृतार्थः—रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥ १९८ ॥

सामान्यार्थः—सम्यग्दृष्टी जीवके कर्म बंधके कारण रागद्वेष मोहरूपी भावाश्रव नहीं होते इसीसे केवल पूर्वमें बांधे हुए द्रव्य कर्म आश्रव भावके विना नवीन कर्म बंधके कारण नहीं होते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(सम्मदिट्ठिस्स) सम्यग्दृष्टी जीवके (रागो

दोसों मोहीय आसवा) राग, द्वेष, मोह आश्रवभाव (णत्थि) नहीं होते हैं। क्योंकि अन्यथा सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं हो सक्ती अर्थात् जिसके राग-द्वेष मोह हैं उसके मिथ्या भाव है सम्यक्त्व भाव नहीं है। इसीका विस्तार यह है कि अनंतानुबंधी सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदयसे पैदा होनेवाले जो राग, द्वेष, मोह हैं वे सम्यग्दृष्टीके नहीं होते हैं यह पक्ष है। इसका हेतु यह है कि केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंका धारी जो परमात्मा है वही उपादेय है उसको उपादेय माननेवाले सम्यग्दृष्टीके वीतराग सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, ९ पदार्थोंकी रुचि होती है तथा तीन मूढ़ता, आठ मद, ८ दोष, व ६ अनायतन ऐसे २५ दोष नहीं होते, तथा इस गाथाके अनुसार ८ लक्षण प्रकट होते हैं—" संवेओ, णिव्वेओ, णिंदा गरुहय, उवसमो, भत्ती वच्छल्लं अणुकम्पा, गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स" अर्थात् धर्मसे प्रेम, संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य, अपनी निन्दा, अपनी गर्हा, शांत भाव, जिनेन्द्रमें भक्ति, धर्मात्माओंसे वात्सल्य भाव तथा जीवदया यह आठ गुण सम्यग्दृष्टीके होते हैं। जब तक इतनी सामग्री नहीं होगी तब तक चौथा गुणस्थानवर्त्ती जो सराग सम्यक्त्व है उसकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती अर्थात् जिसके २५ दोष रहित व आठ लक्षण सहित सप्त तत्त्व रुचि व आत्म प्रतीति होती है उसीके ही अविरत सम्यग्दर्शन संभव है।

इसी तरह जो पंचमगुणस्थान वर्त्ती सरागसम्यग्दृष्टी है उसके अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंके उदयसे उत्पन्न जो रागद्वेष मोह हैं वे नहीं होते यह पक्ष है उसका हेतु यह है कि उस सम्यग्दृष्टीके यह श्रद्धान है कि विकार रहित परमानंदमई एक सुख लक्षणको रखनेवाला परमात्मा ही उपादेय—गृहण करने, मनन करने, ध्यान करने व आराधने योग्य है तथा उसे भी ६ द्रव्य ५ अस्तिकाय ७ तत्त्व ९ पदार्थोंकी रुचि होती है व ३ मूढ़ताको आदि लेकर २५ दोष नहीं होते तथा उसीके अनुकूल उसके यह लक्षण भी प्रकट होते हैं कि उसमें प्रशम अर्थात् शांति, संवेग अर्थात् धर्मसे प्रेम व संसारसे वैराग्य, अनुकंपा अर्थात् जीवदया तथा सत्यार्थदेव व धर्म आदिमें आस्तिक्यता अर्थात् नास्तिकताका अभाव हो, जब यह लक्षण होते हैं तब ही उसके पंचम गुणस्थानके योग्य देशचारित्रके साथ अवश्य होनेवाला अविनाभावी सराग सम्यक्त्व होसक्ता है अन्यथा नहीं। अथवा छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्त मुनिके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्याना वरण क्रोध, मान, माया, लोभके उदयसे उत्पन्न राग, द्वेष, मोह नहीं होते हैं क्योंकि उस मुनिके यह रुचि है कि चिदानंदमई एक स्वभाव रूप शुद्धात्मा ही उपादेय, मनन करने योग्य, ध्यान करने योग्य व आराधने योग्य है। तथा उस मुनिके छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, ७ तत्व, ९ पदार्थोंकी रुचि होती है व उसके २५ दोष

नहीं होते और उसीके अनुकूल प्रशम, संवेग, अनुकंपा, व देवधर्म आदिके विषय आस्तिक्यता यह ४ लक्षण प्रकट होते हैं। जबतक यह लक्षण नहीं होते तबतक उसके छठे गुणस्थान सम्बन्धी सराग चारित्रके साथ अविनाभावी अवश्य होनेवालासराग सम्यक्त्व नहीं हो सक्ता। अथवा अप्रमत्त मुनिके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, व संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके तीव्र उदयसे उत्पन्न तथा प्रमादसे होनेवाले रागद्वेष मोह नहीं होते यह पक्ष है इसका हेतु यह है कि उसके यह श्रद्धान है कि शुद्धबुद्ध परमात्मा उपादेय है इसीसे उसके योग्य अपनी ही शुद्धात्माकी समाधिसे उत्पन्न स्वाभाविक आनंदमई एक लक्षणको रखनेवाली सुखकी अनुभूति होती है। उसी स्वरूप अप्रमत्तादि गुण-स्थानोंमें वीतराग चारित्रके साथ अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व होता है। ऐसा ही कहा है श्लोक। आद्यः सम्यक्त्व चारित्रे, द्वितीयाघ्नंत्यणुव्रतं, तृतीयाः संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः। अर्थात्–आदिके अनुंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय इस आत्माके सम्यग्दर्शन और चारित्र गुणको घातक हैं। अप्रत्याख्यानावरणीय श्रावकके अणुव्रतोंको, प्रत्याख्यानावरणीय मुनिके महाव्रत रूप संयमको, तथा संज्वलन यथाख्यातचारित्रको घातते हैं। ज्यों २ गुणस्थान चढ़ता जाता है त्यों २ रागद्वेष मोह घटते जाते हैं। (तह्मा) इसलिये (आसव भावेण विणा) रागादिरूप भावा-श्रवोंके विना (पच्चया) केवल पूर्वबद्ध द्रव्य कर्म अस्तित्व स्वरूप रहें या उदय रूप रहें (हेदु) कर्मबंधके कारण (णहोंति) नहीं होते हैं। भावार्थ–रागद्वेष मोह ही बंधके कारण हैं तिस पर भी जो अनंतानुबन्धी हैं वे ही अति प्रबल हैं, उन्हीके कारणसे यह जीव भव २ में भ्रमता हुआ कभी भी अंत नहीं पाता। जब यह चले जाते हैं अप्रत्याख्यानादि मोहकर्म अति निर्बल अवस्थामें रहके कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकने इसी अपेक्षासे ही चतुर्थ गुण-स्थानवर्ती सम्यग्दृष्टीको भी निराश्रव कहा है ॥१९८॥

आगे बंधके कारण बताते हैं:–

गाथाः—हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि।
तेसिं पिय रागादी तेसिमभावेण वज्झंति ॥ १९९ ॥

संस्कृतार्थः—हेतुश्चतुर्विकल्पः, अष्टविकल्पस्य कारणं भवति।
तेषामपि च रागादयस्तेषमभावे न बध्यंते ॥ १९९ ॥

सामान्यार्थः—मिथ्यात्त्वादि चार कारण आठ प्रकार कर्मबंधके कारण होते हैं–उन मिथ्यात्त्वादि कारणोंके कारण रागादि भाव हैं उनके अभाव होने पर जीव कर्मोंसे नहीं बंधते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ–(चदु वियप्पो) चार प्रकार (हेदू) कारण अर्थात् मिथ्याद-र्शन, अविरति, कषाय और योग (अट्ठवियप्पस्स) ज्ञानावरणादिरूप ८ प्रकार नवीन द्रव्य

कर्मोंके (कारणं) बंधके कारण (होदि) होते हैं। (तेसिंपिय) तथा उन मिथ्यादर्शन आदि पूर्व बद्ध कर्मोंके उदयमें भी (रागादि) जीव सम्बन्धी रागद्वेषादि भाव कारण होते हैं क्योंकि (तेसिम भावे) इन जीव सम्बन्धी रागादि भावोंके अभाव होने पर केवल द्रव्य कर्मोंके उदयमें आए हुए होने पर भी वीतराग परम समाधिकी भावनामें परणमनकरनेवाले अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले भेद ज्ञानके होते हुए (ण वज्झंति) जीव नवीन द्रव्यकर्मोंमे नहीं बंधते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि नवीन द्रव्यकर्मोंके आश्रवके कारण उदयमें आए हुए पूर्व बद्ध द्रव्यकर्म हैं उन उदयमें आए हुए द्रव्यकर्मोंके भी कारण जीव सम्बन्धी रागादि भाव हैं। इसतरह कारणके कारणका व्याख्यान जानना योग्य है। भावार्थ—जब पूर्व बद्ध द्रव्य कर्म उदयमें आवें और ज्ञानी जीव भेदज्ञानमें रत रहे तो वे यों ही झड़ जायँगे, नवीन द्रव्य कर्मोंके बंधमें कारण नहीं होंगे। परन्तु जो उसके भेदज्ञान न होगा और रागादि भाव होंगे तो जीव बंधको प्राप्त करेंगे। पूर्व बद्ध द्रव्यकर्म उदयकालमें जीवके रागादि भावोंके होनेमें निमित कारण हैं तथा रागादि भाव नवीन द्रव्यकर्मोंके बंधमें निमित्त कारण हैं ऐसा जानना ॥ १९९ ॥

आगे जो पहले कहा गया है कि रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित परम चैतन्यके चमत्कारमई लक्षणको रखनेवाले अपने परमात्मपदार्थकी भावनासे रहित जो आत्मासे बाहर दृष्टि रखनेवाले जीव हैं उनके पूर्वमें बांधे हुए द्रव्यकर्म नवीन कर्मोंको बांधते हैं इसी ही अर्थको दृष्टान्त व दार्ष्टान्तसे मजबूत करते हैं।

गाथाः—जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥ २०० ॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
वज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ २०१ ॥

संस्कृतार्थ—यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं।
मांसवसारुधिरादीन् भावान्, उदराग्निसंयुक्तः ॥ २०० ॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥ २०१ ॥

सामान्यार्थ—जैसे पुरुषसे लिया हुआ आहार अनेक प्रकार मांस, चरबी, रुधिर आदि अवस्थाको उदराग्निके संयोगसे परिणमन करता है तैसे अज्ञानी जीवके जो पूर्वमें बांधे हुए कर्म हैं वे नानाप्रकार नवीन द्रव्य कर्मोंको बांधते हैं। जो जीव ऐसे कर्मोंको बांधते हैं वे शुद्ध नयसे हीन हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जह) जैसे (पुरिसेण) पुरुषके द्वारा (गहिदो) लिया हुआ (आहारो) भोजन (सो) सो (उदरग्गिसंजुत्तो) उदरकी अग्निका संयोग

पाकर (अणेयविहं) अनेक प्रकार (मंसवसा रुहिरादी भावे) मांस, चरवी, रुधिर आदि अव-स्थाओंमें (परिणमदि) परिणमन करता है (तह) तैसे (णाणिस्स) चेतन्य लक्षण जीवके अज्ञान अवस्थामें न कि विवेकी भेद विज्ञानीके (जे पच्चया दु पुव्वं बद्धा) जो मिथ्यादर्शन आदि द्रव्यकर्म पूर्व कालमें वंधे हुए हैं-(ते)वे द्रव्यकर्म उदयमें आकर जीव सम्बन्धी रागादि परि-णामरूप उदराग्निका संबंध पाकर (वहु वियप्पं कंम वज्झंते) नाना प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोको बांधते हैं। जिन जीवोंके ऐसे कर्म वंधते हैं (ते जीवादु) वे जीव (णय परिहीणा) परम समाधि लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानरूप शुद्ध नयसे भृष्ट हैं च्युत हैं। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि वे द्रव्यकर्म अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा इस जीवसे भिन्न नहीं होते हैं (नच परिहीणा भवंति)। भावार्थ—पूर्वमें बंधे हुए द्रव्यकर्म उदयमें जब आते हैं उस समय यदि यह जीव रागी द्वेषी होता है तो नवीन कर्मोंको बांधता है अन्यथा नहीं। तात्पर्य्य यह है कि अपना शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है इस कारण विवेकी ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा सर्व कर्म्मोंके नाश करनेमें समर्थ जो शुद्धनय है उसे नहीं त्यागना चाहिये। शुद्ध नयका विषय शुद्धात्मा है अतएव उसमें उपयुक्त जीव कर्मोंको न बांधकर पूर्ववद्ध कर्मोंका नाश करता है ॥२००-२०१॥ इसतरह कारणके व्याख्यानकी मुख्यतासे ४ गाथाएं पूर्ण हुईं।

इस समयसारकी शुद्धात्मानुभूति लक्षणको रखनेवाली तात्पर्य्य वृति नामकी व्याख्यामें १७ गाथाओंके द्वारा पांच स्थलोंसे आश्रवका विपक्षी संवर नामका छठा अधिकार समाप्त हुआ।

इस तरह रंगभूमिमेंसे श्रृंगारको छोड़े हुए मनुष्यकी तरह शुद्ध जीव स्वरूप होकर संवर चला गया—

सातवां महा अधिकार (७)

निर्जरातत्व

अब वीतराग निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोग लक्षणको रखनेवाली संवरपूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है।

'उपभोज मिंदिएहिय' इत्यादि गाथाको आदि लेकर दंडकोंको छोड़ पाठ—क्रमसे पचास गाथा पर्यंत छः स्थलोंसे निर्जराका व्याख्यान करते हैं। उनमेंसे प्रथम द्रव्य निर्जरा, भावनिर्जरा, ज्ञानशक्ति, वैराग्यशक्ति इन चारका क्रमसे वर्णन है इस तरह पीठिका रूपसे प्रथम स्थलमें चार गाथाएं हैं। उसके बाद ज्ञान वैराग्य शक्तिका सामान्य व्याख्यान करनेके लिये "सेवंतो वि ण सेवदि" इत्यादि दूसरे स्थलमें पांच गाथाएँ हैं। उसके बाद उन ही ज्ञान वैराग्य शक्तियोंका विशेष वर्णन करनेके लिये "परमाणु मित्तयंपि" इत्यादि तीसरे स्थलमें सूत्र १० हैं।

उसके बाद मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञानमई अभेदरूप परमार्थन्व-रूप, मुक्तका कारणभूत जो कोई परमात्माका पद है सो जिस स्वसंवेदन ज्ञान गुणके द्वारा प्राप्त होता है उसीका सामान्य व्याख्यान करनेके लिये "णाण गुणेहिं विहीणा" इत्यादि चौथे स्थलमें सूत्र ८ हैं। इसके बाद उसीही ज्ञान गुणका विशेष वर्णनके लिये "णाणा गग-प्पजहो इत्यादि १४ गाथाएं पांचवे स्थलमें हैं। उसके बाद शुद्ध नयका आश्रय लेकर चि-दानंदमई एक स्वभाव रूप शुद्ध आत्माकी भावनाका आश्रय करनेवाले जीवोंके निश्चय निः-शंकितादि आठ गुण होते हैं, उनका कथन ९ सूत्रोंमें छठे स्थलमें करते हैं। इसतरह छः अंतर अधिकारोंसे निर्जरा अधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई॥

आगे द्रव्य निर्जराका स्वरूप कहते हैं:—

गाथाः—**उवभोजमिंदियेहिं य दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।**
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ २०२॥

संस्कृतार्थः— उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषां।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः, तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं॥ २०२॥

सामान्यार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा जो अपनी पांचों इन्द्रियोंके द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्योंका उपभोग करता है सो सर्व कर्मोंकी निर्जराके निमित्त होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(सम्मदिट्ठी) सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञानी आत्मा (इंदियेहिय) अपनी पांचों इन्द्रियोंके द्वारा (अचेदणाण) अचेतन (इदराण) और चेतन (दव्वाणम्) द्रव्योंका (जं) जो (उवभोजम्) उपभोग (कुणदि) करता है (तंसव्वं) वह सब (णिज्जर णिमित्तं) कर्मोंकी निर्जराके निमित्त होता है। स्त्री पुत्रादि चेतन व धन धान्यादि अचेतन पदार्थोंका उपभोग सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों करते हैं। मिथ्यात्वी जीवके वेही पदार्थ राग द्वेष मोहके रहनेके कारणसे बंधके कारण हो जाते हैं तो भी सम्यक्त्वी जीवके रागद्वेष मोहके न होने पर वे सर्व ही वस्तु पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जराके निमित्त होती हैं। **भावार्थ**—सम्यक्त्वी अंतरंगमें रागादि भावोंके विना जो भोग करता है इससे उसके बंध नहीं होता परन्तु मिथ्यात्वीके अंतरंगमें रागादि भावोंकी तीव्रता रहती है इससे महान् कर्मोंका बंध होता है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि राग द्वेष मोह आदि विभाव भावोंका अभाव होनेपर जो परिणाम होता है वह निर्जराका कारण कहा गया है परंतु सम्यग्दृष्टीके तो रागादिक भाव होते हैं इससे उसके कर्मकी निर्जरा कैसे हो सक्ती है? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि इस ग्रंथमें मुख्यतासे वीतराग सम्यग्दृष्टीका ग्रहण है और जो चौथा गुणस्थान वर्ती सराग सम्यग्दृष्टि है उसका गौणतासे ग्रहण है इससे इस प्रश्नका समाधान पहले ही किया गया है अर्थात् मिथ्यादर्शनके जानेसे सम्यग्दृष्टीके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ व मिथ्यात्वके

उदयसे होनेवाले व श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके भी उदयसे होनेवाले रागद्वेष मोह नहीं होते हैं इत्यादि सम्यग्दृष्टी जीवके अपने ५ गुणस्थानोंके अनुसार संवर पूर्वक निर्जरा होती है। मिथ्यादृष्टी जीवके गजस्नानकी तरह बंधपूर्वक निर्जरा होती है। **भावार्थ**—जैसे हाथी एक ओरसे नहाता है दूसरी ओरसे धूला अपने ऊपर डाल लेता है इसी-तरह मिथ्यादृष्टी जीवके प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा होने हुए रागद्वेष मोहके कारणसे नवीन कर्मोंका बंध होता है। इसकारणसे मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षासे सम्यग्दृष्टी बंधका करनेवाला नहीं है। इसतरह द्रव्य निर्जराका व्याख्यान करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ २०२ ॥

आगे भाव निर्जराको कहते हैं—

गाथाः—**दव्वे उवभुञ्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।**
तं सुहदुःखमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ २०३ ॥

संस्कृतार्थः—द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाजायते सुखं च दुःखं च।
तं सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥ २०३ ॥

सामान्यार्थ—द्रव्यकर्मोंको उदयमें आकर भोगते हुए नियमसे सुख और दुःख उत्पन्न होता है उस सुख या दुःखको उदीर्णारूप होता हुआ सम्यग्दृष्टी भोगता है और फिर उन द्रव्यकर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(दव्वे) उदयमें आए हुए द्रव्य-कर्म (उवभुञ्जंते) इस जीवके द्वारा जब भोगे जाते हैं तब (णियमा) नियमसे (सुहंच दुक्खं च) साता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके वशसे सुख और दुःख अपने वस्तुके स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं। (तं सुह दुःखं) रागादि रहित स्वसंवेदनकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक व अध्यात्मिक सुख है उससे भिन्न जो साता असाताके उदयसे होनेवाला सुख दुःख है उसको (उदिण्णं) उदीर्णारूप होता हुआ (वेददि) सम्यग्दृष्टी जीव उनमें रागद्वेष न करता हुआ हेयबुद्धिसे अर्थात् त्याग रूप बुद्धि करके भोगता है उनमें तन्मई होकर नहीं भोगता है। मैं सुखी हूं या मैं दुःखी हूं ऐसी प्रतीतिसे नहीं अनुभव करता है। (अह) अथ अर्थात् फिर (णिज्जरं जादि) उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् आत्मामें तल्ली-नरूप भावके द्वारा वे उदयमें प्राप्त द्रव्य कर्म्म निर्जराके निमित्त हो जाते हैं। मिथ्यादृष्टिके वे ही उदय प्राप्त द्रव्य कर्म बंधके कारण होते हैं क्योंकि वह उनको उपादेय बुद्धिसे इस प्रतीतिसे भोगता है कि मैं सुखी हूं या दुःखी हूं-इसका तात्पर्य यह है जैसे कोई भी चोर यद्यपि अपना मरण नहीं चाहता है तौ भी कोतवालसे पकड़ा हुआ मरणको अनुभव करता है तैसे सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि आत्मजनित सुखको उपादेय जानता है और पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुखको त्यागने योग्य समझता है तथापि चारित्र मोहके उदय-रूपी कोतवालसे पकड़ा हुआ उस सुखको अनुभव करता है इस कारणसे वह कर्म निर्जराके

निमित्त होता है। भावार्थ—मिथ्यात्वीके अंतरंगमें सांसारिक सुखमें उपादेय बुद्धिरूपी रुचि है किन्तु सम्यग्दृष्टीके हेय बुद्धिरूपी रुचि है। सम्यक्तीको आत्मिक सुख ही रुचिकारी भासता है। अतएव चारित्रमोहकी वरजोरीसे मद्यके वेगकी तरह जो साता व असाताके उदयमें सुख व दुःख होता है उसमें सम्यग्दृष्टी तन्मयी न होकर रागीद्वेषी नहीं होता है इससे नवीन कर्मोंका बंध नहीं करता है इससे उसके पूर्व कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। अंतरंगमें आत्मसुखकी रुचि तथा सांसारिक सुखकी अरुचि ही भाव निर्जरा है इसीके प्रतापसे कर्म झड़ जाते हैं, बंध नहीं करते। इस तरह भाव निर्जराका व्याख्यान पूर्ण हुआ ॥२०३॥

आगे वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकी सामर्थ्य दिखलाते हैं—

गाथाः—जह विसमुवभुज्जंता विज्जा पुरिसा ण मरणमुवयंति।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥२०४॥

संस्कृतार्थः—यथा विषमुपभुंजानाः विद्यापुरुषा न मरणमुपयांति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥ २०४ ॥

सामान्यार्थः—जैसे गारुड़ी विद्याके ज्ञाता पुरुष विषको खाते हुए भी मरणको नहीं प्राप्त होते हैं तैसे तत्वज्ञानी पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगते हुए भी कर्मोंसे बंधको नहीं प्राप्त होते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (विज्जा पुरिसा) गारुड़ी विद्याके ज्ञाता पुरुष (विसमुव भुज्जंता) विषको भोगते हुए (मरणम्) अमोघ मंत्रकी सामर्थ्यसे मरणको (ण) नहीं (उवयंति) प्राप्त होते हैं (तह) तैसे (णाणी) परम तत्त्वज्ञानी (पोग्गल कम्मस्सुदयं) शुभ व अशुभ पुद्गल कर्मोंके उदयको अर्थात् फलको (भुजंदि) भोगता है तथापि (णेव बज्झदे) विकल्प रहित समाधि लक्षणवाले भेदज्ञानरूप अमोघ मंत्रके बलके प्रभावसे कर्मोंके द्वारा बंधको नहीं प्राप्त होता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टी तत्त्वज्ञानी पुरुषके अंतरंगमें इस प्रकारका भेदविज्ञान रहता है जिससे उसका हृदय वैराग्यसे भरा रहता है। ऐसी हालतमें जो शुभ व अशुभ कर्म उदयमें आकर रस देते हैं उनको साम्य भावसे भोगता है। अतएव नवीन कर्मोंको नहीं बांधता है। यह ज्ञानशक्तिकी ही महिमा है ऐसा व्याख्यान समाप्त हुआ ॥ २०४ ॥

आगे संसार, शरीर व भोगोंके विषयमें जो वैराग्यकी सामर्थ्य है इसको दिखलाते हैं:—

गाथाः—जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावे ण मज्जदे पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव ॥ २०५ ॥

संस्कृतार्थः—यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन न माद्यति पुरुषः।
द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥ २०५ ॥

सामान्यार्थ—जैसे कोई पुरुष अरतिभावसे मद्यको पीता हुआ भी नशेको नहीं प्राप्त

होता है तैसे ही भेद विज्ञानी अरुचि भावसे द्रव्यकर्मोंको भोगते हुए भी कर्मोंसे बंधको नहीं प्राप्त होता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (पुरिसो) कोई पुरुष अपने रोगके इलाज करनेके लिये (मज्जं) किसी औपधिमें पड़ी हुई मादक द्रव्यको (पिवमाणो) पीता हुआ भी (अरदि भावे) रति व प्रीतिका अभाव होनेपर (ण मज्जदे) मादकपनेको नहीं प्राप्त होता है (तहेव) तैसे ही (णाणी) परमात्मतत्वका ज्ञाता पुरुप (दव्वुवभोगे) द्रव्यकर्मोंके उदय रसको भोगता हुआ (वि) भी (अरदो) जितने अंशसे विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानसे शून्य बहिरात्म जीवकी अपेक्षासे रागभावको नहीं करता है उतने अंशसे (णवज्झदि) कर्मोंसे नहीं बंधता है। जब हर्पविषाद आदि रूप समस्त विकल्पजालोंसे रहित परम योग लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानके बलसे सर्वथा वीतराग होता है तब सर्वथा कर्मोंसे नहीं बंधता है।

भावार्थ—अंतरंगमें जैसे अरुचि होनेपर किंचित् मादक वस्तु पीनेवालेको नशेमें गाफिल नहीं करती उसी तरह भेद विज्ञानको रहते हुए कर्मोंको भोगते हुए भी ज्ञानी जीव कर्मोंको नहीं बांधता है। यह ज्ञानी जीवकी वैराग्य शक्तिकी महिमा है। इसतरह यह व्याख्यान समाप्त हुआ॥ २०५॥

इसतरह यथाक्रमसे द्रव्यकर्मकी निर्जरा व भावनिर्जरा तथा ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्तिको कहते हुए निर्जरा अधिकारमें तात्पर्य्य व्याख्यानकी मुख्यतासे ४ गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे उस ही वैराग्य शक्तिके स्वरूपको विशेषपने कहते हैं:—

गाथाः—**सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।**
पगरणचेट्ठा कस्सवि णयपायरणोत्ति सो होदि॥ २०६॥

संस्कृतार्थः—सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकर्णिक इति स भवति॥ २०६॥

सामन्यार्थः—कोई भोगोंको सेवता हुआ भी नहीं सेवन करता है दूसरा कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवक होता है, किसीके तो विवाहादि प्रकरणकी चेष्टा है परन्तु उस प्रकरणमें रागी नहीं है दूसरा जो उस प्रकरणका स्वामी है वह उसमें रागी है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(सेवंतो वि) विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानी जीव अपने २ गुणस्थानके योग्य भोजन पानादि पंचेन्द्रियोंके भोगोंको भोगता हुआ भी (ण सेवदि) नहीं सेवनेवाला रहता है क्योंकि उसके अंतरंगसे रुचि नहीं है (कोवि असेवमाणो वि) दूसरा कोई अज्ञानी जीव अपने अंतरंगमें पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंका राग रखता हुआ भोगोंको न पाकर नहीं सेवन करता हुआ भी (सेवगो) उनका सेवनेवाला हो जाता है। (कस्सवि) जैसे किसीके (पगरणचेट्ठा) अपने घरसे परघरमें आकर जहां विवाहका प्रकरण रचा हुआ है उस प्रकरणमें आप ही विना अंत-

रंग प्रेमके भी लग जाता है तथापि (णय पायरणोत्ति) विवाहादि प्रकरणोंका स्वामी न होनेके कारणसे वह उस प्रकरणका अधिकारी नहीं है (सो भवति दूसरा कोई प्रकरणका स्वामी विवाहादि करनेका अधिकारी नृत्य, गीत आदि विवाहके प्रकरण सम्बन्धी व्यापारोंको नहीं करता हुआ भी अंतरंगमें उसकामके साथ राग होनेसे उस सर्व गीतादि प्रकरणका स्वामी होता है इसी तरह परमतत्वज्ञानी भोगोंको सेवते हुए भी असेवक है परन्तु अज्ञानी भोगोंको न सेवते हुए भी सेवक होते हैं। भावार्थः—राग रहिततासे की हुई क्रिया अबंधक व रागका सद्भाव क्रियाके विना भी बंधक है॥ २०६॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपने और परके स्वरूपको विशेष पने जानता हैः—

गाथाः—पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण हु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को॥२०७॥

संस्कृतार्थः—पुद्गलकर्म क्रोधस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।
नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः॥ २०७॥

सामान्यार्थ—पुद्गल कर्मरूप द्रव्य क्रोध है इसीका फलरूप उदय सो ही भाव क्रोध है—यह मेरा भाव नहीं है। मैं तो निश्चयसे एक ज्ञाता द्रष्टा भावरूप हूं। **शब्दार्थ सहित-विशेषार्थः**—(पुग्गल कमं) पुद्गल कर्मरूप (कोहो) जो कोई द्रव्य क्रोध है और जो इस जीवमें पहलेसे ही बंधा हुआ मौजूद है (तस्स विवागोदओ) उसीका विशेष पक करके जो फलरूप उदय होता है सो ही (एसो हवदि) यह शांत स्वरूप आत्म तत्त्वसे भिन्न क्षमाका अभावरूप भाव क्रोध है। (एसो) यह भाव क्रोध (मज्झभावो) मेरा निजस्वाभाविक भाव (णहु) नहीं है, क्योंकि निश्चयसे (अहम् दु) मैं तो (इक्को) एक (जाणग भावो) टंकोत्कीर्ण परमानंदमई ज्ञाता द्रष्टा स्वभावका धारी हूं। पुद्गल कर्मरूपी द्रव्य क्रोध है उसीके उदयसे उत्पन्न जो क्षमाका अभावरूप भाव सो भाव क्रोध है यह व्याख्यान पहले भी किया गया है अर्थात् पुद्गलपिंड सो तो द्रव्य कर्म है और उसमें जो शक्ति है सो भाव कर्म है इत्यादि। **भावार्थः**—भाव कर्म भी वास्तवमें पुद्गलमई द्रव्य कर्मरूप शक्तिको कहते हैं परन्तु इस शक्तिका प्रकटपना जीव सम्बन्धसे होता है इससे इसको जीवका विभाव भाव भी कहते हैं क्योंकि द्रव्य क्रोधके उदयके विना भाव क्रोध जीवमें हो नहीं सक्ता इससे यह शुद्ध जीवके स्वभावसे भिन्न है। मैं इससे भिन्न ज्ञाता द्रष्टा स्वभावका धारी एक चैतन्य स्वरूप आत्मा हूं ऐसा अनुभव करना कार्य्यकारी है।

इस ही प्रकार क्रोधपदको बदलके मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इस तरह १६ पद जोड़के व्याख्यान करना योग्य है जैसे मान पुद्गलमय है मेरा भाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक स्वभावरूप

हूं। इत्यादि-इस ही तरह विचार कर असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणामोंके स्थान वर्नन करने योग्य हैं ॥ २०७ ॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यह विभाव भाव तुम्हारे स्वरूप क्यों नहीं है इसका उत्तर भेद भावना रूपसे करते हैं:-

गाथाः—कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो णदु देहो हवदि अण्णाणी ॥ २०८ ॥

संस्कृतार्थः—कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः।
परद्रव्याणामुपयोगो न तु देहो भवति अज्ञानी ॥ २०८ ॥

सामान्यार्थ—किस तरह यह विविध कर्मोंका उदय रूप फलका विपाक तुम्हारा स्वरूप नहीं होसक्ता है इस प्रश्नका उत्तर करने हैं कि यह पर द्रव्योंका उदय है तथा यह देह भी मेरा स्वरूप नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(कह) किस-तरह (एस) यह (विविहो कम्मोदय फल विवागो) नाना प्रकार कर्मोंके उदयरूप फलका विपाक (तुज्झ ण हवदि) तेरा स्वरूप नहीं होता है ऐसा किसीने पूछा उसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि (परदव्वाणु वओगो) विकार रहित परमानन्दमई एक लक्षणके धारी शुद्धात्म द्रव्यसे जुदे जो पर द्रव्यरूप द्रव्यकर्म इस संसारी जीवमें बंधे हुए मौजूद हैं उन्हींका उपयोग अर्थात् उदय है इससे यह विभाव भाव औपाधिक भाव हैं आत्माके निज भाव नहीं हैं जैसे स्फटिकमणि पाषाणमें पर वस्तुकी उपाधिसे नाना प्रकार रंग आदि दीखते हैं वैसे यह परभाव हैं। केवलमात्र भाव क्रोध मान, माया, लोभादिक भाव ही मेरे इस शुद्धात्माका निश्चयसे स्वरूप नहीं हैं (णदु देहो हवदि) किन्तु यह स्थूल शरीर भी मेरे शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है यह बात स्फुट है क्योंकि यह देह (अण्णाणी) अज्ञानी जड़ स्वरूप है और मैं निश्चयसे अनंत ज्ञानादि गुण स्वरूपका धारी हूं। भावार्थः-ज्ञानी जीवको शुद्धात्मानुभवनकी प्राप्तिके लिये देहमई नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भाव कर्मसे ममत्त्व हटा कर अपने निश्चय स्वरूपमें तन्मय रहना योग्य है ॥ २०८ ॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टी अपने खास स्वभावको जानता हुआ तथा रागद्वेषादि भावोंको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे भरा हुआ होता है:-

गाथाः—एवं सम्म इट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुअदि तचं वियाणंतो ॥ २०९ ॥

संस्कृतार्थ—एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं।
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्वं विजानन् ॥ २०९ ॥

सामान्यार्थः—इसप्रकार सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्मतत्वको अनुभवता हुआ आत्माको ज्ञाता दृष्टा स्वभावमई जानता है और कर्मोंके उदयको कर्मका फल जानकर छोड़ता है॥
शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(एवं) जैसे पहले कहा गया है उस प्रमाणे (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टी जीव (अप्पाणं) अपने आत्माको (जाणगसहावं) परमानंदमई टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप (मुणदि) अनुभव करता है (च) तथा (तच्चं) नित्य आनंदमई एक स्वभाव रूप परमात्मतत्वको तीन गुप्तिमई समाधिमें तिष्ठ कर (विजानन्) विशेष रूपसे जानता हुआ (उदयंकम्म विवागं) शुभाशुभ कर्मोंके उदयको कर्मोंका फल मानकर कि यह मेरा स्वरूप नहीं है (मुंचदि) त्याग देता है। भावार्थ-तत्वज्ञानी कर्मोंके उदयमें हर्ष विषाद नहीं करता हुआ अपने आत्मीक तत्वको परमानन्दरूप अनुभव करता है॥ २०९॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टी सामान्यपने अपने और परके स्वभावको अनेक प्रकारसे जानता है:-

गाथाः—उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥२१०॥

संस्कृतार्थः—उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः॥ २१०॥

सामान्यार्थ—नाना प्रकार जो कर्मोंके उदयके प्रकार हैं, अर्थात् भेद हैं जिनका कि वर्णन श्री जिनेन्द्र भगवानने किया है वे सर्व भेद मेरे स्वभावरूप नहीं हैं क्योंकि मैं एक ज्ञाता दृष्टा स्वभावका धरनेवाला हूं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(कम्माणं) द्रव्य कर्मोंका (विविहो) नाना प्रकार (उदय विवागो) उदयका फल (जिणवरेहिं) जिनेन्द्रोंने (वण्णिदो) कहा है (ते) वे कर्मोदयरूप नाना प्रकारके फल (मज्झसहावा) मेरे स्वभाव भाव (णदु) नहीं हैं क्योंकि (अहम्) मैं (दु) तो (इक्को) एक अकेला (जाणगभावो) टंकोत्कीर्ण परमानंदमई ज्ञाता दृष्टा स्वभाववाला हूं भावार्थ-सर्व ही विभाव व कर्मके फल शुद्ध निश्चय नयसे इस आत्माके वास्तविक स्वभावसे विपरीत हैं-सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य करके अपने और परको इसीतरह जानता हैं। सामान्यका प्रयोजन यह है कि उसमें यह विवक्षा नहीं है कि मैं क्रोधरूप हूं या मानरूप हूं,-इत्यादि क्योंकि जिसमें विवक्षाका अभाव हो उसे सामान्य कहते हैं॥ २१०॥

इसतरह भेदभावना रूपसे ज्ञान और वैराग्य दोनोंका सामान्य व्याख्यानकी मुख्यतामें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं। इसके आगे १० गाथाओं तक फिर भी ज्ञान वैराग्य शक्तिका विशेष वर्णन करते हैं।

आगे कहते हैं कि रागी सम्यग्दृष्टी नहीं होता है:—

गाथाः—परमाणुमित्तियं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरोवि॥२११॥

संस्कृतार्थः—परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं सर्वागमधरोऽपि ॥ २११ ॥

सामान्यार्थ—रागद्वेषादिकोंका परमाणु मात्र भी जिसके चित्तमें मौजूद है सो सर्व आगमका जाननेवाला होने पर भी आत्माको नहीं जानता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जस्स) जिसके हृदयमें (हु) प्रकटपने (रागादीणं) रागद्वेषादिकोंका (परमाणुमित्तयंवि हु) परमाणुमात्र भी (विज्जदे) मौजूद है (सो) वह जीव (सव्वागमधरोवि) सर्व आगमको जानता हुआ है अर्थात् सिद्धान्तरूप समुद्रके पार पहुंचा है तौ भी (अप्पाणयं) परमात्म तत्त्वके ज्ञानके न होनेके कारण शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई परमात्माको (णवि) नहीं (जाणदि) जानता है। अर्थात् नहीं अनुभव करता है। भावार्थ—जो अनेक ग्रंथोंको जाने और संसारके विषय कषायोंमें रागभावको न छोड़े, वह आत्माका अनुभव नहीं कर सक्ता इसीसे वह सम्यग्दृष्टी नहीं है। जिसके सम्यग्दर्शन जग उठता है उसका भीतरसे राग छूट जाता है। अंतरंगमें उसके एक आत्मानुभवसे ही प्रेम होता है। कषायकी बरजोरीसे वह चाहे संयम लेश भी न धार सके परन्तु परिणामोंमें तत्त्वरुचि ऐसी अगाध है कि आत्मसुखके स्वादको कभी भूलता नहीं है ॥ २११ ॥

इसी बातको और भी कहते हैं:—

गाथाः—**अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो।**
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २१२ ॥

संस्कृतार्थः—आत्मानमजानन् अनात्मानमपि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥ २१२ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई आत्माको नहीं जानता है तथा अनात्माको नहीं जानता है वह जीव और अजीव दोनोंको नहीं जानता हुआ कैसे सम्यग्दृष्टी हो सक्ता है? शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(अप्पाणं) स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे सहज्ही आनंदरूप एक स्वभावमई शुद्धात्माको (अयाणंतो) नहीं जानता तथा नहीं अनुभवता हुआ—(चेव) तैसे ही (अणप्पयं) शुद्धात्मासे भिन्न रागद्वेषादिरूप अनात्माको (अयाणंतो) नहीं जानता हुआ (सो) ऐसा जो पुरुष हैं सो (जीवाजीवे अयाणंतो) जीव और अजीवके स्वरूपको नहीं जानता हुआ (कह सम्मदिट्ठी होदि) किसप्रकार सम्यग्दृष्टी हो सक्ता है? भावार्थ—जबतक स्वपरकी भिन्नताका यथार्थ भेद ज्ञान नही होता तब तक वह सम्यग्दृष्टी व यथार्थ श्रद्धानी नहीं हो सक्ता।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि आपने कहा है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टी नहीं होता है तब क्या चौथे, पांचवे गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर कुमार, भरत व सगर चक्री, रामचंद्र व पांडवादि महापुरुष सम्यग्दृष्टी न थे? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह बात नहीं है। वे

सराग सम्यग्दृष्टी थे क्योंकि चौथे गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टी गुणस्थानकी अपेक्षा ४३ कर्मप्रकृतियोंको नहीं बांधते हैं। इसलिये उनके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ व मिथ्यादर्शनके उदयसे होनेवाले पत्थरकी रेखाके समान रागद्वेषादि भावोंका अभाव है तथा पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके उदयसे पैदा होनेवाले भूमिमें हल की रेखाके समान रागद्वेषादि भावोंका अभावपना है यह बात पहले भी समझा चुके हैं। इस ग्रंथमें तो मुख्यतासे पांचवे गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियोंका ग्रहण है तथा गौणतासे सराग सम्यग्दृष्टिका ग्रहण है ऐसा व्याख्यान सम्यग्दर्शनके व्याख्यानके समयमें सर्व ठिकाने जानना ॥ २१२ ॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानी भोगोंकी इच्छा नहीं करता है:-

गाथाः—जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कयावि ॥२१३॥

संस्कृतार्थः—यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयं।
तद् ज्ञायकस्तु ज्ञानी, उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥ २१३ ॥

सामान्यार्थ—जो भाव अनुभव करनेवाला है व जो भाव अनुभव किया जाता है यह दोनों ही समय२ विनाश हो जाते हैं इसलिये ज्ञानी दोनोंकी ही इच्छा नहीं करता है किन्तु केवल उसका जाननेवाला रहता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई रागद्वेष दि विकल्परूप भाव कर्त्ता होकर (वेददि) वेदता है—अनुभव करता है (वेदिज्जदि) और जो साताके उदयसे होनेवाला कर्मरूप भाव रागादि विकल्पसे अनुभव किया जाता है (उहयं) वे दोनो ही भाव (समए समए) अर्थपर्याय होनेकी अपेक्षासे प्रत्येक समयमें (विणस्सदे) नाशको प्राप्त होजाते हैं अतएव (णाणी) तत्वज्ञानी (तं जाणगोदु) उनको अर्थात् वर्त्तमान व भावी होनेवाले भावोंको विनश्वर जानकर (उभयंपि) दोनोंको ही (कयावि) कदापि (ण कंखदि) नहीं चाहता है।

भावार्थ—जिस समय इस जीवके किसी पदार्थके भोगनेकी इच्छा होती है उसी समय उसका भोग नहीं होकर उसके पीछे होता है, इससे जिस भावने अनुभव करनेकी इच्छाकी थी वह भाव तो विना अनुभव किये हुए ही नाश हो गया और जब यह अनुभव करता है तब पूर्वकी इच्छा न रही अर्थात् वेदनकी इच्छा करनेवाला भाव और जिस भावसे वेदन किया जाता है वे दोनों भाव एक समय वर्ती नहीं हैं भिन्न २ समय वर्ती हैं। इससे तत्त्वज्ञानी यह अनुभव करता है कि जो इच्छा की जाती है वह तो भोगनेमें आती नहीं इससे इच्छा करना ठीक नहीं है। ऐसा ही भाव श्री अमृतचंद्र आचार्यने कलशमें प्रगट किया है:—वेद्यवेदक विभाव चलत्वात्-वेद्यते न खलु कांक्षितमेव, तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान्, सर्वतो प्यति विरक्तिमुपैति।

वेद्यभाव अर्थात् भोगनेकी इच्छारूपी भाव तथा वेदकभाव अर्थात् भोगनेवाला भाव दोनों ही चलायमान हैं इस लिये निश्चयसे जो इच्छाकी जाती है वही भाव भोगनेमें नहीं आता है। इस कारणसे इच्छा करना वृथा जानकर ज्ञानी भोगोंकी इच्छा नहीं करता हुआ सर्व प्रकारसे अतिविरक्तपनेको प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वमें भोगोंकी इच्छासे वैराग्य युक्त रहता है। जो कोई भोग जिस समय प्राप्त होजाय उसको उदासीनपने रोगके इलाजवत् भोग लेता है। व्यर्थ इच्छाएं करके कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥ २१३ ॥

आगे कहते हैं कि इसी तरह बे मतलब कर्म बंधके निमित्त कारण जो अपध्यान हैं व शरीर सम्बन्धी या भोगोंके निमित्त जो रागद्वेषादि अध्यवसान हैं उनको परमात्मतत्वका ज्ञाता ज्ञानी जीव नहीं चाहता है।

गाथाः—बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१४ ॥

संस्कृतार्थः—बंधोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥ २१४ ॥

सामान्यार्थः—ज्ञानी जीवके बंधके निमित्त व भोगके निमित्त ऐसे संसार व देह सम्बन्धी विषयोंमें व रागादि अध्यवसानोंमें राग नहीं पैदा होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः— (णाणिस्स) स्वसंवेदन ज्ञानी जीवके (संसार देह विसएसु) संसार सम्बन्धी व देह सम्बन्धी विषयोंमें (अज्झवसाणोदएसु) व रागद्वेषादि उदयरूप अध्यवसानोंमें (बंधु व भोग निमित्तं) बंध व भोगके निमित्त (रागो णेव उपज्जदे) राग नहीं पैदा है। यहां यह तात्पर्य है कि यह जीव भोग निमित्त तो थोड़ासा पाप करता है परन्तु बे मतलब अपध्यानसे बहुत अधिक पाप बांधता है जैसा कि तंदुलमच्छ बांधता है–स्वयंभूरमण महा समुद्रमें महामच्छके मुखमेंसे प्रवेश होकर बहुतसे पशु निकल जाते हैं। तंदुलमच्छ उनको देख २ कर यह अपध्यान करता है कि यदि मैं इतना बड़ा पशु होता तो इन सबको न छोड़ता। इस अपध्यानके योगसे वह सातवें नर्कका पाप बांध लेता है। अपध्यानका लक्षण शास्त्रमें ऐसा कहा है—

वधबंधन छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्चपर कलत्रादेः–आर्तध्यान मपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः–

अर्थात्–परकी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिका वध, बंधन, छेदन आदिका द्वेषसे व रागसे चिन्तवन करना सो अपध्यान है ऐसा जिन शासनमें निर्मल बुद्धिवान पुरुषोंने कहा है। अपध्यानसे कर्मोंका बंध होता है सो भी कहा है–

संकल्प कल्पतरु संश्रयणात्त्वदीयं, चेतो निमज्जति मनोरथ सागरेऽस्मिन्।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥

सामान्यार्थ—संकल्प विकल्प रूपी वृक्षका आश्रय करलेनेसे तेरा चित इस मनोरथके

समुद्रमें गोत खा रहा है। सो इसमें वास्तवसे तेरा कुछ भी भला नहीं है किन्तु उसके सिवाय तू पापोंका आश्रय हो जावेगा। और भी कहा है—

दौर्विध्यदग्ध मनसोंतरुपात्तभुक्ते, श्चित्तंयथोऽलसतिते स्फुरितोतरंगं।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्म संज्ञे, कौतुस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः॥

भावार्थ—दुर्भाग्यसे जिसका मन दग्ध है व जो अंतरंगमें भोगोंका भोग किया करता है ऐसा जो तू सो तेरा चित्त नाना प्रकार विकल्पकी तरंगोंसे जैसे स्फुरायमान है ऐसा ही यदि परमात्मा रूपी तेज तेरे चित्तमें स्फुरायमान हो तो फिर तुम्हारा जन्म निष्फल कैसे रह सक्ता है? भावार्थ—अपध्यानोंसे केवल पापका बंध है पर परमात्मध्यानसे आत्माकी मुक्ति है। आचार शास्त्रमें कहा है:—

कंखिदकलुखिदभूदो दु काम भोगेहिं मुछिदो संतो।
णय भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कंमाणि॥

भावार्थ—इच्छाओंके द्वारा कलुषित चित हुआ यह प्राणी काम भोगोंसे मूर्छित हो जाता है तब भोगोंको नहीं भोगता हुआ भी अपने अशुभ भावोंसे कर्मोको बांधता है—ऐसा जानकर अपध्यानको छोड़कर शुद्ध आत्मस्वरूपमें ठहरना योग्य है। भावार्थ—तत्वज्ञानी भोगोंकी इच्छा करके अपध्यान नहीं करता और न भोगते हुए भी अंतरंगसे राग करता है—उसके संसार देहसम्बन्धी कार्योंमें भीतरसे रुचिरूप उपादेय स्वरूप राग बुद्धि नहीं होती—अपध्यानको तो वह बहुत ही हानिकारक जानता है क्योंकि चाहकी दाहसे व खोटा विचार करनेसे कार्य तो कुछ होता नहीं, परंतु वे मतलब कर्मोका बंध होता है। केवल भोग करनेकी अपेक्षा उसकी चिंता करनेसे भारी पापका बंध होता है अतएव ज्ञानी आत्मा संसारके विषयोंमें रागद्वेष न करके उदास रहता है।

फिर भी दिखलाते हैं कि सम्यग्दृष्टिके भेद ज्ञान शक्ति व वैराग्य शक्तिकी ऐसी महिमा है।

गाथाः—मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं॥ २१५॥

संस्कृतार्थः—मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवत्वं तु गच्छेयं।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम॥ २१५॥

सामान्यार्थः—यदि बाह्य परद्रव्य निश्चयसे मेरी परिग्रह हो तो मैं अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊं, परन्तु क्योंकि मैं ज्ञाता ही हूं इससे यह परिग्रह मेरी नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जदि) यदि (परिग्गहो) मिथ्यात्व व रागद्वेषादिक परद्रव्य रूपी परिग्रह (मज्झं) सहज शुद्ध केवल ज्ञान केवल दर्शन स्वभावरूप निश्चयसे जो मैं हूं सो मेरी हो जावे (तदो) तब (अहम्)मैं (अजीविदं तु गच्छेज्ज) अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊंगा अर्थात् जड़ हो जाऊंगा

परंतु मैं अजीव नहीं हो सकता (जम्हा) क्योंकि (अहं) मैं (णादेव) परमात्मपद स्वरूप शुद्ध ज्ञानमई हूं (तम्हा) इस लिये (परिग्गहो) यह परद्रव्यादि परिग्रह (मज्झंण) मेरी परिग्रह निश्चय नयसे नहीं हो सक्ती। भावार्थ--भेदज्ञानी आत्मा ऐसा अनुभव करता है कि मैं शुद्ध निश्चयनयसे परमात्मपद स्वरूप शुद्ध ज्ञानानंदमई हूं इसलिये यह रागद्वेषादि व स्त्री पुत्रादि परिग्रह मेरी नहीं हो सकती ॥ २१५ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि वह परमात्मपद क्या है इसका समाधान आचार्य करते हैं:-

गाथा:—आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं।
थिरमेकमिदं भावं उवलंभंतं सहावेण ॥ २१६ ॥

संस्कृतार्थ:—आत्मनि द्रव्यभावान्यस्थिराणि मुक्त्वा गृहाण तव नियतं।
स्थिरमेकमिदं भावं उपलभ्यमानं स्वभावेन ॥ २१६ ॥

सामान्यार्थ:—आत्मामें जो द्रव्य और भाव कर्म हैं उनको अथिर जान करके छोड़ दे और हे भव्य! अपनेही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभावसे अनुभव योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म पदार्थको गृहण कर। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:-(आदम्हि) इस आत्म द्रव्यरूपी आधारमें जो (दव्वे भावे) द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म रागद्वेषादि तिष्ठे हुए हैं उनको (अथिरे) विनाश होनेवाले अथिर जानके (मोत्तूण) छोड़दे अर्थात् उनसे प्रेम हटाले और हे भव्य! (तव) अपना ही सम्बन्धी अर्थात् अपने ही (णियदं) निश्चितरूप (थिरं) अविनाशी, (सहावेण उवलंभंतं) स्वभावसे अनुभव करने योग्य अर्थात परमात्म सुखकी संवित्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञान स्वभावसे अनुभवने योग्य (एगं) एक (इदं) इस प्रत्यक्ष (भावं) आत्म पदार्थको (गिण्ह) ग्रहण कर, स्वीकार कर। भावार्थ:-जो स्वभावसे एकरूप, अविनाशी स्वसंवेदनज्ञान गम्य आत्मा है वही परमात्मपद है उसका अनुभव करना जरूरी है ॥ २१६ ॥

आगे ज्ञानी परद्रव्यको नहीं ग्रहण करता है इस भेद भावनाको बतलाते हैं:-

गाथा:—को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं ममामिदं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २१७ ॥

संस्कृतार्थ:—को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २१७ ॥

सामान्यार्थ:—कौन बुद्धिमान जो इस बातको निश्चय रूपसे जानता है कि आत्माकी परिग्रह आत्मा ही है ऐसा कहेगा कि परद्रव्य मेरा द्रव्य है? शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:-(को बुहो) कौन बुद्धिमान (णाम) अहो (अप्पणो परिग्गहं) अपने आत्माकी परिग्रहको (अप्पाणम् तु) चिदानंद एक स्वभाव रूप शुद्धात्माको ही (णियदं) निश्चय रूपसे (वियाणंतो) जानता हुआ व अनुभव करता हुआ (भणिज्ज) ऐसा कहेगा कि (इदं) यह (परदव्वं) आत्मासे भिन्न सर्व पर-

द्रव्य (ममदव्वं) मेरा द्रव्य (हवदि) होता है? भावार्थः—ज्ञानी जीव यह बात कभी नहीं मानेगा और न कहेगा कि यह परद्रव्य स्त्री पुत्रादि शरीर व रागद्वेषादि भाव मेरा आत्मा सम्बन्धी द्रव्य या भाव है क्योंकि उसको इसका ठीक २ अनुभव है कि अपने आत्माकी परिग्रह अपने ही आत्माका शुद्ध स्वरूप है॥ २१७॥

आगे ज्ञानीके इस भेदज्ञानका वर्णन करते हैं जिससे वह यह विचारता है कि मेरा दृढ़ निश्चय है कि यह देह व रागद्वेषादि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं होसक्ती।

गाथाः—छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ॥ २१८॥

संस्कृतार्थः—छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां अथवा यातु विप्रलयं।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि न परिग्रहो मम॥ २१८॥

सामान्यार्थः—ज्ञानीके यह भेद भावना होती है कि यह शरीर छिदजाहु, भिदजाहु, वा कोई कहीं लेजाहु वा प्रलय हो जाहु अथवा चाहे जिस कारणसे चला जाहु तथापि यह शरीर मेरा परिग्रह नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—यह बाह्य शरीर (छिज्जदु वा) चाहे छिद जाओ दो टुकड़े इसके हो जावें (भिद्यतां) चाहे यह भिद जावे अर्थात् छेद रहित हो जावे (णिज्जदुवा) वा इसे कोई कहीं ले जावे (अहव विप्पलयं जादु) अथवा प्रलयको प्राप्त हो जावे (जम्हा तम्हा गच्छदु) वा चाहे जि। कारणसे छूट जावे (तहावि) तोभी यह देह (मज्झ) मेरा (परिग्गहो) परिग्रह (ण) नहीं हो सक्ता। क्योंकि ज्ञानी विचारता है कि मुझे यह दृढ़ निश्चय है कि मैं टंकोत्कीर्ण परमानंदमई ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावरूप हूं। भावार्थः—ज्ञानी जीव अपनेको शुद्ध ज्ञानानंदमई अनुभव कर देहके बिगाड़से अपना बिगाड़ नहीं मानता है॥ २१८॥

आगे आत्मिक सुखमें सन्तोष है ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथाः—एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं॥ २१९॥

संस्कृतार्थः—एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो तर्हि भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं॥ २१९॥

सामान्यार्थ—इसी ही आत्मस्वरूपमें नित्य रत हो, नित्य इसीमें संतोषी हो, इसी ही से तृप्त हो तौ तुझे उत्तम सुख हो जायगा। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एदम्हि) हे भव्य! पंचेन्द्रियके क्षणिक सुखोंसे निवृत्ति करके इसी ही स्वभाविक परमात्म सुखमें (णिच्च) नित्य (रदो) विकल्प रहित योगके बलसे रत हो तथा (एदह्मि) इसी ही स्वरूपमें (णिच्चं) नित्य (संतुट्ठो हो हि) संतुष्ट हो तथा (एदेण) इसी ही आत्म सुखके द्वारा (तित्तो हो हि) तृप्त हो (तो)

तब इस आत्माका सुखके अनुभव करनेसे (उत्तमं सोक्खं) उत्तम अविनाशी मोक्षका सुख (होहदि) तुझे भविष्यमें प्राप्त होगा। भावार्थः—आत्माके शुद्ध स्वरूपमें जो लीन हो कर संतोषी होता है सो आत्म सुखको अनुभव करता हुआ क्रमसे मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है ॥ २१९ ॥

आगे कहते हैं कि जिस परमार्थरूप मोक्षके कारणभूत पदमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञानका भेद नहीं है ऐसा जो परमात्म पद है सो सर्व ही हर्ष विषाद आदिके विकल्पके जालोंसे दूर है उस पदको परम योगाभ्यासके बलसे ही यह आत्मा अनुभव करता है।

गाथाः—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २२० ॥

संस्कृतार्थः—आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदं ।
स एवं परमार्थः, यं लब्ध्वा निर्वृत्तिं याति ॥ २२० ॥

सामान्यार्थः—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप सो एक ही पद है, वही परमार्थरूप है जिसको पाकर यह जीव निर्वाणको प्राप्त होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—जैसे सूर्यके मेघोंके आवरणके कमती बढ़ती हो जानेके कारणसे सूर्यके प्रकाशमें कमती बढ़तीपनेके भेद हो जाते हैं तैसे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि भेद होते हैं (आभिणिसुदोहि मणकेवलं) यह मति श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवलज्ञान (तं चहोदि एक्कमेव पदं) सो अभेदरूप निश्चयसे एकरूप ही है (सो एसो परमट्ठो) यही लोकमें प्रसिद्ध पंच ज्ञानका अभेदरूप परमार्थ है (जं) जिस परमार्थ स्वरूपको (लहिदुं) पाकर यह जीव (णिव्वुदिं जादि) निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। भावार्थः—वह आत्मा जब अभेदरूप ज्ञानानंदमई परमात्म स्वरूपका अनुभव करता है तो उसके प्रतापसे इसके कर्म धीरे २ शांत हो जाते हैं और यह जीव अंतमें निर्वाणकी प्राप्ति करता है ॥२२०॥

इस तरह ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्तिका विशेष विवरण करते हुए १० सूत्र समाप्त हुए इसके आगे आठ गाथाओं तक उस ही परमात्मपदका प्रकाश करनेवाला जो कोई ज्ञान गुण है उसका सामान्य वर्णन करते हैं—प्रथम ही कहते हैं कि जहां मति ज्ञान श्रुतज्ञान आदि ज्ञानोंका भेद नहीं है ऐसा अभेदरूप साक्षात मोक्षका कारणभूत जो कोई परमात्मपद है सो शुद्धात्माके अनुभवसे शून्य व्रत, तपश्चरण काय क्लेश करते हुए भी स्वसंवेदन ज्ञान गुणके विना नहीं प्राप्त हो सक्ता है:-

गाथाः—णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २२१ ॥

संस्कृतार्थः—ज्ञानगुणैर्विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते ।
तद्गृहाण सुपदमिदं यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥ २२१ ॥

सामान्यार्थः—बहुत भी जीव ज्ञान गुणसे रहित होते हुए इस परमात्मपदको नहीं प्राप्त करते हैं। इसलिये हे भव्य ! यदि तू कर्मोसे मुक्त होना चाहता है तो इस पदको गृहण कर। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(णाणगुणेहिं विहीणा) विकार रहित परमात्मतत्त्वके अनुभवरूपी लक्षणको धरनेवाले ज्ञानगुणसे रहित (बहुवि) बहुतसे पुरुष शुद्धात्मा ही उपादेय है गृहण करने योग्य है इस स्वसंवेदन ज्ञानसे रहित दुर्धर काय क्लेश आदि तपश्चरणको करते हुए भी (एदंतुपदं) इस मति ज्ञानादिसे अभेदरूप, साक्षात् मोक्षका कारण स्वसंवेदनके योग्य शुद्धात्माके अनुभवरूपी लक्षणको रखनेवाले परमात्मपदको (ण लहंति) नहीं प्राप्त करते हैं। इसलिये हे भव्य ! (जदि) यदि (कंम परिमुक्कं) द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मोसे मुक्ति (इछसि) चाहता है तो (तं पद मेदं) उस परमात्म पदको ही (गिण्हसु) ग्रहणकर। भावार्थ—जब तक स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है तब तक व्रत, तप आदि क्रियाएं परमात्म पदकी प्राप्तिमें सहायक नहीं हो सक्तीं। इसलिये जो हितार्थी भव्यजीव है उसको उचित है कि आत्मज्ञानको प्राप्त कर आत्मानुभवमें प्रवृत्त करे इसी ही आत्माके अनुभवसे परमात्मपदका लाभ होता है जिसके लाभ होनेसे यह जीव कर्मोसे मुक्त हो जाता है ॥ २२१ ॥

आगे विशेष परिग्रहके त्याग करानेके अभिप्रायसे उस ही ज्ञान गुणका विशेष वर्णन करते हैं:-

गाथाः—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २२२ ॥

संस्कृतार्थः—अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२२ ॥

सामान्यार्थः—जो परिग्रहसे दूर है वह इच्छासे रहित कहा गया है इससे ज्ञानी पुण्यरूप धर्मको नहीं चाहता है, इसकारणसे वह उस पुण्य मई धर्मको नहीं ग्रहण करता हुआ केवल उसका ज्ञाता रहता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(अपरिग्गहो) उसके किसी प्रकारकी परिग्रह नहीं है (अणिच्छो) जिसके अपने आत्मासे बाह्य द्रव्योंमें किसी प्रकारकी वांछा या मोह नहीं है। इससे (णाणीय) स्वसंवेदन ज्ञानी जीव (धंमं) शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्मको छोड़ कर शुभोपयोग रूप धर्म अर्थात् पुण्यको (णिच्छदे) नहीं चाहता है। (तेण) इसी कारणसे (सो) वह सम्यग्ज्ञानी जीव (धंमस्स दु अपरिग्गहो) उस पुण्य धर्मको नहीं ग्रहण करता हुआ अर्थात् यह पुण्यमई धर्म मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर उस रूपसे नहीं परिणमन करता हुआ अर्थात् उस पुण्यमें तन्मई न होता हुआ (जाणगो होदि) जैसे दर्पण अपने भीतर पड़ती हुई परछाइयोंका केवलमात्र प्रकाशक है ऐसे ही केवल ज्ञायक अर्थात् जाननेवाला ही रहता है। **भावार्थः**-परिग्रहसे वही दूर वा परिग्रहका वही त्यागी कहा जाता है जिसके केवल आत्मस्वरूपसे तो अनुराग है परन्तु आत्मासे बाहर जितने पदार्थ हैं उनसे राग नहीं है और न पर

द्रव्योंकी चाहना है–पुण्य रूप धर्मको जो परद्रव्योंके समागम मिलानेका कारण है वही चाहेगा जिसके स्वर्गादि सुखोंकी वांछा होगी। तत्वज्ञानी जो आत्मीक अतीन्द्रिय आनन्दका ही अनुरागी है इस पुण्यमई धर्मकी इच्छा नहीं करता है केवल शुद्धोपयोगकी ही भावना भाता है। इससे ज्ञानी जीव पर द्रव्य और उसकी अवस्थाओंका केवल जाननेवाला रहता है राग व द्वेष करनेवाला नहीं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानीको परकी चाह मेट शुभोपयोगको भी उपादेय नहीं मानना चाहिये ॥ २२२ ॥

आगे फिरभी इसीको कहते हैं:—

गाथा:—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदि अहम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २२३ ॥

संस्कृतार्थः—अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्म।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२३ ॥

सामान्यार्थः—जिसके इच्छा नहीं है वही परिग्रहसे रहित कहा गया है इससे ज्ञानी विषयकषायरूप अधर्मकी भी इच्छा नहीं करता इसकारण अधर्मको नहीं ग्रहण करता हुआ केवल उसका ज्ञाता ही रहता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ– अणिच्छो) जिसके बाह्य द्रव्योंमें वांछा नहीं है वह (अपरिग्गहो) परिग्रह रहित (भणिदो) कहागया हैइससे (णाणीय) तत्वज्ञानी (अहम्मं) पंचेन्द्रियके विषयोंको सेवने रूप व क्रोधादिक कषाय रूप अधर्मको (णिछदि) नहीं चाहता है। (तेण) इसी ही कारणसे (सो) वह सम्यग्ज्ञानी (अधंमस्स) विषय कषायरूप अधर्मको (अपरिग्गहो) नहीं ग्रहण करता हुआ अर्थात् यह जान करके कि यह पाप मेरा स्वरूप नहीं है पाप रूपसे नहीं परिणमन करता हुआ (जाणगोहोदि दर्पणमें जैसे बिंब पड़ता है उस तरह केवल उसका ज्ञाता दृष्टा ही रहता है।

भावार्थ—जैसे तत्वज्ञानी पुण्यरूप धर्मकी इच्छा नहीं करता ऐसे पापरूप धर्मको भी नहीं चाहता है–परन्तु इन दोनोंसे भिन्न ज्ञाता दृष्टारूप अपने आत्माको अनुभव करता हुआ अपने स्वभावमें रहता है।

इसी ही तरह अधर्म पदको पलटके राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म्म, नोकर्म्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ऐसे १७ पद गाथाओंके मध्यमें देकर १७ सूत्र कहने योग्य हैं इसी ही तरह शुभ व अशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित व अनंत ज्ञान दर्शन आदि गुणोंकाधारीओ शुद्धात्मा है उससे प्रतिपक्ष भूत अर्थात् विरोधी शेष और भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणामोंके स्थान त्यागने योग्य हैं ॥ २२३ ॥

इसी ही विषयको और भी कहते हैं

गाथा:—धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअतिरियणेरइयं ॥ २२४ ॥

संस्कृत छाया:—धर्मार्थी अधर्मार्थी आकाशं श्रुतमंग पूर्वेषु ।
संगं च तथा ज्ञेयं देव मनुष्य तिर्यग् नरकादिकम् ॥ २२४ ॥

सामान्यार्थः—परमतत्वज्ञानी धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, अंग व पूर्वका श्रुत ज्ञान व अन्य परिग्रह व देव मनुष्य तिर्यंच नरक आदि अवस्थाओंको नहीं चाहता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—जो इच्छा रहित है वही परिग्रह रहित है उसके बाह्य द्रव्योंमें इच्छाका अभाव है अतएव परमतत्वज्ञानी चिदानंदमई एक स्वभावरूप शुद्धात्माको छोड़करके धर्म, अधर्म, आकाशादि द्रव्य व अंगोका या पूर्वोका श्रुतज्ञान व बाह्य और अंतरंगकी २४ प्रकार परिग्रह या देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक आदि विभाव पर्यायोंको नहीं चाहता है यह सर्व जानने योग्य है ऐसा जानता है। इस कारणसे इस विषयमें परिग्रह रहित होता हुआ उस रूपसे नहीं परिणमन करता हुआ जैसे दर्पणमें बिम्ब झलकता है परन्तु दर्पण उस रूप नहीं होता इसी तरह केवलमात्र ज्ञाता दृष्टा ही रहता है—रागद्वेष नहीं करता। भावार्थ ज्ञानी निज आत्म स्वरूपको छोड़कर अन्य अवस्थाओंको ज्ञेय रूप जानता है—उनका केवल ज्ञाता दृष्टा रहता है॥२२४॥

तथा इसी विषयको और भी कहते हैं:—

गाथाः—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि॥ २२५ ॥

संस्कृतार्थः—अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितोऽशनं च नेच्छति ज्ञानी ।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२५ ॥

सामान्यार्थः—जो परिग्रह रहित है वह इच्छा रहित कहा गया है इससे ज्ञानी भोजनकी इच्छा नहीं करता है। इस कारणसे भोजनको रागभावसे नहीं ग्रहण करता हुआ केवलमात्र ज्ञाता रहता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(अणिच्छो) जिसके बाह्य द्रव्योंमें इच्छा, मूर्छा व ममता भाव नहीं है सो (अपरिग्गहो) परिग्रह रहित (भणिदो) कहा गया है क्योंकि इच्छा अज्ञानमई भाव है इससे इसका होना ज्ञानीके संभव नहीं है अर्थात् (णाणी) सम्यग्ज्ञानी (असणंच) भोजन व तत्सम्बन्धी पदार्थोंको (णिच्छदे) नहीं चाहता है। (तेण) इस कारणसे (सो) वह सम्यग्ज्ञानी (असणस्स) भोजनको (अपरिग्गहो) नहीं चाहता हुआ (जाणगो होदि) केवल उसका ज्ञाता दृष्टा रहता है। अर्थात् ज्ञानी आत्मीक सुखमें तृप्त होता हुआ भोजनके मनोज्ञ पदार्थोंकी नहीं कामना करता हुआ जैसे दर्पणमें बिंब जगतका तथा झकलता है। दर्पण उसमें राग व द्वेष नहीं करता है इसी तरह ज्ञानी भोजनादि पदार्थोंका वस्तुस्वरूपसे केवल ज्ञाता ही रहता है उनको राग रूपसे ग्रहण नहीं करता है। भावार्थः—जैसे दर्पणमें सुरूप व कुरूप पदार्थ प्रकट होते हैं, दर्पण उनमें रागद्वेष नहीं करता ऐसे

ज्ञानीके ज्ञानमें भोजनादि पदार्थ जैसेके तैसे झलकते हैं। ज्ञानी उनमें रागद्वेष नहीं करता है॥२२५॥

फिर भी कहते हैं:—

गाथाः—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २२६ ॥

संस्कृतार्थः—अपरिग्रहो अनिच्छो भणितः पानं च नेच्छति ज्ञानी।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२६ ॥

अर्थ—जो इच्छा रहित है अर्थात् जिसकी आत्मासे बाहरके द्रव्योंमें इच्छा—आकांक्षा, तृष्णा, मोह नहीं है वही परिग्रह रहित है ऐसा कहागया है, क्योंकि इच्छा अज्ञानमई भाव है इससे ज्ञानी पीने योग्य वस्तुओंकी चाह नहीं करता है यही हेतु है जिससे वह स्वाभाविक परमानंदरूप सुखमें तृप्त रहता हुआ नाना प्रकारकी पीने योग्य वस्तुओंमें मूर्च्छा न करता हुआ दर्पणमें विंबके समान ही वस्तुको वस्तुस्वरूपसे जानता हुआ रहता है उसको रागरूप भावसे ग्रहण नहीं करता है ॥ २२६ ॥

ऐसा ही कहा है।

उक्तं च। गाथाः—णबलाउसाउ अट्ठं ण सरीरस्सय वयट्ठतेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुजंति॥
अक्खा भक्ख णिमित्तं, रिसिणो भुजंति पाण धारण णिमित्तं।
पाणा धम्म णिमित्तं, धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं॥

भावार्थः—साधु महाराज जो भोजनपान करते हैं सो शरीरके बलकी व आयुकी व शरीरके अंगोंके तेजकी वृद्धिके लिये नहीं किन्तु ज्ञान, संयम और ध्यानकी वृद्धिके लिये करते हैं। ऋषिगण इंद्रियोंके विषयोंके निमित्त नहीं भोगते हैं किन्तु अपने प्राणोंकी रक्षा निमित्त भोगते हैं, उन प्राणोंकी रक्षा धर्म पालनेके लिये करते हैं और धर्मका पालन मोक्ष प्राप्तिके लिये करते हैं। इसी कारण साधु महाराजके भोजनपान करते हुए उनके भीतर स्वादजनित इच्छा नहीं होती केवल शरीरको धर्मके साधनमें उपकारी जानके उसकी रक्षाके हेतु ही भोजन करते हैं।

आगे परिग्रह त्यागके व्याख्यानको संकोच करते हैं:—

गाथाः—इच्चादि एदु विविहे सव्वे भावेय णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबोय सव्वत्थ ॥ २२७ ॥

संस्कृतार्थः—इत्यादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावान्नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो निरालंबश्च सर्वत्र ॥ २२७ ॥

सामान्यार्थः—सम्यग्ज्ञानी ऊपर लिखित नाना प्रकारके सर्व भावोंको नहीं चाहता है—वह ज्ञानी सर्व अवस्थाओंमें नियमरूपसे ज्ञाता दृष्टा स्वभाव व परालंब रहित स्वाधीन

रहता है। शब्दार्थ-(णाणी) परमात्मतत्वका ज्ञानी (इत्यादि एदु विविहे सव्वे भावेय) ऊपर कहे प्रमाण पुण्य व पापोंको व भोजन पानादि बाह्य पदार्थोंको (णिच्छदे) नहीं चाहता है क्योंकि वह (सव्वत्थ) सर्व ठिकानों व अवस्थाओंमें (जाणगभावो) टंकोत्कीर्ण परमानंदमई ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावरूप (णियदा) निश्चित किया हुआ (णीरालंबोय) और तीन जगत व तीन कालोंमें भी मन, वचन, कायसे व कृत, कारित, अनुमोदनासे बाह्य और भीतरकी परिग्रह रूप चेतन और अचेतन परद्रव्यमें आलंबन रहित होता हुआ भी अनंतज्ञान आदि गुण स्वरूप अपने स्वभावमें पूर्ण कलश की तरह निश्चल अवलंबन सहित ठहरता है। भावार्थः- जिसने शुद्धात्मतत्वका निश्चय व ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके केवल निज रूपके प्रकाशित करनेकी ही भावना है, विषय कषायोंकी पुष्टताकी भावना नहीं होती है। अतएव वह किसी भी अवस्थामें भोजन पानादि पर वस्तुओंकी इच्छा नहीं करता है। केवल धर्म साधनके निमित्त शरीरकी रक्षा करता है ॥ २२७ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी न तो वर्तमान भोगोंमें इच्छा करता है न भविष्यके भोगोंको चाहता है।

गाथाः—उप्पण्णोदयभोगे विओगवुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २२८ ॥

संस्कृतार्थः—उत्पन्नोदय भोगे वियोगबुद्धिश्च तस्य स नित्यं।
कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥ ॥ २२८ ॥

सामान्यार्थः—उत्पन्न भए उदयमें प्राप्त इन भोगोंमें जिस ज्ञानी जीवकी हेय बुद्धि होती है वह ज्ञानी नित्य ही न उदयमें आए हुए और न भविष्यमें उदय आने योग्य भोगोंकी इच्छा करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(तस्स उप्पण्णोदय भोगे) उत्पन्न भए उदय प्राप्त इन भोगोंमें (विओग वुद्धीय) जिसके वियोग बुद्धि है अर्थात् जो विषयभोगोंकी त्याग देनेकी रुचि रखता है (सो णाणी) सोस्वसंवेदन ज्ञानी (णिच्चं) नित्य ही (उदयस्स अणागदस्स) उदयमें आए हुए व अगामी उदयमें आने योग्य भोगोंकी (कंखाम्) इच्छा (णकुव्वदे) नहीं करता है। इसका विशेष यह है कि जो कोई भोग्य और उपभोग्य आदि चेतन और अचेतन समस्त पर वस्तुओंमें आलंबन रहित परिणाम है वह ही स्वसंवेदन ज्ञान गुण कहा जाता है। इस ज्ञान गुणका अवलम्बन लेकर जो कोई पुरुष अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व भोगोंकी इच्छा रूप निदानबंध आदि विभावभावोंसे रहित होकर तीन जगत और तीनों कालोंमें भी मन, वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे विषयोंके सुखमें आनंदकी वासनासे वासित चित्तको छोड़ कर अर्थात् अपने मनसे पंचेन्द्रियके भोगोंकी इच्छाकी वासनाको हटाकर शुद्धआत्मीक भावनासे उत्पन्न होनेवाले वीतराग परमानंद सुखसे वासित व रंजायमान, व मूर्छित व परणमन करते हुए, व तन्मय होते हुए व तृप्त करते हुए, रत, व संतुष्ट होते हुए अपने चित्तको करके

वर्तन करता है वह ही ज्ञानी तत्वज्ञ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञानोंमें अभेद रूप परमार्थ शब्दसे कहने योग्य साक्षात् मोक्षका कारणभूत शुद्धात्माके अनुभव रूपी लक्षणको रखनेवाले परमागमकी भाषासे वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वरूपको व अपने ही द्वारा जानने योग्य शुद्धात्मीक पदको परमसमतारससे भीजे हुए भावके द्वारा अनुभव करता है। अन्य कोई नहीं। जिसतरहके परमात्म पदका अनुभव करता है उसी तरहके परमात्म पद स्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है। क्योंकि जैसा उपादान कारण होता है वैसा कार्य्य बनता है। भावार्थ–जिस ज्ञान गुणमें आत्मा सिवाय अन्य सर्व पर भावोंका आलंबन व आश्रय नहीं है उसीको स्वसंवेदन ज्ञानगुण कहते हैं। उसीके द्वारा शुद्धात्म स्वरूपका अनुभव होता है तब विषय सुखोंकी वासना चित्तमें नहीं होती है किन्तु आत्मासे उत्पन्न परमानन्दमें ही सुख संतोष व तृप्तिका लाभ होता है। यही वीतराग धर्म व शुक्ल ध्यान है व यही मोक्षका साक्षात् कारण है। इसतरह स्वसंवेदन ज्ञान गुणके विना मति आदि पांच ज्ञानके विकल्पोंसे रहित अखंड परमात्मपदका लाभ नहीं होता है ऐसा संक्षेपसे व्याख्यान करते हुए आठ सूत्र हुए॥ २२८॥

अथानंतर इसी ही ज्ञान गुणका फिर भी विशेष व्याख्यान १४ गाथाओंमें करते हैं।

प्रथमही वर्णन करते हैं कि ज्ञानी सर्व द्रव्योंमें वीतरागी होता है इससे कर्मोंसे नहीं लिपता है परन्तु सरागपना रखनेके कारण अज्ञानी कर्मोंसे लिप जाता है:–

गाथाः—णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं॥२२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं॥ २३०॥

संस्कृतार्थः—ज्ञानी रागप्रहायः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकं॥ २२९॥
अज्ञानी पुनःरक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहं॥ २३०॥

सामान्यार्थ—ज्ञानी आत्मा कर्मोंके मध्य पड़ा हुआ भी सर्व परद्रव्योंमें राग भावको त्याग करता हुआ उसी तरह कर्म्मरूपी रजसे नहीं लिप्त होता है जिसतरह कीचड़में पड़ा हुआ सोना नहीं विगड़ता है। परन्तु अज्ञानी कर्मोंके मध्य पड़ा हुआ सर्व परद्रव्योंमें राग भाव करता हुआ कर्म्मरूपी रजसे लिप जाता है उसी तरहसे जैसे लोहा कीचड़में पड़ा हुआ बिगड़ जाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः–(णाणी) स्वसंवेदन ज्ञानी (रागप्पजहो) सर्व परद्रव्योंमें रागद्वेषादि नहीं करनेका स्वभाव रखता हुआ (कम्ममज्झगदो) कार्माण वर्गणाओंके

मध्यमें पड़ा हुआ (कंमरयेण) कार्माण वर्गणाकी रजसे (णो लिप्पदि) नहीं लिप्त होता है (जहा) जैसे (कणयं) सुवर्ण (कद्दममज्झे) कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ रजसे लिप्त नहीं होता है (पुणहु) परन्तु (अण्णाणी) अज्ञानी स्वसंवेदन ज्ञानके अभावसे (सव्वदव्वेसुरत्तो) सर्व पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें, व परद्रव्योंमें रागीद्वेषी होता हुआ व उनकी इच्छा करता हुआ, उनमें मूर्च्छित होता हुआवमोहित होता हुआ कम्ममज्झगदो) द्रव्य कार्माण वर्गणाओंके मध्यमें पड़ा हुआ (कम्म रयेण) कर्मरूपी रजसे (लिप्पदि) बंध जाता है (जहा) जैसे (लोहं) लोहा (कद्दममज्झे) कर्दमके बीचमें पड़ा हुआ बिगड़ जाता है। भावार्थः—जैसे सुवर्ण कीचड़में पड़ा हुआ नहीं बिगड़ता है तैसे ज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ रागादि भावोंके अभावमें कर्मोंसे नहीं बंधता है। व जैसे लोहा कीचड़में पड़ा हुआ बिगड़ जाता है तैसे अज्ञानी रागादि भावोंके कारण कर्मोंसे बंध जाता है॥ २२९–२३०॥

आगे शिष्य कहता है कि सर्व कर्म्मोंकी निर्जरा नहीं होनेसे किस प्रकार मोक्ष हो सकेगी इसका समाधान आचार्य करते हैं:-

गाथाः—**णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।**
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण॥ २३१॥

संस्कृतार्थः—नागफण्या मूलं नागिनीतोयेन गर्भनागेन।
नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रावायुना॥ २३१॥

सामान्यार्थ—जैसे नागफणि नाम औषधिकी जड़ हथिनीके मूत्र, सिंदूर द्रव्य और सीसाके साथ वायुकी भट्टीसे धौंके जानेपर सुवर्ण हो जाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः— (णाग फणीए मूलं) नागफणी नाम औषधिकी जड़से (णाइणि तोयेण) नागिनी अर्थात् हथिनीके तोय अर्थात् मूत्रसे तथा (गब्भणागेण) सिंदूर द्रव्यसे (नागं) सीसा (भच्छ वाएण धम्मंतं) भट्टीसे धौंके जानेपर (सुवण्णं होइ) सुवर्ण बन जाता है। भावार्थ—शिष्यके इस प्रश्नका उत्तर करते हुए कि अशुद्धात्मा कैसे शुद्ध हो जाता है आचार्य दृष्टान्त देते हैं कि जैसे नागफणी नाम औषधिकी जड़, हथिनीका मूत्र, सेंदूर और सीसा यह चार चीजें भट्टी में धौंके जानेपर सुवर्णरूप हो जाती हैं॥ २३१॥

आगे दार्ष्टांत बतलाते हैं-

गाथाः—**कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ।**
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि॥ २३२॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं॥ २३३॥

संस्कृतार्थः—कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिमा अथ विभावाः।
सम्यक्त्वज्ञानचरणं परमौषधमिति विजानीहि॥ २३२॥

ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणं भस्त्रा समाख्यातं।
जीवो भवति लोहं धमितव्यः परमयोगिभिः ॥ २३३ ॥

सामान्यार्थः—द्रव्य कर्म इस सुवर्ण मई जीवके किट्ट हैं, रागादिक भाव कालस है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इनके दूर करनेके लिये परम औषधि, मसाला है ऐसा जानना, ध्यान अग्नि है, तपश्चरण हवादेनेकी भस्त्री कही गई है, यह जीव लोहेके समान है इसको परमयोगी धमन करते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ;**—(कम्मं) यह ज्ञानोवरणादि द्रव्य कर्म्म जो जीवके बंधे हुऐ हैं वे (किट्टं हवेइ) सुवर्णमय कीचडके समान होते हैं, (अह रागादी विभाओ) और राग द्वेषादिक विभाव परिणाम (कालिया हवं) सुवर्णमें कालमके सदृश होते हैं, (सम्मत णाण-चरणं) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप व निश्चयनयसे एक अभेदरूप मोक्ष मार्ग (परमोसहम्) परम औषधि है (इदि वियाणाहि) ऐसा जानो। तथा (ज्झाणं) वीतराग और विकल्प रहित ध्यान (अग्गी हवेइ) अग्निके समान है (तवयरणं) अनशन आदि वारह प्रकार तपश्चरण (भत्तली समक्खादो) पवन देनेकी व धौकनेकी धौकनीकही गई है, (जीवो) यह निकट भव्य संसारी जीव (लोहं हवेइ) लोहा है (परम जोईहि) परम योगियोंके द्वारा पूर्वमें कही हुई रत्नत्रयरूपी औषधि ध्यानकी अग्निकेअभ्याससे १२ तरहके तप रूपी धौंकनीसे यह जीवरूपी लोहा (धमियव्वो) धौंकनेके योग्य है। **भावार्थः**-जैसे लोहा या सीसा नागफणीकी जड़, हथनीका मूत्र, सिंदूर इन द्रव्योंके निमित्तसे अग्निमें धौंकनी द्वारा धौंके जानेसे सुवर्ण होजाता है। इसी तरह जब परमयोगी इस जीव रूपी लोहेको रत्नत्रय रूपी औषधिके साथ ध्यानकी अग्नि जलाकर १२ प्रकारकी तप रूपी धौंकनीसे धौंकते हैं अर्थात् वारंवार एक मन हो आत्मध्यान करते हैं तो इस प्रयोगसे संसारी निकट भव्य आत्माके अंदर लगी हुई रागादिक भावोंकी कालिमा व उसके साथ एकमेक होके बैठे हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म दूर होजाते हैं और जैसे अशुद्ध सोना शुद्ध होजाता है इसी तरह कर्मकलंक सहित जीव कर्मोंसे मुक्त होजाता है। इस तरह भट्ट चार्वाक मतधारियोंको आचार्य कहते हैं कि जैसे सुवर्ण शुद्ध होजाता है ऐसे ही आत्मा शुद्ध होसक्ता है। इसमें किसी तरहका संदेह नहीं करना चाहिये ॥ २३२–२३३ ॥

आगे आचार्य ज्ञानी जीवके शंखका दृष्टान्त देकर बंधका अभाव बतलाते हैं:—

गाथाः—**भुंजंतस्सवि दव्वे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे।**
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥ २३४ ॥
तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुञ्जंत्तस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदो णेदुं ॥ २३५ ॥

संस्कृतार्थः—भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥ २३४ ॥

तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुञ्जानस्यापि ज्ञानं नापि शक्यते रागतां नेतुं॥ २३५॥

सामान्यार्थ—सचित्त, अचित्त, मिश्र नाना प्रकारकी द्रव्योंको खाते हुए भी शंखका सफेदपना कालापन नहीं हो सक्ता है। तैसे नाना प्रकार सचित्त अचित्त और मिश्र पदार्थोंको भोगते हुए भी ज्ञानी जीवका ज्ञान रागभावको नहीं प्राप्त हो सक्ता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—जैसे (सचित्ताचित्त मिस्सिए विविहेदव्वे) सचित्त व अचित्त व मिश्र नाना प्रकारके पदार्थोंको (भुञ्जंतस्सवि) भोगते हुए भी (संखस्स) सजीव शंखका (सेदभावो) सफेदपना (किण्हदो कादुं) कृष्णरूप करनेके लिये (णविसक्कदि) नहीं शक्तिमान होता है (तह) तैसे (विविहे) नाना प्रकारके (सचित्ताचित्त मिस्सिएदव्वे भुञ्जंतस्सवि) सचित्त, अचित्त, व मिश्र द्रव्योंको अपने गुणस्थानके अनुसार भोगते हुए भी (णाणिस्स) ज्ञानी जीवका (णाणं) वीतराग स्वसंवेदन लक्षण भेद ज्ञान (रागदो णेदुं) राग द्वेषरूप अर्थात् अज्ञान भावरूप करनेके लिये (णविसक्कदि) नहीं शक्तिमान होता है, क्योंकि स्वभावको और तरह किया नहीं जा सक्ता। यही कारण है कि स्वसंवेदन ज्ञानी जीवके चिरकालके बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा ही होती है और नवीन कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ—जैसे कोई सफेद जातिका शंख भिन्न२ पदार्थोंको खाता हुआ भी अपने सफेदपनेको दूर नहीं करता ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानी आत्मा उदासीन भावसे काम पड़नेपर पदार्थोंका उपभोग करते हुए भी अपना भेदज्ञान गमा नहीं बैठता है किन्तु भेदज्ञानको स्थिर करता हुआ अज्ञान भावरूप नहीं होता है इससे पूर्वबन्धकर्मोंकी निर्जरा व नवीन कर्मोंका संवर करता है। ऐसा जानना॥ २३४, २३५॥

आगे इसी विषयको अन्यरूपसे कहते हैं:—

गाथा:—जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे॥ २३६॥
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे॥ २३७॥
तह णाणी विय जइया णाणसहावत्तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे॥ २३८॥

संस्कृतार्थः—यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं स्वयं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्॥ २३६॥
यथा शंखः पौद्गलिकः यदा शुक्लत्वं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्॥ २३७॥
तथा ज्ञान्यपि यदि ज्ञानस्वभावं स्वयं प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत्॥ २३८॥

सामान्यार्थः—जैसे जब वही सजीव शंख कृष्ण रंगके परद्रव्यके लेपके वशसे अंतरंगमें अपने ही उपादान कारणरूप परिणामके आधीन होकर अपने श्वेत भावको छोड़कर कृष्ण भावको प्राप्त होता है तब अपने शुक्लपनेको छोड़ देता है। यह अन्वय दृष्टान्त है और जैसे कोई जीव रहित शंख पुद्गलरूप होता हुआ जब काले परद्रव्यके लेप किये जानेके कारणसे अपने अंतरंग उपादान परिणामके आधीन होकर अपने सफेद स्वभावको छोड़कर कालेपनेको प्राप्त हो जाता है तब वह निर्जीव शंख अपने शुक्लपनेको छोड़ बैठता है। यह दूसरा अन्वय दृष्टान्त है। इसी ही प्रकारसे ज्ञानी जीव भी प्रकटपने जब अपनी ही बुद्धिके अपराधसे वीतरागरूप ज्ञान स्वभावपनेको छोड़कर मिथ्यात्व व राग द्वेषादि अज्ञान भावसे परिणमन करता हुआ होता है तब अपने आत्मतल्लीन भावसे छुटा हुआ अज्ञानपनेको प्राप्त हो जाता है तब उसके संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती है यह तात्पर्य है। **शब्दार्थ** सुगम है
भावार्थः—ज्ञानी जीव अपने ही दृढ़ भावोंमें जब नहीं ठहर सक्ता और शिथिल होकर राग द्वेषरूप परिणमन कर जाता है तब इसके न संवर है और न बंध रहित निर्जरा है। अतएव ज्ञानीको अपने स्वरूपमें निश्चलता रखनेका अभ्यास दृढ़ मन होकर करना योग्य है।
॥ २३६-२३७-२३८ ॥

आगे इस बातको दृष्टान्त और दार्ष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं कि सराग परिणामसे बंध और वीतराग परिणामसे मोक्ष होता हैः-

गाथाः—**पुरिसो जह कोवि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।**
तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥ २३९ ॥

संस्कृतार्थः—पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥ २३९ ॥

सामान्यार्थः—जैसे कोई पुरुष इस लोकमें आजीविकाके वास्ते राजाकी सेवा करता है तब ही राजा उसको नाना प्रकार सुख उत्पन्न करनेवाले भोग देता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(इह) इस लोकमें (जह) जैसे (कोविपुरुसो) कोई भी पुरुष (वित्तिणिमित्तंतु) अपनी आजीविका पानेके निमित्तसे (रायं सेवदे) किसी राजाकी सेवा चाकरी करता है (तो) इससे (सो वि राया) वही राजा (सुहुप्पादे विविहे भोगे) उस सेवकको सांसारिक सुखोंको पैदा-करनेवाले नाना प्रकारके भोगोंको (देदि) देता है। यह अज्ञानी जीवके कर्त्तव्यको दिखाते हुए अन्वय दृष्टान्त गाथा पूर्ण हुई ॥ २३९ ॥

अब दार्ष्टान्त कहते हैंः—

गाथाः—**एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।**
तो सोवि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे ॥ २४० ॥

संस्कृतार्थः—एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं।

तत्सापि कर्मराजा ददाति सुखोत्पादकान् भोगान् ॥ २४० ॥

सामान्यार्थः—इसी ही तरह यह जीव पुरुष कर्मरूपी रजको सुखके वास्ते सेवन करता है तब वही कर्मरूपी राजा सुखको उत्पन्न करनेवाले भोग देता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(एमेव) ऊपरके दृष्टान्तके सदृश ही (जीव पुरिसो) कोई अज्ञानी जीव पुरुष शुद्धात्माके अनुभवसे उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय सुखसे छूटा हुआ (कंमरयं) उदयमें आए हुए कर्मरूपी रजको (सुहणिमित्तं) पंचेन्द्रियोंके विषय जनित सुख के निमित्त (सेवदे) सेवता है अर्थात् विषयसुखकी अभिलाषासे पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंको भोगना है (तो) तव (सोवि) वही पूर्वमें बांधा हुआ (कंमराया) पुण्यकर्म्मरूपी राजा (सुहुप्पादगे भोगे देदे) विषयोंके सुखको पैदा करनेवाले भोगोंकी इच्छारूप तथा शुद्धात्मीक भावोंको नाश करनेवाले रागादि परिणामोंको देता है। भावार्थः—अज्ञानी जीवके निरंतर विषयोंके सुखकी इच्छा रहती है इसीलिये पूर्वका पुण्यकर्म जब उदय आता है जिससे धनादि सम्पदा होती है तब उसके रागादि भाव ही होते हैं कि मैं नाना प्रकारके भोगोंको भोगूं। इससे वह अज्ञानी शुद्ध भावोंका लाभ नहीं कर सकता। अंतरंग बंधको प्राप्त होता है। इसी गाथाका दूसरा अर्थ करते हैं—कि कोई भी जीव नवीन पुण्यकर्म बांधनेकी इच्छासे भोगोंकी इच्छामई निदान भावसे शुभकर्म्म दान पूजा जप तपादिका अनुष्ठान करता है इसलिये वह पाप भावके साथ २ रहनेवाला पुण्यरूपी राजा शुभकर्मोंको बांधकर भविष्यकालमें भोगोंको देता है परन्तु वे निदान बंधसे प्राप्त हुए भोग रावण आदिके समान नरकादिके दुःखोंकी परंपराको प्राप्त कराते हैं। अर्थात् जो कोई शुभकर्म्म आगामी विषयोंकी इच्छा रखता हुआ करता है तो वह पुण्यको तो बांध लेता है और उस कर्म्मके फलने पर भोग सामग्री भी पाता है। परंतु वह भोग सामग्री उसके मनको उलझाकर रागादि भावोंमें विशेष फंसा देती है जिससे वह पापोंको बांध नरकादि गतियोंका पात्र होजाता है जैसे रावण, लक्ष्मण—कृष्ण आदि महापुरुष नर्कको प्राप्त हुए हैं। इसतरह अज्ञानी जीवका अन्वय दृष्टांत पूर्ण हुआ ॥२४०॥

आगे ज्ञानी जीवका वर्णन करते हैं—

गाथाः—जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहसुहुप्पादगे भोगे ॥ २४१ ॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥ २४२ ॥

संस्कृतार्थः—यथा पुनः स एव नरो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं।

ततोऽपि न ददाति राजा विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् ॥ २४१ ॥

एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।

तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥ २४२ ॥

सामान्यार्थः—जैसे वही मनुष्य किसी खास आजीविकाके वास्ते राजाकी सेवा नहीं करता है तो वह राजा उसे नाना प्रकार सुखके उत्पन्न करनेवाले भोग नहीं देता है इसी ही तरह सम्यग्दष्टी जीव विषय सुखके लिये कर्म्मरूपी रजकी सेवा नहीं करता है इससे वह कर्म्मरूपी रज नाना प्रकार सुखके पैदा करनेवाले भोगोंको नहीं देता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(पुण) फिर (जह) जैसे (सोचेव णरो) वही पूर्वोक्त मनुष्य (वित्तिणिमित्तं) किसी आजीविकाके मतलबसे (रायं) राजाकी (ण सेवदे) सेवा नहीं करता है (तो) तब (सो राया) वह राजा (विविह सुहुप्पादगे भोगे) नाना प्रकार सुखके उत्पन्न करनेवाले भोग (ण देदि) नहीं देता है। यह ज्ञानी जीवके सम्बन्धमें व्यतिरेक दृष्टान्त पूर्ण हुआ। (एमेव) इस ही प्रकारसे (सम्मदिट्ठी) सम्यग्दष्टी भेद विज्ञानी जीव (विसयत्थं) विषय सुखोंके भोगनेके लिये (कंमरयं) पूर्वमें बांधे हुए द्रव्य कर्म्मोंको (णसेवदे) शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग सुखानंदसे गिर करके उन विषयोंको उपादेयपनेकी बुद्धिसे नहीं सेवता है (तो) इससे (सो कम्मं) वह पूर्वबद्ध कर्म्म भी उदयमें आता हुआ (विविहे सुहुप्पादगे भोगे) नाना प्रकार सुखके पैदा करने वाले भोगोंकी इच्छारूप तथा शुद्धात्मीक भावोंके घात करनेवाले रागद्वेषादि परिणामोंको (ण देदि) नहीं देता है। **भावार्थः**—जैसे बेगरज आदमी किसी राजाकी सभामें विना किसी आजीविकाके प्रयोजनके जाता है तब वह राजा भी उसे खास कोई द्रव्य उसकी रोजीके लिये नहीं देता है उसी तरह सम्यग्दष्टी जीव पांच इन्द्रियोंके भोगोंकी भीतरसे रुचि नहीं रखता हुआ किन्तु अंतरंगसे आत्मीक रसके स्वादकी ही तीव्र रुचि रखता हुआ जो पूर्व बद्ध शुभ व अशुभ कर्म उदयमें आकर रस देते हैं उनको उदासीन भावसे भोग लेता है इसी कारणसे उसके भोगोंकी इच्छारूप रागादि परिणाम नहीं होते हैं जिनसे शुद्धात्मीक भावोंका घात हो जावे अर्थात् उनकी वासना अंतरंगसे मिट जावे। दृष्टांतरूपी दूसरी गाथाका दूसरा व्याख्यान यह है कि कोई भी सम्यग्दष्टी जीव विकल्प रहित समाधिको न पाकर उस समाधिमें ठहरनेको असमर्थ होकर अपना चित्त विषय व कषायोंमें नहीं उलझ जावे इसलिये यद्यपि पांच अहिंसादि व्रत, दिग्व्रतादि सात शील व आहार, औषधि, अभय, व विद्यादान व अर्हत, गुरु व शास्त्रकी पूजा, व तीर्थयात्रा आदि शुभ कर्मोंको करता है तौभी इन पुण्य कर्मोंको भोगोंकी इच्छारूप निदान बंधके साथ नहीं आचरण करता है इससे वह पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म बांधता है। पापानुबंधी पुण्य कर्म नहीं बांधता है। जिस पुण्य कर्मके उदय होनेपर जीवकी प्रवृत्ति फिर पुण्य कर्म्ममें व अपने हितमें रहे उसे पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म्म व जिसके उदय होनेसे जीवकी प्रवृत्ति पाप कर्म्ममें

हो सके उसे पापानुबंधी पुण्य कर्म कहते हैं। सम्यग्दृष्टी पुण्यानुबंधी पुण्यकर्मको ही बांधता है जिसके फलसे आगेके भवमें वह पुण्यकर्म तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव आदिके अभ्युदयरूपसे उदयमें आता हुआ भी पूर्वभवमें भाए हुए भेदविज्ञानकी वासनाके बलसे शुद्धात्माकी भावनाके नाश करनेवाले व विषयोंके सुखोंको उत्पन्न करनेवाले भोगोंकी इच्छारूप निदान बंधमई रागादि परिणामोंको नहीं देता है—अर्थात् नहीं पैदा करता है जैसे भरतचक्रवर्त्ती, आदि महात्माओंके नहीं हुआ। **भावार्थः**—जो कोई व्यवहार तप, व्रत, संयम, पूजा, यात्रा, दानादि शुभ कर्मोंको किसी सांसारिक सुखके लोभसे न करके शुद्धात्मीक भावके अनुभवको तलाश करते हुए जब तक अनुभवमें लीनपना नहीं पाता तब तक विषय कषायोंमें मेरा मन न फंस जावे इस प्रयोजनसे करता है। उसको जो पुण्य बंध होता है उसके प्रतापसे वह तीर्थंकरादि महान् पदवीधारक होता हुआ व नाना प्रकार भोगोंकी सामग्रीको प्राप्त करता हुआ भी अपने भेदविज्ञानको नहीं छोड़ बैठता है। अतएव सम्यग्दृष्टी जीवको नित्य शुद्धात्माकी भावना ही करनी योग्य है। जब लाचारीसे अपना उपयोग निजानंदमय स्वरूपमें न ठहर सके तब शुभोपयोगरूप आचरणको करे परन्तु रुचि व खोज शुद्धात्मानुभवकी ही रक्खे। इसतरह सम्यग्ज्ञानी जीवका व्यतिरेक कथन दृष्टान्त दार्ष्टान्तसे पूर्ण हुआ॥ २४१-२४२॥

इसतरह मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानका अभेदरूप जो परमात्मपद है, जिसको परमार्थ शब्दसे कहते हैं, व जो साक्षात् मोक्षका कारणभूत है, शुद्धात्माके अनुभवरूपी लक्षणको रखनेवाला है तथा संवर पूर्वक निर्जराका उपादान कारण है व जिसका वर्णन पहले करचुके हैं सो परमात्मपद जिस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षणरूप भेदज्ञानसे प्राप्त होता है उसीका विशेष व्याख्यान करते हुए १४ सूत्र पूर्ण हुए। इसके आगे निःशंकादि आठ गुणोंको कहते हुए नौ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं।

इनमेंसे पहली गाथामें यह कहते हैं कि जो सम्यक्त्वी जीव अपने परमात्म पदार्थकी भावनासे उत्पन्न सुखामृत रसके आस्वादको लेते हुए तृप्त रहते हैं वे घोर उपसर्ग पड़ने पर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अगुप्ति, अनरक्षा व आकस्मिक ऐसे सात भयोंसे रहित होते हुए विकार रहित स्वानुभव स्वरूप अपने आत्मामें तल्लीन पनेके भावको नहीं छोड़ते हैं।

गाथाः—**सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।**
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका॥ २४३॥

संस्कृतार्थः—सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंकाः भवंति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः॥ २४३॥

सामान्यार्थः—सम्यग्दृष्टी जीव शंका रहित रहते हैं इसीसे निर्भय होते हैं। क्योंकि वे सात भय नहीं रखते इसीसे निःशंक रहते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(सम्मादिट्ठी-

जीवा) सम्यग्दृष्टीजीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप निर्दोप परमात्माकी आराधनाको करते हुए (णिस्संका होंति) निःशंक होते हैं (तेण णिब्भया) इसीसे वे भय रहित होते हैं। (जम्हा) क्योंकि वे (सत्तभय विप्पमुक्का) इस लोक, पर लोक, अनरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक इन सातों भयोंसे रहित होते हैं (तम्हा दु) तिस कारणसे (णिस्संका) निःशंक रहते हैं। अर्थात् घोर परीषह व उपसर्ग आजाने पर भी अपने शुद्ध आत्मीक स्वरूपमें निश्चल रहते हुए व शुद्धआत्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीत-राग परमानंद सुख उसमें तृप्त रहते हुए अपने परमात्मरूपसे नहीं गिरते हैं। जैसे पांडवोंको जब गर्म लोहेके गहने पहनाए गए तौ भी वे अपने ध्यानसे न डिगे इससे वे युधिष्टिर, भीम और अर्जुन उसी ध्यानसे केवली हो मुक्त पधारे। इसी तरह अनेक महात्माओंने शरीरपर क्लेशोंका बादल आने पर भी अपने स्वरूपको नहीं त्यागा। भावार्थः—जिन वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवोंके श्रद्धान ज्ञान व मननमें अपने आत्माका शुद्ध बुद्ध अविनाशीपना रहता है वे बाह्य शरीरपर अनेक देव, मनुप्य, पशु, व अचेतन कृत उपसर्ग पड़ें व क्षुधादि २२ परीपह हों तौ भी शरीरको विनश्वर जान उसके बिगाड़से अपना बिगाड़ नहीं मानते आप आत्मानंदमें लवलीन रहते हैं और स्वात्मीक रसका पान करते हैं ॥ २४३ ॥

आगे कहते हैं कि वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवके निःशंक आदि आठ गुण नवीन बंधको दूर करते हैं इससे बंध होता नहीं किंतु पूर्वबद्धकर्मोंकी संवर पूर्वक निर्जराही होती है।

गाथाः—**जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे।**
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४४ ॥

संस्कृतार्थ—यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्ममोहबाधाकरान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मंतव्यः ॥ २४४ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई कर्मबंध करनेवाले व मोह व बाधाको पैदाकरनेवाले मिथ्या-त्वादि चारों बंधके पायोंको नाश करता है वह सम्यग्दृष्टी आत्मा शंका रहित है ऐसा जानना चाहिये। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जो) जो कोई ज्ञानी (कम्ममोह बाधकरे) कर्मोंसे रहित आत्मीक तत्त्वसे विलक्षण जो ज्ञानावरणीय आदि कर्म हैं उनको बांधनेवाले, व मोह रहित आत्मद्रव्यसे जुदा जो मोह है उसको पैदाकरनेवाले, व बाधारहित सुख आदि गुणोंका धारी जो परमात्मा पदार्थ है उससे भिन्न होनेके कारणसे बाधा पहुँचानेवाले ऐसे (ते) उन आगममें प्रसिद्ध (चत्तारिविपाए) चारों ही मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप संसारके मूलभूत बंधके कारणोंको (छिंददि) अपने शुद्ध आत्माकी भावनामें शंका रहित निश्चल होकर स्वसंवेदन ज्ञानरूपी खड्गसे नाश करता है। (सो चेदा) वह आत्मा (णिस्संको सम्मादिट्ठी) शंका रहित सम्यग्दृष्टी है ऐसा (मुणेयव्वो) मानना योग्य है। उसके अपने शुद्ध आत्म स्वरूपकी भावनामें किसी प्रकार की शंका

नहीं है इसलिये शंका रहनेसे जो कर्मोंका बंध हो सकता था सो नहीं होता है किन्तु पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी निश्चयसे निर्जरा ही होती है। भावार्थ—जो कोई ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मीक स्वरूपका दृढ़तासे निश्चलतासे श्रद्धान रखता है और उसमें तन्मय रहता है उसके रागद्वेषादिका अभाव होनेके कारणसे बंध नहीं होता किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है इस कारण संसारका विच्छेद करनेके लिये ज्ञानी जीवको अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना योग्य है ॥ २४४ ॥

आगे निकांक्षित भावको कहते हैं—

गाथाः—**जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तहय सव्वधम्मेसु।**
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४५ ॥

संस्कृतार्थः—यो न करोति तु कांक्षां कर्मफलेषु तथा च सर्वधर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४५ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई सम्यग्दृष्टी कर्मोंके फलोंमें व सर्व व्यवहार धर्मोंमें इच्छा नहीं करता है वही सम्यग्दृष्टी आत्मा इच्छा रहित है ऐसा जानना योग्य है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जो) जो कोई ज्ञानी (कम्मफले) शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न होनेवाले परमानंद सुखमें तृप्त होकर पंचेन्द्रियके विषय सुखरूप कर्मोंके फलोंमें (तहय) तैसे ही (सव्वधम्मेसु) सर्व वस्तुओंके स्वभावोंमें अथवा विषय सुखके कारणभूत नाना प्रकार पुण्यरूप धर्मोंमें अथवा इसलोक व परलोक सम्बधी इच्छाओंके कारणरूप समस्त पर आगममें कहे हुए कुधर्मोंमें (कंखं) इच्छा (णकरेदि) नहीं करता है (सो चेदा) वह आत्मा (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टी (णिक्कंखो) इच्छा व कांक्षा रहित है ऐसा (मुणेयव्वो) जानना योग्य है। इस ज्ञानी जीवके विषयोंके सुखोंकी इच्छा नहीं होती इसलिये इच्छा करनेसे जो कर्मोंका बंध होता सो नहीं होता है किन्तु पूर्वमें संचय किये हुए कर्मोंकी निर्जराही होती है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीव परमानन्दमें तृप्त होकर न संसारके सुखोंमें न उनके कारण पुण्यकर्मोंमें और न पुण्यकर्मके लोभके दिखानेवाले धर्मोंमें चाह करता है परम साम्य भावमें तन्मय रहकर अपने पूर्वकर्मोंको नाश करता है ॥ २४५ ॥

आगे निर्विचिकित्सितभावका वर्णन करते हैं—

गाथाः—**जो ण करेदि दु गुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।**
सो खलु णिव्विदिगिंछो समादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४६ ॥

संस्कृतार्थ—यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४६ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई ज्ञानी सर्व ही वस्तुके स्वभावोंमें घृणा नहीं करता है वह निश्चयसे जुगुप्सासे रहित सम्यग्दृष्टी है ऐसा मानना चाहिये। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—

(जो चेदा) जो कोई चेतनेवाला ज्ञानी जीव अपने परम आत्मीक तत्वकी भावनाके वलसे (सव्वेसिमेवधम्माणं) सर्व ही वस्तुके स्वभावोंमें या दुर्गंध आदिके विषयोंमें (दुगुंछं ण करेदि) जुगुप्सा, निंदा, द्वेष, व घृणा नहीं करता है (सो) वह (खलु) प्रकट रूपसे (णिव्विदिगिंछो) जुगप्सा नामादोषसे रहित (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दष्टी (मुणेदव्वो) जानना योग्य है— इस ज्ञानीके परद्रव्योंमें द्वेष नहीं है इससे द्वेष करनेके निमित्तसे जो कर्मबंध होता सो नहीं होता है किन्तु भेदविज्ञानके वलसे पूर्वमें एकत्र किये हुए कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। भावार्थः—जो ज्ञानी अपने आत्माका यथार्थ निश्चय रखता हुआ रहता है उसको किसी पदार्थसे घृणा नहीं होती, वह वस्तुके स्वरूपको विचार मध्यस्थ रहता है। इसलिये वह निर्विचिकित्सित अंगका धारी है ॥ २४६ ॥

आगे निर्मूढ़ता अंगको कहते हैं—

गाथाः—**जो हवदि असम्मूढ़ो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु।**
सो खलु अमूढ़दिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४७ ॥

संस्कृतार्थः—यो भवति, असंमूढ़श्चेतयिता सर्वेषु कर्मभावेषु।
स खलु अमूढ़दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४७ ॥

सामान्यार्थ—जो कोइ ज्ञानी सर्व कर्मोंके उदयरूप भावोंमें मूढ़ता रहित होता है वह प्रकटपने अमूढ़ दृष्टि अंगकाधारी सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना योग्य है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**-(जो चेदा) जो ज्ञानी आत्मा (सव्वेसु कम्मभावेसु) सर्व ही शुभ व अशुभ कर्मोंसे उदय होनेवाले परिणामोंमें व वाह्य पदार्थोंमें (असंमूढ़ो) अपने ही शुद्ध आत्मामें दृढ़ श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाली भावनाके वलसे सर्व मूढ़ता रहित (हवदि) होता है अर्थात् कर्मोंके उदयसे जो दुःखरूप व वाह्य सातारूप पदार्थोंकी अवस्थाएँ होती हैं उनमें शोकित व हर्षित न होकर उनका यथार्थ स्वरूप जानता हुआ उनके मोहमें पड़के आप मूर्ख नहीं बन जाता है (सो) वह (खलु) प्रकटपने (अमूढ़ दिट्ठी सम्मादिट्ठी) अमूढ़ दृष्टि अंगका धारी सम्यग्दष्टी है ऐसा (मुणेदव्वो) मानना योग्य है। इस ज्ञानी जीवके भीतर वाह्य पदार्थोंमें मूढ़ताका भाव नहीं होता है इससे मूढ़ताके होनेसे जो कर्म बंध हो सकता था वह नहीं होता है अथवा स्वसमय अर्थात् अपना शुद्धात्मा व उसका वर्णन करनेवाला यथार्थ आगमको छोड़कर पर समय अर्थात् शुद्ध स्वरूपसे वाह्य रागी द्वेषी आत्मा व धर्मादिक ज्ञेय पदार्थ व संसारका मूलसे जो छेदक नहीं है ऐसा एकान्त आगमका श्रद्धान, ज्ञान करनेसे जो कर्म बंध होता वह नहीं होता है किन्तु पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी निश्चयसे निर्जरा ही होती है। **भावार्थः**—सम्यग्दृष्टी वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुभव करता हुआ वस्तुकी अवस्थाओंको देख व मनको वहका कर मूढ़ नहीं बनता। किन्तु ज्ञानी रहकर पूर्व बद्धकर्मोंकी निर्जरा ही करता है ॥ २४७ ॥

आगे उपगूहन अंगका वर्णन करते हैं।

गाथाः—जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४८ ॥

संस्कृतार्थः—यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणां।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४८ ॥

सामान्यार्थः—जो सिद्ध भक्तिमें लवलीन पुरुष सर्व विभाव धर्मोंका ढकनेवाला है वह उपगृहन अंगका धारी सम्यग्दृष्टी है ऐसा मानना योग्य है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो) जो कोई ज्ञानी (सिद्ध भत्ति जुत्तो) शुद्ध आत्माकी भावनामई परमार्थ स्वरूप निश्चय सिद्ध भगवानकी भक्तिमें तल्लीन है और (सव्वधम्माणं उवगूहणगो दु) मिथ्यादर्शन रागद्वेप आदि सर्व विभाव भावोंका उपगृहनकरनेवाला है, आच्छादन करनेवाला है अथवा नाश करनेवाला है (सो) सो (उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी) उवगूहन अंगका धारी सम्यग्दृष्टि है ऐसा (मुणेदव्वो) जानना योग्य है। उस ज्ञानी जीवके वह कर्मबंध जो उपगूहन अंगके न पालनेवालेके होता नहीं होता है किंतु पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी निश्चयसे निर्जरा ही होती है भावार्थः—दोषोंको आच्छादन करनेका नाम उपगूहन अंग है यहां अपने ही आत्मापर घटाके कहते हैं कि जो कोई ज्ञानी अपनेमें विभाव भाव नहीं होने देता अथवा उनका नाश करके अपने सिद्ध स्वरूपमें तल्लीन रहता है वही वास्तवमें उपगूहन अंगका पालक सम्यग्दृष्टी है ऐसा जानो॥ २४८॥

आगे स्थितीकरण अंगको कहते हैं:—

गाथाः—उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं।
सोठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४९ ॥

संस्कृतार्थः—उन्मार्गं गच्छंतं शिवमार्गे यः स्थापयत्यात्मानं।
स स्थितिकरणेन युक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४९ ॥

सामान्यार्थः—जो कुमार्गमें जाते हुए आत्माको रोककर मोक्ष मार्गमें स्थापित करता है सो स्थितिकरण अंगका धारी सम्यग्दृष्टि है ऐसा मानना योग्य है।—शब्दार्थ सहित-विशेषार्थः-(जो) कोई ज्ञानी (उम्मग्गं गच्छंतं) मोक्ष मार्गसे विपरीत संसारके कुमार्गमें जाते हुए (अप्पाणं) अपने आत्माको (सिवमग्गे) शिव मार्गमें अर्थात् अपने शुद्ध आत्माकी भावना स्वरूप निश्चय मोक्ष मार्गमें (ठवेदि) परम योगाभ्यासके बलसे निश्चल स्थापित करता है (सो) वह ज्ञानी (ठिदिकरणेणजुदो) स्थितिकरण अंग सहित (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टी है ऐसा (मुणेदव्वो) जानना योग्य है। उस जीवके स्थितिकरण न करनेसे जो कर्मोंकाबंध होता सो नहीं होता है किंतु पूर्व बांधे हुए कर्मोंकी निश्चयसे निर्जरा ही होती है भावार्थ—जो कोई ज्ञानी आत्मा योगाभ्यासके बलसे अपने आत्माके उपयोगको संसारके रागद्वेषरूप मार्गसे रोक

कर शुद्धात्माकी भावना स्वरूप मोक्ष मार्गमें स्थापित करता है वह स्थितिकरण अंगका पालनेवाला सम्यग्दृष्टी है ऐसा जानना योग्य है ॥ २४९ ॥

आगे वात्सल्य भावका वर्णन करते हैं—

गाथाः—जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २५० ॥

संस्कृतार्थः—यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
सः वात्सल्यभावयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २५० ॥

सामान्यार्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप तीन मोक्ष मार्गके साधक भावोंकी भक्ति करता है सो वात्सल्य भावका धारी सम्यग्दृष्टी है ऐसा मानना चाहिये।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो) जो कोई ज्ञानी मोक्ष मार्गमें ठहरकर (मोक्ख मग्गम्मि) मोक्ष मार्गके (साधूण) साधन करनेवाले (तिण्हे) इन तीन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अपने ही भावोंकी (वच्छलत्तं कुणदि) भक्ति करता है अथवा व्यवहार नयसे इन रत्नत्रयोंके धरनेवाले साधुओंकी भक्ति करता है (सो) वह (वच्छलभाव जुदो सम्मादिट्ठी) वात्सल्य भावका धारी सम्यग्दृष्टी है ऐसा (मुणेदव्वो) मानना चाहिये। उस ज्ञानी जीवके वह कर्मबंध नहीं होता जो वात्सल्यभाव न धरनेवालेके होता है किंतु इस वात्सल्य भावके धारी सम्यग्दृष्टी जीवके पूर्वमें संचय किये हुए कर्मोंकी निर्जरा ही होती है।। भावार्थः—निश्चय नयसे प्रीति और भक्ति करने योग्य अपने ही अभेद रत्नत्रय हैं अर्थात् परम भक्तिके साथ अपने ही शुद्धात्माकी प्रतीति, ज्ञान व अनुभव साक्षात् मोक्ष मार्ग है। यही निर्विकल्प समाधिको उत्पन्न करता है जो कर्मोंके विध्वंस करनेके लिये अति तीव्र अग्नि है, यही निश्चय वात्सल्य है। व्यवहार नयसे व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा उनके पालनेवाले साधु महात्मा अंतरात्मा ही भक्ति करने व वात्सल्य करनेके योग्य हैं। जो निश्चय वात्सल्यमें स्थिर होता है उसके पूर्व-बद्ध कर्मोंकी अवश्य निर्जरा होती है ॥ २५० ॥

आगे प्रभावना अंगका स्वरूप कहते हैं:—

गाथाः—विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २५१ ॥

संस्कृतार्थः—विद्यारथमारूढः मनोरथरयान् हंति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २५१ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई ज्ञानी विद्यारूपी रथमें चढ़ करके मनरूपी रथके वेगोंको नाश करता है सो जिनेन्द्रके ज्ञानका प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टी है ऐसा जानना

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो चेदा) जो कोई ज्ञानी (विज्जारहमारूढो) अपने

शुद्ध आत्मीक तत्वकी प्राप्तिरूप विद्यामई रथपर चढ़कर (मनोरहरयेसु) मनरूपी रथके वेगोंको अर्थात् जगत्‌में प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व भोगोंकी इच्छाको आदि लेकर निदानबंध आदि विभाव परिणामरूप तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव रूप पांच प्रकार सांसारिक दुःखोंके कारण चित्तकी कल्लोलरूप आत्माके शत्रुओंको (हणदि) आतमामें स्थिति भावरूप सारथीके बलसे अति दृढ़ ध्यानरूपी खड्गके द्वारा मारता है। (सो) सो (जिणणाण पहावी सम्मादिट्ठी) जिन ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि है ऐसा (मुणेदव्वो) मानना चाहिये। उस जीवके वह कर्मका बंध नहीं होगा जो अप्रभावना करनेवालेके होता है किन्तु पूर्वमें संचय किये हुए कर्मोंकी निश्चयसे निर्जरा ही होगी। भावार्थ—जैसे कोई योद्धा रथमें चढ़ा हुआ प्रवीण सारथीके बलसे अपनी खड्गको चलाकर शत्रुओंके रथको हटाता है और संहार करता है ऐसे ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टी वीर आत्मा शुद्धोपयोगरूपी रथमें चढ़कर मनरूपी रथपर चढ़े हुए अनेक विभाव परिणाम रूपी शत्रुओंको आत्मानुभवरूप सारथीके द्वारा ध्यानरूपी खड्ग चलाकर मारता है अर्थात् जो अपने रागद्वेष अज्ञान भावोंको हटाकर वीतरागमय शुद्धआत्मीक भावोंमें परिणमन करता है वही सच्ची प्रभावना करनेवाला प्रभावना अंगका धारक सम्यग्दृष्टी है ऐसा जानना। ऐसे ज्ञानीके अवश्य पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है।

इसतरह संवर पूर्वक भाव निर्जराके उपादान कारण, शुद्धात्माकी भावनारूप शुद्ध नयके आधीन निःशंकित आदि आठ गुणोंका व्याख्यान करते हुए नव गाथाएं पूर्ण हुईं।

यह निःशंकितादि आठ गुणोंका व्याख्यान निश्चय नयकी मुख्यतासे किया गया। निश्चय रत्नत्रयका साधन करनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रय है उसमें भी ठहरे हुए सराग सम्यग्दृष्टीके भी अंजन चोर आदिकी कथारूपसे व्यवहार नयसे इनका व्याख्यान यथासंभव जान लेना।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि निश्चय नयका व्याख्यान करके फिर भी व्यवहार नयका व्याख्यान किस लिये किया गया? इसका उत्तर आचार्य करते हैं कि व्यवहार नय भी कार्यकारी है। व्यवहार नय साधक है। निश्चय नय साध्य है। जैसे सुवर्णपाषाणके शुद्ध करनेके लिये अग्नि साधक है। निश्चय और व्यवहारनयमें परस्पर साध्य और साधक भाव है इस बातको दिखलानेके लिये व्यवहार नयका व्याख्यान किया गया है जैसे कि किसी ग्रंथमें कहा गया है—

गाथा—जइ जिणमइ पउंजह ता मा ववहार णिच्छए मुवह।
एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

भावार्थ—यदि जिन मतको पालना है तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको मत छोड़ो। व्यवहारके विना धर्म तीर्थ नाश होगा तथा निश्चयके विना तत्वका लाभ न होगा। प्रयोजन यह है कि व्यवहार नयके द्वारा प्रवर्तन करनेहीसे निश्चयस्वरूपका लाभ होवेगा क्योंकि जो साधन

करनेवाला है वह व्यवहारमें ही उलझा हुआ है, तथा जो व्यवहारमात्रको तो करे पर निश्चय नयको न जाने उसे आत्मीक तत्वका अनुभव नहीं होगा। इसलिये जबतक अपने शुद्धात्म स्वरूपका अवलम्बन न प्राप्त हो तबतक व्यवहारनयका ग्रहण व व्यवहार धर्म सेवन कार्यकारी है। यहां पर जो संवर पूर्वक निर्जरा वर्णन की गई है सो सम्यग्दृष्टी जीवके उस समय होती है। जब उसके शुद्धात्माके सम्यक् श्रद्धान और ज्ञानके साथ शुभ और अशुभ समस्त आत्माके बाहर द्रव्योंका आलंबन छोड़ने पर वीतराग धर्मध्यान व शुक्लध्यान रूप निर्विकल्प समाधि भाव पैदा होता है। यह समाधि भाव वास्तवमें बहुत ही दुर्लभ है क्योंकि इस संसारी जीवके निगोदसे निकलकर एकेन्द्रिय स्थावर होना, फिर विकलेन्द्रिय त्रस होना, विकलेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय होना, पंचेन्द्रियोंमें भी सेनी होना, सेनीमें भी पर्याप्त होना, पर्याप्त होकर भी उत्तम देश, कुल, रूप, इन्द्रियोंकी निपुणता, बाधा रहित बड़ी आयु व श्रेष्ठ बुद्धिपाना, बुद्धिपाकर भी सच्चे धर्मका सुनना, समझना, धारण करना कठिन है। धारण हो करके भी श्रद्धान होना, श्रद्धान होकर भी संयमका लाभ होना, संयम पालते हुए विषयोंके सुखोंसे विराग होना तथा क्रोधादि कषायोंसे बचना, व तपकी भावना और अंतमें समाधिमरणका होना यह उत्तरोत्तर बातें एक दूसरेसे दुर्लभ हैं क्योंकि इनके विरोधी मिथ्यात्व, पंचेन्द्रियोंके विषय, कषाय, अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ, भोगोंकी इच्छा रूप निदानबंध आदि विभाव परिणामोंकी इस संसारीके अतिप्रबलता है। इसलिये समाधि भावको व रत्नत्रयकी एकतारूप आत्मीक भावको एक दूसरेकी अपेक्षा सर्वसे कठिन जानकर समाधि लाभका अवसर हो तो उसमें प्रमाद नहीं करना योग्य है। जैसा कि अन्यत्र कहा है—

श्लोक—इत्यपि दुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
संसृति भीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं॥

भावार्थः—जब इतनी कठिनतासे रत्नत्रयका लाभ होता है तब ऐसे लाभको पाकर भी जो प्रमादी हो जायगा विषयादिके वशमें पड़ रत्नत्रयरूपी आत्मीक धर्मका लाभ नहीं करेगा वह विचारा भोला आदमी इस भयानक संसाररूपी वनमें बहुत काल भ्रमण करेगा—भावार्थ—इस अनादि कालीन संसारमें उत्तम देश कुलका धारी, सुविचारी, निरोगी, दीर्घायु, बुद्धिवान होना अतिशय कठिन है। बड़े भारी पुण्यके योगसे ऐसी अवस्था इस जीवके प्राप्त होती है। तिसपर भी जो अपनेको विषय कषायोंमें लगा देते हैं वे इस अमूल्य अवसरको वृथा गंमा बैठते हैं। इसलिये श्रीगुरुका यह उपदेश है कि उसको अपने आत्माकी शुद्धिके यत्नमें उपयुक्त होना योग्य है। मोक्ष मार्गका स्वरूप श्री जिनवाणीके अभ्याससे भले प्रकार जानकर निश्चय रत्नत्रयकी भावना करते हुए व्यवहार रत्नत्रयमें प्रवर्त्तन करना योग्य है। जब निश्चय रत्नत्रयकी पूर्णताकी निकटता आती है तब व्यवहारका आलंबन स्वयं छूटता है और यह

जीव शुद्ध पारणामिक भावका धारी परमात्मा हो जाता है। इसी रत्नत्रयके ही प्रतापसे निर्विकल्प समाधिका लाभ होता है, जिसके प्रतापसे यह आत्मा भव समुद्रके पार पहुंच जाता है। इसलिये बुद्धिमान जीवको अपने आत्माके स्वरूपके अनुभवमें किसी भी तरह प्रमादरूप होना योग्य नहीं है। अवसर चूकने पर फिर पछताना पड़ेगा ॥ २३१ ॥

इसतरह समयसारकी शुद्धात्मानुभव लक्षणको रखनेवाली तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्यामें ४ गाथाएं पीठिकारूपसे व ६ गाथाएं ज्ञान वैराग्य शक्तिका सामान्य विवरणरूपसे, व १० गाथाएं उनहींका विशेष विवरण करते हुए व ८ गाथाएं ज्ञानगुणका सामान्य विवरण रूपसे व १४ गाथाएं उस ही ज्ञान गुणका विशेष विवरणरूपसे व नव गाथाएं निःशंक आदि आठ गुणोंको कथन करते हुए इसतरह समुदायसे ५० गाथाओंके द्वारा छः अंतर अधिकारोंसे सातवां निर्जरा नामाअधिकार समाप्त हुआ। अब श्रृंगारको छोड़ हुए नाटकके पात्रकी तरह शांत रस रूपसे निर्जरा तत्व रंगभूमिसे चला गया।

आठवां महा अधिकार (८)

बंधतत्व।

अब बंध प्रवेश करता है।

यहां 'जह णामकोवि पुरिसो' इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे ५६ गाथाओंमें बंधाधिकारका व्याख्यान करते हैं इन ५६ गाथाओंमें पहले ही बंधके स्वरूपकी सूचना की मुख्यतासे गाथाएं १० हैं फिर निश्चय नयसे हिंसा, अहिंसा व्रत व अव्रतका लक्षण कहते हुए "जो मण्णदि हिंसामिय" इत्यादि गाथाएं सात हैं, फिर बाह्यमें द्रव्यहिंसा हो वा मत हो निश्चय नयसे हिंसा अध्यवसाय ही अर्थात् हिंसा करने रूप भाव ही हिंसा है इस बातको प्रतिपादन करते हुए 'जो मरदि' इत्यादि गाथाएं छः हैं। इसके अनंतर निश्चय रत्नत्रय लक्षण स्वरूप जो भेदज्ञान है उससे विलक्षण जो व्रत और अव्रत हैं उनके व्याख्यानकी मुख्यतासे 'एवमलिए' इत्यादि गाथा सूत्र दो हैं। फिर उस ही भाव पुण्य व भाव पापरूप व्रत अव्रत—जो शुभ व अशुभ बंधके कारण हैं उनके परिणामोंके व्याख्यानकी मुख्यतासे 'वत्थुं पडुच्च' इत्यादि गाथाएं १३ हैं। इस तरह समुदायसे व्रत अव्रतकी १५ गाथाएं हैं। फिर निश्चयमें जो स्थिर होता है उसके व्यवहारका निषेध है ऐसा कथन करते हुए 'ववहारणओ' इत्यादि सूत्र ६ हैं। इसके बाद रागद्वेषरहित जो ज्ञानी जीव हैं उनको प्राशुक अन्न पानादि आहार बंधका कारण नहीं होता है। इस तरह पिंड शुद्धिका व्याख्यान करते हुए-'आधाकम्मादीया' इत्यादि सूत्र ४ हैं। उसके बाद क्रोधादि कषाय कर्मबंधके निमित्त हैं। तथा इन कषाय भावोंके चेतन और अचेतन बाह्य द्रव्य निमित्त होते हैं ऐसा प्रतिपादन

करते हुए " जहफलिह मणिविसुद्धो "इत्यादि सूत्र पांच हैं। उसके वाद प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानका अभाव बंधका कारण है किन्तु शुद्धात्मा बंधका कारण नहीं है ऐसे व्याख्यानकी मुख्यतासे **अप्पडिकमणं** इत्यादि गाथाएं ३ हैं। इस तरह समुदायमें ५६ गाथाओंके द्वारा ८ अंतर अधिकारोंसे बंध नामके अधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई

आगे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीवके कर्मबंधका कारणभूत श्रृंगारको किये हुए मनुष्यकी तरह मिथ्याज्ञान नाटकके रूपसे प्रवेश करता है उसको शांतरसमें परिणमन करता हुआ वीतरागसम्यग्दर्शनसे अविनाभावी जो भेद विज्ञान है सो निषेध करता है।

गाथाः—**जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तोदु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूणय करेदि सत्थेहि वायामं ॥ २५२ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २५३ ॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जदु किं पच्चयगोदु तस्स रयबंधो ॥२५४॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २५५ ॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्टासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥ २५६ ॥**

संस्कृतार्थः—यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले।
स्थाने स्थित्वा करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥ २५२ ॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥ २५३ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययकस्तु तस्य रजोबंधः ॥२५४॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २५५ ॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्त्तमानो बहुविधासु चेष्टासु।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २५६ ॥

सामान्यार्थः—जैसे कोई पुरुष तैल लगाकर बहुत- मिट्टीके स्थान अर्थात् अखाड़ेमें जाकर अनेक शस्त्रोंसे व्यायाम अर्थात् कसरत करता है, तथा ताल, तमाल, केला, वांस, अशोक आदिके वृक्षोंको छेदता, भेदता है तथा उन वृक्षोंके सचित्त व अचित्त द्रव्योंका घात करता है इस तरह नाना प्रकारके शस्त्रोंसे उपघात करते हुए उस पुरुषके रज व मिट्टीके बंध होजानेका क्या कारण है? सो विचार करो। जो उस नरमें तैलपना है उसीसे ही उसके रजका

सम्बन्ध है निश्चयसे ऐसा जानना। अन्य शरीरकी क्रियाओंसे बंध नहीं है, इसी तरह मिथ्या-दृष्टी नानाप्रकारकी चेष्टाओंमें वर्त्तन करता हुआ अपने रागादि भावोंको करता है इसीसे ही कर्म रूपी रजसे लिप्त होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(जह) जैसे (नामको वि पुरिसो) कोई भी पुरुष (णेहभत्तोदु) तेल अपने शरीरमें लगाए हुए (रेणुबहुलंमि) बहुत रजसे भरे हुए (ठाणंमि) स्थानमें अर्थात् कसरतशालामें (ठाइदूणय) ठहर करके (सच्छेहिं) मुद्गर आदि शस्त्रोंसे (वायामं करेदि) व्यायाम-कसरत करता है (तहा) तथा (तालीतलकदलिवंस पिंडीओ) ताल, तमाल, केला, वांस, अशोकादि वृक्षोंको (छिन्ददि भिंददिय) छेदता और भेदता है (सचित्ता चित्ताणं दव्वाणं) और उन वृक्षोंके सम्बन्धी सचित्त और अचित्त द्रव्योंका अर्थात् हरी शाख पत्र पुष्पादि व सूखे पत्ते फलादिका (उवघादं करेइ) उपघात करता है। (णाणा विहेहिं करणेहिं) नानाप्रकारके **वैशाख स्थान** आदि विशेष शस्त्रोंसे (उवघादं कुव्वंतस्स तस्स) उपघात करते हुए उस मनुष्यके (तस्स रयबंधो) धूल मिट्टी आदिका बंधन (नोट-यहां एक तस्स अधिक विदित होता है।) (किं पच्चयगोदु) किस कारणसे होता है ऐसा (णिच्छयदे) निश्चय नयसे (चिंतिज्जदु) विचार करो। इस पूर्व पक्षका उत्तर करते हैं कि (तम्हि) उस (णरे) तैल मले हुए मनुष्यमें (जो सोदु णेह भावो) जो कोई तेलका भाव है अर्थात् तेल सम्बन्धी चिकनई है (तेण) उसीसे (तस्स) उस नरके (रयबंधो) रजका बंध हुआ है (णिच्छयदो) निश्चय नयसे (विण्णेयं) ऐसा जानना योग्य है। (ण सेसाहिं कायचेट्ठाहिं) और अन्य बाकी शरीर आदिकी चेष्टाओंसे उसके रजकाबंध नहीं हुआ है। यहां तक दृष्टांत कहा, अब दार्ष्टांत कहते हैं कि (एवं) पूर्वमें कहे प्रमाण (मिच्छादिट्ठी) मिच्छादृष्टी जीव (बहु विहासु चेट्ठासु) नाना प्रकारके काय आदिके व्यापाररूप चेष्टाओंमें (वट्टंतो) प्रवर्त्तन करता है तब वह बहिरात्मा (रागादी उवओगे कुव्वंतो) शुद्ध आत्मीक तत्त्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयभावको न पाकर मिथ्यात्त्व, रागद्वेषमई परिणामोंको करता हुआ (रएण) कर्मरूपी धूलसे (लिप्पदि) लिप्त हो जाता है अर्थात् कर्मोंको बांध लेता है। इन पांच सूत्रोंके कथनका तात्पर्य यह है कि जैसे तेल मले हुए पुरुषके मिट्टी धूलेका बंध होता है ऐसे ही मिथ्यादर्शन व राग द्वेष आदि परिणामोंमें परिणमन करनेवाले जीवोंके द्रव्य कर्मोंका बंध होता है। यह बंधका वास्तव कारण कहा गया। भावार्थ-जो कोई अखाड़ेमें शरीरमें तैल लगाकर कसरत करेगा उसके शरीरमें अवश्य धूल चिपट जायगा। इसी तरह जो कोई अज्ञानी बहिरात्मा संसार, शरीर, भोगोंमें तीव्र रागी होकर, सांसारिक सुखको ही सुख मान करके, नाना प्रकारके पदार्थोंके लिये शरीर आदिके नाना प्रकारके व्यापार करेगा वह अपने रागद्वेष मोहके कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे अवश्य बंधेगा। इससे सिद्ध किया गया कि बंधका कारण निश्चयसे राग, द्वेष, मोह ही है इससे ये त्यागने योग्य हैं॥ २६२-२६३-२६४-२६५-२६६॥

अब पांच गाथाओंसे वीतराग सम्यग्दृष्टीके बंधका अभाव है ऐसा दिखलाते हैं—

गाथा—जह पुण सोचेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणियें संते।
रेणुवहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २५७ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २५८ ॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जदु किंपच्चयगो ण तस्स रयवंधो ॥२५९॥
जो सोदु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयवंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्टाहिं सेसाहिं ॥ २६० ॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो वहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी णेव वज्झदि रयेण ॥ २६१ ॥

संस्कृतार्थः—यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥ २५७ ॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडैः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥ २५८ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतो विज्ञेयं किंप्रत्ययको न रजोबंधः ॥ २५९ ॥
यः स, स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २६० ॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन्नैव बध्यते रजसा ॥ २६१ ॥

सामान्यार्थ विशेषार्थ सहित:—जैसे वही पुरुष अपने शरीरसे सर्व तेलको छुड़ाकर बहुत धूलसे भरे हुए स्थानमें अर्थात् अखाड़ेमें जाकर शस्त्रोंसे व्यायाम, अभ्यास, या परिश्रम करता है और ताल, तमाल, वंस, पिंडि आदि नामके वृक्षोंको छेदता भेदता है। तथा उन वृक्षोंके सचित्त पत्रादि व अचित्त शुष्क पत्र, शाखादिकोंका घात करता है। नाना प्रकार वैशाख स्थानादि शस्त्रोंसे उपघात करते हुए उस मनुष्यके धूलका चिपकना क्यों नहीं होता इसके कारणको निश्चय नयसे विचार करो। इस प्रश्नका उत्तर करते हैं कि निश्चयसे यही जानना चाहिये कि उस तैल मले हुए पुरुषके जो तैलका सम्बन्ध था उसीसे ही उसके धूलका चिपकना था। इसके सिवाय अन्य शरीरकी चेष्टाओंसे नहीं अब इस मनुष्यके क्योंकि तैलका सम्बन्ध नहीं है इससे इसके धूल व रजका बंध नहीं होता है। अब दार्ष्टान्त कहते हैं—कि इसीतरह सम्यग्दृष्टी जीव नाना प्रकार मन, वचन, कायके योगरूप व्यापारोंमें वर्त्तन करता

हुआ निर्मल आत्मीक तत्त्वका यथार्थश्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्रके होनेके कारणसे रागद्वेषादि परिणामों नहीं करता हुआ कर्मरूपी धूलसे नहीं बंधता है। इस तरह जैसे तेलके लेपके अभावमें उस पुरुषके रज नहीं चिपटती इसी तरह राग द्वेष रूपी तेलसे रहित वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवके रागादि भावोंके अभावसे द्रव्यकर्मोंका बंध नहीं होता है। इसतरह बंधके अभावका कारण कहा। ऐसा तात्पर्य है। भावार्थ—जो कोई सूखे शरीरसे अखाडेमें कसरत करता है उसके शरीरमें वहांका धूल चिपटता नहीं, ऊपर ही ऊपरसे झड़ जाता है। इसी तरह जो वीतरागी सम्यग्दृष्टी आत्मा उदासीन भावसे काय व वचन व मनकी क्रियाएं करते हैं उनके रागद्वेषके न होनेसे कर्मोंका बंध नहीं होता। इससे रागद्वेष भावोंको त्यागकर वीतराग भाव रूप रहना योग्य है। जैसा यहां पातनिकामें कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानी जीवका शांतरसमें स्वामीपना है। अज्ञानी जीवके श्रृंगार आदि रसोंका स्वामीपना है उसी तरह अध्यात्म विषयमें नाटकके अवतारके सम्बन्धमें नव रसोंका स्वामीपना है ऐसा जानना चाहिये २५७–२५८–२५९–२६०–२६१॥ इस तरह १० सूत्रोंके समुदायसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

आगे कहते हैं कि वीतरागमई आत्मामें स्थितिरूप भावको त्याग करके जो हिंस्य हिंसक भाव रूपमें परिणमन है सो अज्ञानी जीवका लक्षण है उससे विपरीत सम्यग्ज्ञानी जीवका लक्षण है॥

गाथाः—**जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहिं सत्तेहिं।**
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो॥२६२॥

संस्कृतार्थः—यो मन्यते हिनस्मि हिंस्ये च परैः सत्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥ २६२॥

सामान्यार्थः—जो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंकी हिंसा करता हूं व पर प्राणियोंसे मैं मारा गया हूं वह मूर्ख अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत है। शब्दार्थ सहित **विशेषार्थः**—(जो) जो कोई अज्ञानी (मण्णदि) ऐसा मानता है कि (हिंसामिय) मैं जीवोंकी हिंसा करता हूं व (परेहिं) दूसरे (सत्तेहिं) प्राणियोंसे (हिंसिज्जामिय) मैं मारा जाता हूं अर्थात उसका जो यह परिणाम है कि मैं मारता हूं या मैं मारा जाता हूं वही परिणाम निश्चयसे अज्ञानमई भाव है और वही कर्मबंधका कारण है जिस जीवके ऐसा परिणाम होता है (सो मूढो अण्णाणी) सो मूर्ख अज्ञानी है। परंतु (णाणी) तत्त्वज्ञानी आत्मा (एत्तोदु विवरीदो) इस परिणामसे विपरीत है उसके हिंसारूप व हिंस्यरूप भाव नहीं होते। जो कोई जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु मित्र, निन्दा, प्रशंसा आदि विकल्पोंमें राग और द्वेषको नहीं करता हुआ शुद्ध आत्मीक भावनासे पैदा होनेवाले परमानंद सुखके आस्वादमें वा भेदज्ञानमें

रत है, तल्लीन है, तन्मय है वही ज्ञानी है यह अर्थ है। भावार्थ—जिसके आत्मस्वरूपमें तन्मयरूप भाव नहीं है वही इस प्रकारका द्वेषपरिणाम कर सकता है कि मैं दूसरोंको मारूं। व दूसरोंसे मारा जाता हूं। शरीरकी ममता होने हीका यह कार्य है। इसीसे ऐसा पुरुष अज्ञानी है और कर्मोंका बांधनेवाला है। भेदज्ञानी आत्मामें यह भाव नहीं होता इसीसे वह हिंसाजनित कर्मको नहीं बांधता है॥ २६२॥

आगे कहते हैं कि यह रागादि अध्यवसाय कैसे अज्ञानरूप हैं।

गाथाः—**आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।**
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं॥ २६३॥

संस्कृतार्थः—आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां॥ २६३॥

सामान्यार्थः—जीवोंका मरण निश्चयसे आयु कर्मके क्षयसे होता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानोंने कहा है। जब तुम आयु कर्मको हर नहीं सकते तो कैसे तुम्हारे द्वारा उनका मरण किया गया? शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवाणं) जीवोंका (मरणं) प्राण क्षय (आउक्खयेण) आयु कर्मके झड़ जानेसे होता है ऐसा (जिणवरेहिं) जिनेन्द्र भगवानोंने (पण्णत्तं) प्रकट किया है। (तुमं) तुम (आउ) उनके आयु कर्मको (ण) नहीं (हरेसि) हरते हो। क्योंकि उनका आयुकर्म उनके ही उपयोगसे क्षय होता है फिर (कह) कैसे (ते) तुम्हारे द्वारा (तेसिं मरणं) उन प्राणियोंका मरण (कदं) किया गया? भावार्थ—कोई भी प्राणी अपने आयु कर्मके क्षय विना मरण नहीं करता है जो कोई किसीको मारता है उस वक्त भी उस जीवका मरण अपने ही आयुकर्मके क्षयसे ही भया। तब यह मारनेवाला क्यों दोषी हुआ। इसका उत्तर यह है कि इसने अपना द्वेषरूप परिणाम किया कि मैं मारूं—इस कारण यह अपने उस परिणामका दोषी है इसीसे हिंसक है इसीसे अज्ञानी है और बंधका करनेवाला है॥ २६३॥

आगे जो कोई कहता है कि मैंने इसकी रक्षा की है उस सम्बन्धमें कहते हैं:—

गाथाः—**आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।**
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं॥ २६४॥

संस्कृतार्थः—आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां॥ २६४॥

सामान्यार्थः—यह जीव आयु कर्मके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, आयु कर्मको तुम नहीं देते तो फिर तुम्हारे द्वारा उनका जीवन कैसे किया गया? शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवो) यह आत्मा (आउउदयेण) आयु कर्मके उदयके वशसे (जीवदि)

जीता है। (एवं) इस प्रकार (सव्वण्हू) सर्वज्ञ भगवान (भणंति) कहते हैं (च) और (तुमं) तुम (आउं) आयुकर्मको (न देसि) नहीं देते हो क्योंकि उन जीवोंका आयु कर्म उन्हींके शुभ और अशुभ परिणामोंके द्वारा उपार्जन किया हुआ अर्थात् बांधा हुआ है। पस (कहं) किसतरह (तए) तुम्हारे द्वारा (तेसिं) उन जीवोंका (जीविदं) जीवन (कदं) किया गया। अर्थात् किसी भी तरह नहीं किया गया। भावार्थः—जो कोई इस बातका मान करे कि मैंने इसको जिला दिया या मैं इसको पालता हूं उसके लिये आचार्य कहते हैं कि उसका ऐसा मानना मिथ्या है क्योंकि जब तक किसीका आयुकर्म नहीं होता वह जी नहीं सक्ता है और आयुकर्मको हरएक जीव अपने भावोंके अनुसार बांधता है। इसलिये ऐसा अभिमानरूपी भाव भी कर्म बंधका कारण है। यहां पर यह तात्पर्य है कि ज्ञानी पुरुषको स्वसंवेदन लक्षणको रखनेवाली सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्ररूप तथा मन, वचन, कायकी गुप्तिरूप समाधिमें तिष्ठना चाहिये। उसी समाधि भावमें जब तक ठहरा जायगा तब तक उसके कर्मबंधका अभाव है क्योंकि उसके भावोंमें वीतरागता है। परंतु जब वह स्वसमाधिमें ठहर नहीं सक्ता तब अशक्यपनेसे या प्रमादसे जब कभी उस ज्ञानीके यह विकल्प हो उठता है कि मैं इसका मरण करता हूं व इसको जिलाता हूं तब वह मनमें चिन्तवन करता है, कि इस प्राणीके मरणमें इसके अशुभ कर्मका और जीवनमें शुभ कर्मका उदय है मैं तो केवल निमित मात्र ही हूं। ऐसा मानकर मनमें रागद्वेषरूपी अहंकार नहीं करना योग्य है। भावार्थः—ज्ञानीके जब कभी विकल्प जिलाने व मारनेका होता है वह वस्तु स्वरूपको विचारता हुआ रहकर अहंकार नहीं करता है किन्तु अज्ञानी अहंकार करके पुण्य या पापका तीव्र बंध करता है॥ २६४॥

आगे कहते हैं कि सुख और दुःख भी निश्चयनयसे अपने ही कर्मोंके उदयमें होते हैं।

जो अप्पणादु मण्णदि दुःहिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो॥ २६५॥

संस्कृतार्थः—य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥ २६५॥

सामान्यार्थः—जो अपने तईं ऐसा मानता है कि मैं प्राणियोंको दुःखी व सुखी करता हूं सो मूर्ख और अज्ञानी है ज्ञानी इस विचारसे अलग है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई (अप्पणादु) अपने आत्माके विषें (मण्णदि) मानता है (इति) कि (सत्ता) प्राणियोंको (दुखिद सुहिदे करेमि) मैं दुःखी या सुखी करता हूं। अर्थात् जिसके इस जातिका परिणाम है कि मैं पर जीवोंको सुखी या दुःखी करता हूं वह परिणाम अज्ञानमई भाव है सोई कर्मबन्धका कारण है तथा जिसके ऐसा परिणाम पाया जाता है। (सो मूढो

अण्णाणी) वह अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है जो (एत्तो विवरीदो) इससे विपरीत परम उपेक्षा संयमकी भावनामें परिणत होता हुआ भेदरहित निश्चय रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानमें ठहरा हुआ है वह (णाणी) ज्ञानी है। भावार्थः—जो परके भीतर करतापना मानता है वह अज्ञानी है। जो कर्तापना नहीं मानता सो ज्ञानी है ॥ २६५ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जो ऐसा अध्यवसाय अर्थात् रागादि रूप परिणाम करता है कि मैं परस्पर सुख या दुःख करता हूं वह किसतरह अज्ञानी है।

इसके समाधानमें तीन गाथाएं कहते हैं:—

गाथाः—**कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता।**
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते ॥२६६॥

संस्कृतार्थः—कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवंति यदि सत्वाः।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥ २२६ ॥

सामान्यार्थः—जो सर्व प्राणी कर्मोंके उदयसे दुःखी व सुखी होते हैं और तू कर्मोंको देता नहीं तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे दुःखी या सुखी किये गए? **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जदि) जो (सव्वे सत्ता) सर्व प्राणी (कम्मणिमित्तं) अपने २ कर्मोंके उदयके निमित्तसे (दुखिद सुहिदा) दुःखी या सुखी (हवंति) होते हैं (च) और (तुमं) तुम (कम्मं) शुभ या अशुभ कर्मोंको (नदेसि) नहीं देतेहो फिर (कहं) किसतरह (ते) वे जीव तेरे द्वारा (दुखिद सुहिदा कदा) दुःखी या सुखी किये गए? अर्थात् निश्चयसे नहीं किये गए ॥ २६६ ॥

इसी सम्बन्धकी दूसरी गाथा कहते हैं:—

गाथाः—**कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंदि जदि सत्ता।**
कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२६७॥

संस्कृतार्थः—कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवंति यदि सत्वाः।
कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥ २६७ ॥

सामान्यार्थः—यदि सर्व जीव कर्मोंके निमित्तसे दुःखी और सुखी होते हैं और कर्मोंको तुम देते नहीं हो तब उनके द्वारा तुम कैसे सुखी किये गए? **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जदि) जो (कम्मणिमित्तं) अपने २ कर्मोंके उदयके निमित्तसे (सव्वेसत्ता) सर्व प्राणी (दुःखिद सुहिदा हवंति) दुःखी और सुखी होते हैं (च) और (तुमं) तुम (कम्मं) शुभ या अशुभ कर्मको (नदेसि) नहीं दे सकते हो तो (कह) किस तरह (तं) तुम (तेहिं) उनके द्वारा (सुहिदोकदो) सुखी किये गए? अर्थात किसी भी तरह नहीं किये गए ॥ २६७ ॥

इसी सम्बन्धकी तीसरी गाथा कहते हैं:—

गाथाः—**कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।**
कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं ॥२६८॥

संस्कृतार्थः—कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं दुःखितः कृतस्तैः॥ २६८॥

सामान्यार्थ-यदि सर्व जीव अपने २ शुभ व अशुभ कर्मोंके उदयसे सुखी व दुःखी होते हैं और कर्मको तुम देते नहीं हो तब किसतरह तुम उनके द्वारा दुःखी किये गये—तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञानी जीव अपने चित्तमें यह विकल्प नहीं करता है कि मैं पर जीवोंको सुख और दुःख देता हूं—जब कभी विकल्प रहित समाधि भावके न होनेपर प्रमादके कारण उसके यह विकल्प हो उठता है कि मैं किसीको सुखी या दुःखी करता हूं तब मनमें ऐसा विचार करता है कि इस जीवके अंतरंग पुण्य या पापका उदय हो आया है मैं तो केवल निमित्तमात्र ही हूं। ऐसा जानकर मनमें हर्ष और विषाद परिणामोंके द्वारा किसी तरहका अहंकार नहीं करता है—भावार्थः—ज्ञानी जीव जब शुद्धोपयोगमें लीन होता है तब विकल्प रहित रहता है उस समय अशुभ या शुभ भाव नहीं होते परंतु वीर्यकी कमीसे जब स्वरूपमें ठहरनेको अशक्त होता है तब उसके शुभ या अशुभ दोनों विकल्प होना संभव है। अशुभ भावोंसे बचनेके लिये वह ज्ञानी शुभ भावोंके होनेका यत्न करता है और तब पर जीवोंकी रक्षामें, उनके कष्ट निवारणमें, परोपकारमें, चार प्रकार दानमें आदि शुभ कार्योंमें प्रवर्त्तता है उस समय इसके निमित्तसे बहुतसे जीव बचते हैं, साता पाते हैं, कष्टोंको मिटाते हैं ऐसा देख कर वह ज्ञानी आत्मा यह अहंकार नहीं करता है कि मैंने इन जीवोंके प्राण बचाए, व इनकी रक्षा की, इनको सुखी किया किन्तु ऐसा विचारता है कि जिन जीवोंकी रक्षा हुई व जिन्होंने साता पाई उनके लिये मुख्य कारण उनके अंतरंग पुण्यकर्मका उदय है। मैं तो केवल निमित्त मात्र हूं—यदि उनके पुण्य कर्मका उदय न होता तो मेरे चाहने और उद्यम करने पर भी वे नहीं बच सक्ते और न सुखी होसकते। इसमें मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। ऐसा मानकर जरा भी अहंकार नहीं करता कि मैं दूसरोंका रक्षक हूं या सुखी करता हूं। इस बुद्धिसे वह कर्मोंसे बहुत ही कम बंधता है। यदि कदाचित् प्रमादके कारण किसी आरंभमें प्रवर्त्तते हुए उससे अन्य जीवोंका घात होता है तब भी यही वास्तविक बात विचारता है कि इन जीवोंको जो कष्ट हुआ व यह मेरे इस कार्यमें अवश्य इन ही जीवोंका अशुभ कर्म मुख्य निमित्त कारण है यदि इनके पापका उदय न होता तो यह दुःखी नहीं होसकते थे परन्तु मेरा इनको निमित्त होगया। यही मेरा एक अपराध है। मैंने अपने अशुभ भावोंसे अपने आत्माका घात किया। इससे बहुत विपरीत किया—ऐसा विचार कर अपने ऐसे अशुभ भावोंके दूर करनेका तो उद्यम करता है व उसका पछतावा मानता है। परन्तु यह अहंकार नहीं करता है कि मैंने पर जीवोंको घाता व दुःखी किया इससे मैं बड़ा वीर व चतुर हूं व ऐसा क्लेशित भाव नहीं करता है कि जिससे आर्त परिणाम करे इस तरह ज्ञानी जीव अपने

मंद रागसे बहुत कम कर्मका बंध करता है । तत्वज्ञानके प्रभावसे यह ज्ञानी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विचारता हुआ, रागद्वेषको मिटाता हुआ, वीतरागताको बढ़ाता हुआ, अपना हित करता है, संवर और निर्जराका उद्यम करता है, बंधको मेटता है ॥ २६८ ॥

इस तरह पर जीवोंको मैं जिलाता हूं या मारता हूं, या सुखी या दुःखी करता हूं इस प्रकारके व्याख्यानकी मुख्यतासे सात गाथाओंमें दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे कहते हैं कि जो ऐसा मानता हैं कि पर जीव अपनेसे भिन्न पर प्राणीको निश्चयसेजिलाता है, मारताहै, सुखी या दुःखी करता है वह वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है । इसकी दो गाथाएं हैं-

गाथाः—जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥२६९॥

संस्कृतार्थः—यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ॥ २६९ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई मरता है व जो कोई दुःखी होता है सो सर्व ही अपनेर कर्मोके उदयसे होता है इस लिये मैंने मारा या दुःखी किया ऐसा जो तेरा अभिप्राय है वह क्या झूठा नहीं है ? अवश्य झूठा है । शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(जो) जो कोई (मरदि) मरता है (य) और (जो) जो कोई (दुहिदो) दुःखी होता है (सो सव्वे) सो सर्वही (कम्मोदएण) अपने ही कर्मोके उदयसे (जायदि) होता है (तम्हादु) इसलिये (मारिदो) मेरे द्वारा यह मारा गया (चदुहाविदो) और दुःखी किया गया (इदि) यह (दे) तेरा अभिप्राय (मिच्छा णहु) क्या मिथ्या नहीं है ? अवश्य मिथ्या है । भावार्थ-प्रत्येक जीव जब अपने आयुकर्मोके क्षय विना मर नहीं सक्ता व अपने असाता वेदनीयकर्मके उदय विना दुःखी नहीं हो सक्ता यह बात निश्चय है तब इस अज्ञानीका ऐसा मानना कि मैंने मारा या दुःखी किया केवल अहंकार मात्र है और मिथ्या है ॥ २६९ ॥

गाथाः—जो ण मरदि णय दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो ।
तह्मा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥ २७० ॥

संस्कृतार्थः—यो न म्रियते न च दुःखितो भवति सोपि च कर्मोदयेन खलु जीवः ।
तस्मान्न मारितस्ते दुःखितो वेति न खलु मिथ्या । २७० ॥

सामान्यार्थः—जो कोई जीव नहीं मरता है व दुःखी नहीं होता है सो ही निश्चय करके अपने कर्मोके उदयसे है इससे मैंने इसको नहीं मारा व नहीं दुःखी किया यह अभिप्राय क्या असलमें मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है । शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जो जीवो) जो कोई जीव (णमरदि) नहीं मरता है (णय दुहिदो) और नहीं दुःखी होता है (सोविय) सो भी (खलु) असलमें (कम्मोदयेण) अपने ही कर्मोके उदयसे न मरता है और न दुःखी होता है (तह्मा) इसलिये (णमारिदो) यह मुझसे नहीं मारा गया (दुहाविदो) व नहीं दुःखी किया गया (दे चेदि णहु मिच्छा) यह

तुम्हारा अभिप्राय क्या असत्यमें मिथ्या नहीं है ? अवश्य मिथ्या ही है क्योंकि इस आश्रयसे अपने स्वरूप आत्मीक भावसे गिरकर यह जीव कर्मोंको ही बांधता है भावार्थ—तत्त्वज्ञानी जीव वस्तुका यथार्थ स्वरूप विचारता रहता है और अपने आत्मस्वभाव की भक्तिमें लीन रहता है इसलिये मैंने मारा या नहीं मारा मैंने दुखी किया या नहीं किया यह सब विकल्प ज्ञानीके नहीं होता। जिस किसीके यह सब विकल्प होते हैं वह जीव रागद्वेषी होकर कर्मोंका बांधनेवाला होता है ॥ २७० ॥

आगे कहते हैं कि पूर्वके दो सूत्रोंमें कहा हुआ मिथ्याज्ञानरूपी भाव मिथ्यादृष्टिके बंधका कारण होता है:—

गाथाः—एसा दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥ २७१ ॥

संस्कृतार्थः—एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २७१ ॥

सामान्यार्थः—यह जो तेरी बुद्धि है कि मैं जीवोंको दुःखी या सुखी करता हूं यही तेरी मति हे मूढबुद्धि ! शुभ या अशुभ कर्मोंको बांधनेवाली है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एसा दु) यह (जा) जो (दे) तेरी (मदी) मति है कि (सत्तेति) प्राणियोंको (दुखिद सुहिदे करेमि) मैं दुःखी या सुखी करता हूं (एसा दे) यही तेरी बुद्धि (मूढमदी) हे मूढबुद्धि ! (सुहासुहंकम्मं) शुभ या अशुभ कर्मोंको (बंधदे) बांधनेवाली है। जो अपने शुद्ध आत्मीक भावसे भ्रष्ट है उस जीवके यह रागद्वेष विकल्प कि मैं पर प्राणियोंको दुःखी या सुखी करता हूं शुभ या अशुभ कर्मोंको बांधनेवाला है और कोई भी कार्य इस बुद्धिसे नहीं होता ॥ २७१ ॥

आगे फिर भी दृढ करते हैं कि निश्चयसे रागद्वेष आदि अध्यवसान अर्थात विकल्प भाव ही बंधका कारण होता है—

गाथाः—दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एस मज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ २७२ ॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ॥ २७२ ॥

सामान्यार्थः—मैं जीवोंको दुःखी या सुखी करता हूं ऐसा जो तेरा रागद्वेषरूप अध्यवसान है सो ही पाप या पुण्यका बांधनेवाला है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(सत्ते) प्राणियोंको (दुःखिद सुहिदे) दुःखी या सुखी (करेमि) मैं करता हूं (जं एवम्) जो ऐसा (ते) तेरा (अज्झवसिदं) रागादि रूप अध्यवसान है। यह रागादि भाव तेरे उसी समय होता है जब तू शुद्धात्माकी भावनासे गिरा हुआ है इसीलिये (तं) सो रागादिभाव (पावबंधगंवा पुण्णस्सयबंधगं

होदि) पापका या पुण्यका ही बांधनेका कारण होता है और वह कुछ भी दु ख सुखादिक किसीको कर नहीं सक्ता क्योंकि हरएक जीवके सुख रूप या दुःख रूप परिणाम होना उस ही जीवके बांधे हुए शुभ या अशुभ कर्मोंके आधीन है। भावार्थ प्रत्येक जीव अपने ही बांधे हुए कर्मोंका फल भोगता है कोई ऐसा संकल्प करे कि मैं इस प्राणीको दुःखी कर दूं तो जब तक उस जीवके पापका उदय नहीं होगा तब तक वह दुःखी नहीं हो सक्ता। इसी तरह कोई विचारे कि मैं अमुक जीवको सुखी कर दूं सो जब तक उस जीवके पुण्यका उदय नहीं होता तबतक वह सुखी नहीं हो सक्ता। जब यह बात निश्चयसे यथार्थ है तब इस अज्ञानी जीवका यह अहंकार करना कि मैं अमुकको दुःखी करता हूं या सुखी करता हूं केवल उस ही को विगाड़ करनेवाला है अर्थात् उसको आत्मीक परमशांत स्वानुभवरूप समाधि भावसे गिराकर अशुभ भावोंके अनुसार पाप और शुभ भावोंके अनुसार पुण्यकर्मका बांधनेवाला है। इस लिये ज्ञानी ऐसा अहंकार नहीं करता ॥२७२॥

आगे फिर भी इसी बातको कहते हैं—

गाथाः—**मारेमि जीवावेमिय सत्ते जं एव मज्झवसिदं ते।**
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ २७३ ॥

मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ॥ २७३ ॥

सामान्यार्थ—मैं जीवोंको मारता हूं या जिलाता हूं ऐसा जो तेरा रागादि अध्यवसान है वही पाप या पुण्यका बांधनेवाला होता है ॥ शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(सत्ते) प्राणियोंको (मारेमि) मैं मारता हूं (जीवावेमिय) या जिलाता हूं (जंएवम्) जो ऐसा (ते) तेरा (अज्झवसिदं) अध्यवसान है व रागादि भाव है सो तेरे उसी समय होता है जब तू शुद्धात्माके श्रद्धान ज्ञान और आचरणसे शून्य होता है (तं) सो यह रागादि भाव (पावबंधगं वा पुण्णस्सय बंधगं होदि) पाप या पुण्यका बांधनेवाला होता है इसके सिवाय और कुछ भी काम नहीं करता क्योंकि हरएक जीवका जीवन और मरण आदि सर्व उसीके ही बांधे हुए कर्मोंके उदयके आधीन है। भावार्थ—निश्चयसे यही बात है कि जब तक किसी जीवका आयु कर्म नहीं होता वह जी नहीं सक्ता, व जिसका आयु कर्म झड़ जाता है वह अवश्य मरता है। दूसरा कितना भी चाहे कि मैं उसको मरने न दूं सदा जीवित रक्खूं पर उसके इस चाहनेसे यदि उसका आयुकर्म बाकी नहीं है तो वह जी नहीं सक्ता इसी तरह कोई यह चाहे कि मैं इसको मार डालूं पर जो उसका आयुकर्म बाकी है तो इसके चाहनेसे यह मर नहीं सक्ता जब यह यथार्थ बात है तब इस अज्ञानी जीवका यह अहंकार कि मैं जिलाता हूं या मारता हूं केवल इसीकाही बिगाड़ करनेवाला है अर्थात् इसको स्वात्मीक आनन्दके विलाससे हटाकर रागी द्वेषी करके पाप या पुण्यका बंध करानेवाला है ॥ २७३ ॥

आगे कहते हैं कि निश्चय नयसे विचार किया जाय तो यही हिंसा करनेरूप जो दूषणरूप अध्यवसान है सो ही हिंसा है:-

गाथाः—**अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि माव मारे हिं।**
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २७४ ॥

संस्कृतार्थः—अध्यवसितेन बंधः सत्वान् मारयतु मा वा मारयतु।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥ २७४ ॥

सामान्यार्थः—जीवोंको मारो या न मारो जो हिंसादिरूप अध्यवसान है उसीसे ही कर्मोंका बंध होता है। निश्चयनयसे जीवोंके लिये यही बंधतत्त्वका संक्षेप है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(सत्ते) प्राणियोंको (मारेहि) मारो (व) अथवा (मा मारे हि) न मारो (अज्झवसिदेण) अध्यवसायरूप परिणामसे (बंधो) कर्मोंका बंध होता है। (जीवाणं) जीवोंके लिये (णिच्छय णयस्स) निश्चय नयसे (एसो बंध समासो) यही प्रत्यक्षरूप बंध तत्त्वका संक्षेप है इससे विपरीत उपाधि रहित चिदानंदमई एक लक्षणको रखनेवाली विकल्प रहित समाधिसे मोक्ष होता है, यह मोक्षतत्त्वका संक्षेप है। **भावार्थः**—जब यह आत्मा स्व-समाधिमें उपयुक्त है तब इसके बंधका अभाव है तथा पूर्व बांधे हुए कर्मोंसे मुक्ति है परन्तु जब यह स्वसमाधिसे छुटा हुआ रागद्वेषादिरूप भावोंमें परिणमन करता है तब अपने परिणामोंसे ही पाप और पुण्यको बांधता है दूसरेके परिणमनसे अपना परिणमन नहीं होता। इसतरह यह सिद्ध हुआ कि मैं पर प्राणियोंको जीवन देता हूं व मारता हूं व सुखी करता हूं व दुःखी करता हूं ऐसा जो अध्यवसान रूप रागद्वेषका अहंकार है सो ही बंधका कारण है। प्राणोंके व्यपरोपण अर्थात् घात आदिका व्यापार हो वा मत हो। इसतरह इस सर्व कथनको जान कर रागद्वेष आदि खोटा ध्यान त्यागने योग्य है ऐसा जानना ॥२७४॥

इस प्रकारका व्याख्यान करते हुए छः सूत्रोंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे हिंसा अध्यवसानको पहले कह चुके हैं अब कहते हैं कि असत्य स्तेय आदि अव्रतरूप रागादि अध्यवसानोंसे पापका बंध होता है तथा सत्य अस्तेय आदि अध्यवसानोंसे पुण्यका बंध होता है।

गाथाः—**एवमलिये अदत्ते अवह्मचेरे परिग्गहे चेव।**
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झदे पावं ॥ २७५ ॥
तहय अचोज्जे सच्चे वंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झदे पुण्णं ॥ २७६ ॥

संस्कृतार्थः—एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापं ॥ २७५ ॥
तथापि चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मणि, अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यं ॥ २७६ ॥

सामान्यार्थः—इसी तरह झूठ बोलनेमें, चोरी करनेमें, ब्रह्मचर्य न पालनेमें, तथा परिग्रहमें जो रागादि भावरूप अध्यवसान है उसीसे ही पापका बंध होता है तैसे ही चोरी न करनेमें, सत्यमें, ब्रह्मचर्य पालनमें, व परिग्रहके त्याग भावमें जो रागादि अध्यवसान है उससे पुण्यका बंध होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एवम्) ऊपर लिखे प्रमाण (अलिए) असत्य भाषणमें (अदत्ते) विना दी हुई वस्तुके लेनेमें, (अवह्मचेरे) कुशील भावमें, (परिग्गहे चेव) तैसे ही धन धान्यादि परिग्रहमें (जं) जो (अज्झवसाणं) रागादि अध्यवसान (कीरदि) किया जाता है (तेणदु) उस ही रागभावसे (पावं) पापका (वज्झदे) बंध होता है। (तहय) तैसे ही (अचुज्जे) अचौर्यमें, (सच्चे) सत्यमें, (वह्मे) ब्रह्मचर्यमें (अपरिग्गहत्तणे चेव) तथा परिग्रहके त्यागमें (जं) जो (अज्झवसाणं) रागादि अध्यवसान (कीरदि) किया जाता है (तेणदु) उसी ही रागादि भावसे (पुण्यं) पुण्यका (वज्झदे) बंध होता है। भावार्थः—जैसे विना अपने भावोंमें हिंसा करनेके भावके हुए केवल पर प्राणियोंका जो घात व पीड़ा होना सो हिंसा नहीं है इसी तरह पर वस्तुके ग्रहणमें, व असत्य बोलनेमें, व कुशील सेवनेमें, व परिग्रहणके इकट्ठा करनेमें जो रागादि भाव है वही पापका बंध करनेवाला है इससे त्यागने योग्य है तथा सत्य बोलनेमें, अचौर्य भावमें, ब्रह्मचर्यमें, अपरिग्रहमें जो राग भाव है अर्थात् सत्यादिव्रतोंके पालनेमें जो राग है वही राग पुण्यका बंध करनेवाला है ॥ २७५–२७६ ॥ इस तरह पांच व्रत और पांच अव्रतोंके सम्बन्धमें पुण्य तथा पापका बंध कैसे होता है इसको कहते हुए सूत्र रूप दो गाथाएं पूर्ण हुई।

इसके बाद इन्हीं दोनो सूत्रोंका विशेष वर्णन परिणामोंकी मुख्यतासे १३ गाथाओंमें करते हैं। प्रथम ही कहते हैं कि बाह्य पदार्थ रागादि परिणामके कारण हैं और वे रागादि परिणाम कर्म बंधके कारण हैं—

गाथाः—वत्थुं पडुच तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ॥ २७७ ॥

संस्कृतार्थः—वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां।
न हि वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥ २७७ ॥

सामान्यार्थः—बाहरी वस्तुओंका आश्रय लेकर जीवोंके रागादि भाव होता है। कर्मोंका बंध वस्तुओंसे नहीं होता किन्तु रागादि अध्यवसानसे होता है। शब्दार्थ सहित-विशेषार्थ (वत्थुं) चेतन और अचेतन पाचों इन्द्रियोंके ग्रहणमें आने योग्य पदार्थोंको (पडुच्च) प्रतीतिमें लेकर व उनका आश्रय करके (जीवाणं) संसारी जीवोंके (तं पुण अज्झवसाणंतु) यह प्रसिद्ध रागद्वेष भावरूप अध्यवसान (होदि) होता है। (वत्थुदो दु) बाहरी वस्तुओंकी निकटता

होनेसे (बंधो णहि) कर्मोंका बंध नहीं होता है किन्तु (अज्झवसाणेण) वीतराग परमात्मतत्वसे भिन्न रागादिरूप अध्यवसानसे (बंधोत्ति) बंध होता है। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि चेतन पदार्थ स्त्री पुत्र मित्रादि व अचेतन पदार्थ धनधान्यादि इनकी निकटता होनेसे कर्मोंका बंध क्यों नहीं होता है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं:—कि बाहरी वस्तुका और कर्मोंके बंधका परस्पर अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता किन्तु व्यभिचार आता है। क्योंकि यह नियम नहीं है कि बाहरी वस्तुओंके होते हुए नियमसे कर्मोंका बंध होयही हो इसलिये अन्वयपना नहीं है इस तरह यह भी नियम नहीं है कि बाहरी वस्तुके संबन्ध न होनेपर कर्मोंका बंध न हो इससे व्यतिरेकपना भी नहीं है—फिर शिष्यने प्रश्न किया कि जब यह बात है तब किसलिये बाहरी वस्तुओंका त्याग करा या कराया जाता है इसका समाधान आचार्य करते हैं कि रागादि भावोंके त्याग करनेके लिये बाहरी पदार्थोंका त्याग किया जाता है। यहां यह तात्पर्य है कि बाह्य पांचों इन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थोंके होते हुए अज्ञान भावसे रागादिक अध्यवसान होता है और उस रागादि भावसे कर्मोंका बंध होता है इस लिये परंपरासे चेतन व अचेतन बाह्य वस्तु बंधका कारण होती है। साक्षात् बंधका कारण नहीं है परन्तु रागादि अध्यवसान हैं सो निश्चयसे बंधका साक्षात् कारण है। ऐसा जानना। भावार्थ—जैसे पड़ोसीके पास धन धान्यादि परिग्रह रहे हम उसको देखते जानते हैं परन्तु उसमें राग द्वेष व मोह नहीं करते हैं तो हमको कुछ भी कर्मका बंधन होगा—और यदि उसी पड़ोसीकी परिग्रहमें हम राग, द्वेष, मोह करेंगे तो हमें विना उस परिग्रहके होते हुए भी कर्मोंका बंध हो जावगा। इसी तरह यदि हम ध्यानमें लीन हैं और किसीने हमारे ऊपर कपड़ा डाल दिया—यदि हमने उससे राग न किया तो उससे कर्मोंका बंध नहीं होगा—पर जब हम ध्यानसे हटे हैं तब भी हम उस कपड़ेको अपने ऊपर रक्खे रहें तो अवश्य हमें राग भाव हो आवेगा, इसलिये हम कर्मोंको बांध लेवेंगे। केवली भगवानके न अज्ञान भाव है न राग है अपने स्वात्मानुभवरूप ध्यानमें तल्लीन हैं तब यदि समवशरण आदि विभूतिकी निकटता होती भी है तो भी उनके बंधका कारण नहीं होती क्योंकि केवली भगवान् उससे कुछ भी रागी नहीं होते। जो कोई परवस्तुको उठावे, रक्खे, व उससे बुद्धिपूर्वक काम लेगा तो उससे राग थोड़ा या बहुत अवश्य होगा। बस वह राग है सो ही बंधका कारण है। इसलिये वस्तु हो व मत हो राग भावसे बंध होता जान उसको छोड़नेका यत्न करना जरूरी है। क्योंकि परवस्तु स्त्री पुत्रादि व धन धान्यादिका सम्बन्ध अवश्य ही उपयोगमें रागादि भाव पैदा कर देता है इसलिये इन बाह्य वस्तुओंको उपचारसे परिग्रह कहा है व इनका त्याग करना जरूरी है। निश्चयसे रागादि भाव ही कर्म बंधका कारण हैं ऐसा जानना॥२७७॥

इस तरह यह निश्चय किया गया कि रागादि अध्यवसान बंधका हेतु है परन्तु यह रागादि भाव अपने प्रयोजनको न कर सकनेके कारण अर्थात् इसमें अर्थ क्रियाकारीपना न होनेके कारण बिलकुल मिथ्या है-झूठ है ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथाः—**दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।**
जा एसा तुज्झ मदी णिरच्छया सा हु दे मिच्छा ॥२७८॥

संस्कृतार्थः—दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बध्नामि तथा विमोचयामि।
या एषा तव मतिः निरर्थिका सा खलु अहो मिथ्या ॥ २७८ ॥

सामान्यार्थ—मैं जीवोंको दुःखी या सुखी करता हूं, उनको बांधता हूं तथा छोड़ता हूं, जो ऐसी तेरी बुद्धि है सो बे मतलब है तथा वह प्रकटपने मिथ्या है—झूठ है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जीवे) प्राणियोंको (दुःक्खिद सुहिदे) दुःखी व सुखी (करेमि) करता हूं (बंधेमि) बांधता हूं (तह विमोचेमि) तथा छोडता हूं (जाएसा) जो यह (तुज्झ) तेरी (मदी) बुद्धि है (सा) वह बुद्धि (हु) प्रगटपने (निरच्छया) निरर्थक अर्थात् बे मतलब है (दे) अहो इसी कारणसे (मिच्छा) मिथ्या है—झूठ है क्योंकि तुम्हारा पर जीवोंको दुःखी या सुखी करने रूप भाव, जो रागद्वेषमई अध्यवसान है उसके होनेपर भी अन्य जीवोंके साता व असाताकर्मके उदयके अभावसे पर जीवोंको सुख या दुःख हो नहीं सक्ता तथा उनके अपने अशुद्ध भाव व शुद्ध भाव होनेके अभावसे उनको बंध और मोक्ष भी नहीं हो सक्ता। भावार्थः—जब किसी भी जीवको सुख या दुःख उसके पूर्वकृतकर्मोंके उदयसे होता है और जो उसके पूर्वकृत कर्मोंका उदय न हो तो होता नहीं चाहे दूसरा कितना भी चाहे कि मैं परको सुखी या दुःखी करूं इस लिये आचार्य कहते हैं कि तेरा जो यह अध्यवसान है अर्थात् रागादि भाव है कि मैं पर जीवोंको सुखी या दुःखी करूं या मैं परजीवोंको बांधता हूं या छोड़ता हूं, सो यह निरर्थक है अर्थात् मिथ्या है। कार्यकारी नहीं है ॥ २७८ ॥

आगे कहते हैं कि रागादि अध्यवसान क्यों अपने कार्यको करनेवाले नहीं होते हैं—

गाथाः—**अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।**
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किंकरोसि तुमं ॥ २७९॥

संस्कृतार्थः—अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्चतर्हि किंकरोषि त्वं ॥ २७९ ॥

सामान्यार्थः—रागद्वेषादि अध्यवसानके निमित्त यह जीव यदि कर्मोंसे बंधते हैं और जो मोक्ष मार्गमें रहते हैं वे कर्मोंसे छूटते हैं तब तुम क्यों रागादि भाव करते हो। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जदि) यदि (जीवा) यह जीव (हि) निश्चयसे (अज्झवसाण णिमित्तं) अपने ही मिथ्यात्व व रागद्वेष आदि अध्यवसानके निमित्तसे (कम्मणा) ज्ञानावरणादि कर्मोंसे

(वज्झंति) बांधे जाते हैं (य) तथा (मोक्खमग्गे) शुद्ध आत्माके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष मार्गमें (ठिदा) ठहरे हुए (मुच्चंति) कर्मोंसे छूटते हैं (ते) तब हे दुरात्मा (तुमं) तुम (किंकरोमि) क्यों रागादि अध्यवसान करते हो? यह भाव तुम्हारा कुछ भी कार्य नहीं कर सके इस लिये यह तुम्हारा अध्यवसान अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला नहीं होता है ऐसा जानना। भावार्थ—परको दुःखी या सुखी करने रूप जो रागादि भाव है वह अपने आत्माका हितकारी नहीं क्योंकि इन भावोंसे आत्मा कर्मोंसे बंधता है तथा वे भाव दूसरेका बिगाड़ सुधार भी नियमसे नहीं कर सके तथा जो इन भावोंको छोड़कर अभेद रत्नत्रय स्वरूप निजानंदरूप समाधि भावमें ठहरते हैं वे नहीं बंधते किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त करते हैं इसलिये रागादि अध्यवसान करना निरर्थक ही है ॥ २७९ ॥

आगे फिर भी कहते हैं कि जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने ही पापोंके उदयसे होते हैं तुम्हारे परिणामोंसे नहीं होते।

गाथाः—**कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।**
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८०॥
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८१॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८२॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८३॥

संस्कृतार्थः—कायेन दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ॥ २८० ॥
वाचा दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिता कर्मणा यदि सत्वाः ॥ २८१ ॥
मनसा दुःखियामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ॥ २८२ ॥
शस्त्रैः दुःखियामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ॥ २८३ ॥

सामान्यार्थः—मैं शरीरसे प्राणियोंको दुःखी करता हूं ऐसी जो तू बुद्धि करता है सो सर्व ही यह बुद्धि मिथ्या है यदि प्राणी अपने २ कर्मोंके उदयसे दुःखी होते हैं। मैं वचनसे प्राणियोंको दुःखी करता हूं ऐसी जो तू बुद्धि करता है सो सर्व ही असत्य है यदि जीव

अपने पापकर्मोके निमित्तसे दुःखी होते हैं। मनसे मैं जीवोंको दुःखी करता हूं ऐसी जो तेरी बुद्धि है सो सर्व ही मिथ्या है यदि प्राणी अपने कर्मोंके उदयसे दुःखी होते हैं। शस्त्रोंसे मैं प्राणियोंको दुःखी करता हूं ऐसी जो तेरी बुद्धि है सो सर्व ही मिथ्या है यदि जगतके प्राणी अपने २ कर्मोके उदयसे दुःखी होते हैं। विशेषार्थः—इन गाथाओंका शब्दार्थ सुगम है। विशेषार्थ यह है कि यदि जीव अपने ही पापके उदयसे दुःखी होते हैं तौ यदि उन जीवोंके अपने ही पापकर्मका उदयका अभाव है तो तुम उनका कुछ भी नहीं कर सक्के इस हेतुसे हे दुरात्मा! तुम्हारी यह बुद्धि कि मैं मनसे, वचनसे, कायसे, तथा शस्त्रोंसे जीवोंको दुःखी करता हूं बिलकुल मिथ्या है। केवल मिथ्या ही नहीं है किंतु इस बुद्धिके कारण तुम स्वस्थ अर्थात् आत्मामें तन्मयी पनेके भावसे गिर कर पापकर्मको ही बांधते हो। भावार्थः—यह अज्ञानी प्राणी निरंतर यह अहंकार किया करता है कि मैं अपने मन, वचन, काय, व लाठी, चाबुक आदि शस्त्रोंसे दूसरोंको दुःखी करता हूं इससे इस अहंकारको वृथा बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि जबतक प्राणियोंके अपने ही पापकर्मोंका उदय नहीं होता है तबतक वे कभी भी दुःखी नहीं हो सक्के चाहे कोई किसीको कितना भी दुःखी करनेका विचार किया करे। इस कारण अज्ञानी की यह अहंकार बुद्धि केवल मिथ्या ही नहीं है किन्तु उसको अपने रागादि अध्यवसानके कारण पापकर्मोसे बांधने वाली है। इसलिये ज्ञानीका परको दुःख देनेका विचार करना निश्चय नयसे मिथ्या है। यद्यपि व्यवहारी जीव अपने प्रयोजन वश परको दुःख पहुंचानेका उद्यम करता है और यदि उस पर मनुष्यके पापकर्मका उदय होता है तो वह दुःखी भी होजाता है तथापि यहां आचार्य मोक्ष मार्गके प्रकरणमें बंध तत्वको समझाते हुए असल बातको बतलाते हैं कि चाहे कोई इस अज्ञानीकी हिंसारूप बुद्धिसे या प्रयत्नसे दुःखी न होवे परन्तु यह प्राणी अवश्य पापकर्मोको बांध लेता है इससे मोक्षके इच्छुक जीवको उचित है कि इन हिंसा रूप भावोंसे बचकर अपने आत्माके शुद्ध भावमें तिष्ठनेका प्रयत्न करे॥२८०-२८१-२८२-२८३॥

आगे कहते हैं कि निश्चयसे अपने ही शुभकर्मोंके उदय होने पर प्राणी सुखी होते हैं:—

गाथाः—कायेण च वायाइव मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥२८४॥

संस्कृतार्थः—कायेन च वाचा वा मनसा सुखितान् करोमि सत्वानिति।
एवमपि भवति मिथ्या सुखिनः कर्मणा यदि सत्वाः॥ २८४॥

सामान्यार्थः—यदि प्राणी अपने २ कर्मोके उदयसे सुखी होते हैं तब तुम्हारी यह बुद्धि कि मैं मन, वचन, कायसे प्राणियोंको सुखी करता हूं मिथ्या है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ—(जदि) जो (सत्ता) जगतके प्राणी (कंमेण) अपने २ शुभ कर्मोंके उदय होनेपर (सुहिदा) सुखी होते हैं तुम्हारे परिणाम या भावसे नहीं होते तब (सत्ता) प्राणिओंको (कायेण) कायसे

(व) अथवा (वाया) वचनसे (व) अथवा (मणेण) मनसे (सुहिदे करेमि) सुखी करता हूं (इति) यह तेरी बुद्धि (एवंपि) उसी प्रकारसे ही (मिच्छा) झूठी है अर्थात् तेरा यह रागरूप अध्यवसान अपने कार्यको करनेवाला नहीं हो सका। किन्तु जब तू इस शुभ परिणाममें अहंकार कर लेता है तब तू रागादि भाव रहित परम चैतन्य ज्योति स्वरूप स्वभावमई अपने शुद्ध आत्मीक तत्त्वको नहीं श्रद्धान करता हुआ, उसको भले प्रकार नहीं जानता हुआ व उसकी सम्यक् रूपसे भावना नहीं करता हुआ रहता है इससे उस शुभ परिणामके कारण तू पुण्यको ही बांधता है यह तात्पर्य है। भावार्थ—जब यह अज्ञानी प्राणी परको सुखी करनेरूप भावोंमें तन्मई होता है और इस बातको भूल जाता है कि संसारी जीव अपने शुभ कर्मोंके उदय बिना सुखी नहीं होसकते तब यह मिथ्या श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप होता हुआ शुभ भावोंसे पापानुबंध (पापका परंपरारूप) रूप पुण्यकर्मको बांधता है और जब इस प्राणीके परका हित करनेरूप भाव होता है पर उसमें अहंकार नहीं होता अर्थात् वह इस बातको जानता है कि मैं केवल निमित्त मात्र हूं, जब तक इस जीवके पुण्यकर्मका उदय नहीं होता मेरे निमित्तसे कोई सुखी नहीं होसक्ता तब इसके यद्यपि उस समय आत्मामें स्थितिरूप स्वस्थ भाव नहीं है किन्तु शुभ भाव है परन्तु सम्यक् श्रद्धा सहित शुभ भावसे यह प्राणी पुण्यानुबंध (पुण्यकी परम्परारूप) रूप पुण्य कर्मको बांधता है। यहां पर बंधतत्त्वसे विमुख कराकर मोक्ष तत्वमें शिष्यको प्रेरित करना है इससे आचार्य कहते हैं कि निश्चयसे परको सुखी करनेरूप जो रागादि अध्यवसान है वह पुण्यकर्मको बांधनेवाला है इससे त्यागने योग्य है तथा मिथ्या भी है क्योंकि केवल इसकी ऐसी बुद्धिसे पर जीव सुखी नहीं होगा। जब तक उस पर जीवके पुण्य कर्मका उदय न हो, ऐसा जान स्वसमाधि भावमें लीन रहना ही इस जीवको परम हित है॥ २८४॥

आगे उपदेश करते हैं कि अपने आत्मामें स्थितिरूप स्वस्थ भावके विरोधी राग द्वेष आदि रूप अध्यवसानसे मोहित होता हुआ यह जीव सर्व ही परद्रव्यको अपना मानने लगता है।

गाथाः—सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुवेपि सव्वे पुण्णं पावं अणेयविहं॥ २८५॥

संस्कृतार्थः—सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान्।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं॥ २८५॥

सामान्यार्थः—यह जीव रागादि अध्यवसानके कारण सर्व ही तिर्यंच, नरक, देव, मनुष्य सम्बन्धी अनेक प्रकार पुण्य व पापरूप भावोंको अपना कर लेता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवो) यह आत्मा (अज्झवसाणेण) राग रूप अध्यवसानके निमित्तसे (सव्वे) सर्व ही उदयमें प्राप्त नरक गति आदि कर्मोंके उदयके वशसे (तिरिय णेरइये देव मणुवेपि)

तिर्यंच, नरक, मनुष्य, देवरूप (अणेय विहं) नाना प्रकार (पुण्णं पावं सव्वे) पुण्य व पापरूप सर्व भावोंको (करेदि) अपना कर लेता है अर्थात् विकार रहित परमात्म तत्वके ज्ञानसे भ्रष्ट होकर मैं नारकी हूं मैं तिर्यंच हूं इत्यादि उदयमें प्राप्त कर्मोंके द्वारा होनेवाले विभाव परिणामोंको अपने आत्मामें जोड़ लेता है। **भावार्थः**—मोह रागद्वेषके कारण कर्म जनित नर नारकादि अवस्थाओंको अपनी मान लेता है ॥ २८५ ॥

आगे फिर भी इसी बातको कहते हैं:-

गाथाः—धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २८६ ॥

संस्कृतार्थः—धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ॥ २८६ ॥

सामान्यार्थः—यह जीव अध्यवसानके द्वारा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि सर्व ही ज्ञेय पदार्थोंको अपना मान लेता है **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जीवो) यह जीव (अज्झवसाणेण) जाननेरूप विकल्पके द्वारा (धम्माधम्मं) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको (च तहा) और (जीवाजीवे) जीव और अजीवको (च अलोग लोगं) और अलोकाकाश व लोकाकाश (सव्वे) आदि सर्व ही ज्ञेय पदार्थोंको (अप्पाणं करेदि) अपना कर लेता है अर्थात् अपने आत्मासे उनका संवन्ध कर लेता है। तात्पर्य यह है कि जैसे घटके आकार परिणमन करनेवाले ज्ञानको उपचारसे घट कहते हैं। तैसे ही धर्मास्तिकाय आदि जानने योग्य पदार्थोंके विषयमें यह धर्म है यह अधर्म है इत्यादि जो जाननरूप विकल्प है उसको भी उपचारसे धर्मास्तिकाय आदि कहते हैं। क्यों ऐसा कहते हैं इसका उत्तर यह है कि उस जाननरूप विकल्पका विषय धर्मास्तिकाय आदिक है। जब यह आत्मा स्वस्थ भाव अर्थात् अपने आत्मामें तिष्ठनेरूप समाधि भावसे गिर करके यह विकल्प करता है कि यह धर्मास्तिकाय है व यह अधर्मास्तिकाय है इत्यादि तब इस तरहके विकल्पके करते हुए धर्मास्तिकाय आदि ही उपचारसे किये गए ऐसा कहनेमें आता है। अर्थात् उस समय आत्माका सम्बन्ध ज्ञेय पदार्थोंसे होरहा है। **भावार्थः**—जब यह आत्मा अपनी आत्मीक परिणतिमें तल्लीन रहता है तब आत्माका ही अनुभव करता हुआ निर्विकल्प रहता है पर जब आत्मासे भिन्न धर्म, अधर्म, आकाश, काल व पुद्गल इन पदार्थोंके जाननेमें अपना विकल्पका संबंध करता है तब स्वस्थ भावसे गिर करके उस जाननरूप विकल्पके अध्यवसायमें परिणमन करता है जिससे ऐसा कहा जाता है कि उसने पर ज्ञेय पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध कर लिया। अर्थात् यह आत्मा पर रूप हो गया ॥ २८६ ॥

आगे प्रकाश करते हैं कि निश्चयसे यद्यपि यह आत्मा पर द्रव्योंसे भिन्न है तौ भी जिस मोहके प्रभावसे यह अपने आत्माको पर द्रव्यमें जोड़ता है वह मोह जिनके नहीं है वे ही तपोधन अर्थात् साधु महात्मा तपस्वी हैं:—

गाथा:—एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८७ ॥

संस्कृतार्थः—एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि
तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंति ॥ २८७ ॥

सामान्यार्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए यह सर्व रागादि अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे ही मुनि हैं और वे शुभ व अशुभ कर्मबंधसे नहीं लिपते हैं । शब्दार्थ सहितविशेषार्थ—(एवमादीणि एदाणि) इसप्रकार ऊपर कहे हुए यह सर्व (अज्झवसाणाणि) शुभ या अशुभ कर्मबंधके निमित्त कारण रागादि अध्यवसान (जेसिं णत्थि) जिनके नहीं होते हैं (ते मुणी) वे ही मुनि हैं और वे (सुहेण य असुहेण कम्मेण) शुभ और अशुभ कर्मोंसे (न लिप्पंति) नहीं लिप्त होते हैं । इस कथनका विस्तार यह है कि जिस समय शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप निश्चय रत्नत्रयमई भेदविज्ञान इस जीवके नहीं होता है तब यह कभी हिंसा सम्बन्धी अध्यवसान करता है कि मैं जीवोंकी हिंसा करता हूं, कभी कर्मके उदयरूप अवस्थाका अध्यवसान करता है कि मैं नारकी हूं, कभी ज्ञेय पदार्थमें जाननरूप अध्यवसान करता है कि यह धर्मास्तिकाय इत्यादि है इन अध्यवसानोंको विकल्प रहित शुद्धात्मासे भिन्न नहीं जानता है। इसतरह इन अध्यवसानोंको शुद्धात्मासे भिन्न अनुभव नहीं करता हुआ हिंसा आदिके अध्यवसान सम्बन्धी विकल्पके साथ अपने आत्माका अभेदरूपसे श्रद्धान करता है, जानता है तथा अनुभव करता है तब मिथ्यादृष्टी, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री हो जाता है इससे उसके कर्मोंका बंध होता है । भावार्थः—जब यह आत्मा सर्व पर विकल्पोंसे रहित हो अपने ही शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव करता है तब इसके भेदविज्ञान होता है जिसके प्रतापसे नवीन कर्मोंका बंध नहीं करता । परंतु जब निर्विकल्प भावसे गिरा हुआ होता है और नाना प्रकार शुभ या अशुभ संकल्प विकल्प करता है और उन ही विकल्पोंमें तन्मई हो जाता है तब मिथ्यात्वी होता हुआ महान् कर्मोंका बंध करता है । परंतु जो सम्यग्दृष्टी नीचली अवस्थामें है उसके भी समाधिसे हटा हुआ शुभ या अशुभ भाव होना संभव है और इस भावसे यह सम्यग्दृष्टी भी पाप या पुण्य कर्मोंका बंध करता है तो भी इसके श्रद्धानमें व अनुभवमें यह झलकता है कि यह शुभ या अशुभ विकल्प मेरे शुद्ध स्वभावसे भिन्न हैं । इस कारण मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा इसके अल्प कर्मका बंध होता है ॥ २८७ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि कितने काल तक यह आत्मा पर भावोंको अपनेमें जोड़े रखता है जिसका समाधान आचार्य करते हैं:—

गाथा:—जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणइ असुहसुहजणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरई ॥ २८८ ॥

संस्कृतार्थः—यावत्संकल्पविकल्पौ तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकं।
आत्मस्वरूपा ऋद्धिः यावत् न हृदये परिस्फुरति ॥ २८८ ॥

सामान्यार्थः—जबतक इस जीवके संकल्प विकल्प उठते हैं और आत्मस्वरूपकी रिद्धि हृदयमें नहीं प्रकट होती है तबतक यह शुभ या अशुभ कर्मोंको करता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जा) जबतक यह जीव (संकप्प वियप्पो) बाह्य पदार्थ जैसे देह, पुत्र, स्त्री आदिमें यह मेरे हैं ऐसा संकल्प करता है तथा अपने मनमें कभी हर्ष और कभी रंज इत्यादि विकल्प करता है (जाय) और जबतक (अप्पसरूवा रिद्धी) अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि आत्मस्वरूपकी रिद्धि (हियए) हृदयमें (ण) नहीं (परिप्फुरई) प्रकट होती है (ता) उसवक्त तक (असुह सुह जणयं कंमं) पाप और पुण्यको पैदा करनेवाले कर्मोंको (कुणइ) बांधता है। **भावार्थः**—शुभ या अशुभ कर्मोंका बंधन उस वक्त तक इस जीवके होता है जबतक इसके अंतरंगमें संकल्प और विकल्प उठा करते हैं और यह संकल्प विकल्प उस वक्त तक रहते हैं जबतक इसके अंतरंगमें आत्म ज्योतिका अनुभव नहीं होता ॥ २८८ ॥

आगे अध्यवसानके पर्यायवाची नामोंके संग्रहको कहते हैं:—

गाथाः—**बुद्धी ववसाओविय अज्झवसाणं मदीय विण्णाणं।**
इक्कट्ठमेव सव्व चित्तं भावोय परिणामो ॥ २८९ ॥

संस्कृतार्थः—बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २८९ ॥

सामान्यार्थः—बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम सर्व एकार्थवाची हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(बुद्धी) बुद्धि अर्थात् समझ (ववसाओ) व्यवसाय अर्थात् जाननरूप व्यापार, (विय) और भी (अज्झवसाणं) अध्यवसाय अर्थात् जाननरूप विकल्प, (मदीय) और मति अर्थात् मनन या पर्यालोचन, (विण्णाणं) जिससे जाना जाय सो विज्ञान, (चित्तं) चिंतवनरूप व्यापार चित्त, (भावो) होनेरूप सो भाव, (परिणामो) परिणमनरूप सो परिणाम (सव्वं इकट्ठमेव) यह सर्व एक अर्थवाची हैं, इनमें शब्दभेद होने पर भी अर्थका भेद नहीं है किन्तु समभिरूढ़ नयकी अपेक्षासे सर्व ही अध्यवसानके ही अर्थको कहते हैं। जैसे इन्द्र शक्र और पुरन्दर इन शब्दोंमें व इनके कार्यरूप अर्थोंमें भेद होने पर भी यह सर्व समभिरूढ़ नयसे इन्द्र हीके नाम हैं तैसे बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाममें शब्द और क्रियाका भेद होते हुए भी सर्व ही समभिरूढ़ नयसे अध्यवसायके ही वाचक हैं। **भावार्थः**—रागद्वेषरूप अध्यवसानको हम रागद्वेषरूप बुद्धि, रागद्वेषरूप व्यवसाय, रागद्वेषरूपमति, रागद्वेषरूप विज्ञान, रागद्वेषरूप चित्त, रागद्वेषरूप भाव व रागद्वेषरूप परिणाम सर्व कह सक्ते हैं। यह सर्व ही आत्माके अशुद्ध भावको प्रकट करनेवाले हैं ॥ ॥ २८९ ॥

इस प्रकार पहले ही दो सूत्रोंमें यह व्याख्यान किया गया कि अहिंसा सत्यादि व्रतोंके द्वारा पुण्य और हिंसा असत्य आदि अव्रतोंके द्वारा पापका बंध होता है। उन ही दोनों सूत्रोंका विशेष वर्णन करनेके लिये यह कहा कि बाह्य चेतन और अचेतन पदार्थ रागादि अध्यवसानके निमित्त कारण हैं तथा रागादि अध्यवसान नवीन कर्मबंधका कारण है। इस कथनकी मुख्यतासे १३ गाथाएं पूर्ण हुईं। इसतरह समुदायसे १५ सूत्रोंके द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

इसके पीछे कहते हैं कि अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधि स्वरूप निश्चय नयकी अपेक्षासे विकल्प मई व्यवहार नयको बाधा आती है। इस कथनकी मुख्यतासे ६ गाथाओं तक वर्णन है-

गाथाः—एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ २९०॥

संस्कृतार्थः—एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयसंलीना मुनिनः प्राप्नुवंति निर्वाणं॥ २९०॥

सामान्यार्थः—ऊपर कहे प्रकारसे ऐसा जानो कि निश्चय नयकी अपेक्षासे व्यवहार नय निषेधने योग्य है क्योंकि निश्चय नयमें लवलीन मुनि निर्वाणका लाभ करते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थ**—(एवं) पूर्वमें कहे प्रकारसे (ववहार णओ) परद्रव्यके आश्रयको लेनेवाली व्यवहार नय (णिच्छयणएण) शुद्ध आत्मीक द्रव्यको आश्रय करनेवाली निश्चय नयकी अपेक्षासे (पडिसिद्धो) निषेधने योग्य है (जाण) ऐसा जानो क्योंकि (णिच्छयणयसल्लीणा) निश्चयमें लीन, आश्रयीभूत व ठहरे हुए (मुणिणो) मुनि व तपोधन (णिव्वाणं पावंति) मुक्तिका लाभ करते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक शिष्यकी अपेक्षासे प्रारंभकी अवस्थामें अर्थात् विकल्प सहित दशामें अर्थात् श्रावक व मुनिके बाह्य आचरणोंका अभ्यास करते हुए यह व्यवहार नय निश्चयको सिद्ध करनेवाली है इससे प्रयोजनवान है—कार्यकारी है तथापि जो विशुद्ध ज्ञान, दर्शन लक्षणको रखनेवाले शुद्ध आत्माके स्वरूपमें ठहरे हुए मुनि, ध्यानी व तपस्वी हैं उनके लिये यह व्यवहार नय प्रयोजनवान नहीं है। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि तब अप्रयोजनीय क्यों है? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि इसको आश्रय वह अभव्य भी लेता है जो कर्मोंसे मुक्त नहीं होता, अर्थात् यह नय आत्माको कर्मोंसे छुड़ानेमें कारणरूप नहीं है। **भावार्थः**—वास्तवमें विचार किया जाय तो शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका उपाय केवल शुद्ध आत्माका अभेदरूपसे श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव है यह निश्चय मोक्ष मार्ग है, जो इस मार्गमें ठहर जाते हैं उनके लिये फिर भेदरूप रत्नत्रय अर्थात् व्यवहार धर्म कुछ विशेष कार्यको सिद्ध नहीं कर सक्ता इसीसे आचार्यने कहा है कि शुद्धात्माको आश्रय करनेवाली निश्चय नयके मुकाबलेमें व्यवहार नय तुच्छ है क्योंकि जो मुनि व्यवहारके आश्रय ही रहते हैं वे कभी मोक्ष नहीं पाते। किन्तु जो व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निश्चय रत्नत्रयको पाकर अभेद और

निर्विकल्प आत्मसमाधिमें लीन होकर परम धर्मध्यान व शुक्लध्यान करते हैं वे ही तपस्वी संसार सागरसे पार हो जाते हैं। अभव्य जीव निश्चय स्वरूपका अनुभव न कर केवल व्यवहारके ही आलम्बनमें रहते हैं। इसलिये वे कभी भी मुक्तिको नहीं पाते। तो भी जबतक व्यवहारमें परिणमन हो रहा है तबतक यह व्यवहार नय कार्यकारी है अर्थात् निश्चय नयका साधक मानकर जो इसका सेवन करते हैं वे निश्चयकी प्राप्ति करके फिर इससे उदासीन हो जाते हैं ऐसा जानना ॥ २९० ॥

आगे कहते हैं कि यह व्यवहारनय अप्रयोजनभूत क्यों है:—

गाथाः—**वदसमिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।**
कुव्वंतोवि अभविओ अण्णाणी मिच्छादिट्ठीय ॥ २९१ ॥

संस्कृतार्थः—व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २९१ ॥

सामान्यार्थः—पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, शील, तप आदि व्यवहार धर्म जिनेन्द्र देवोंने कहा है। अभव्य जीव इनको करता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टी रहता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जिणवरेहिं) कर्मोंको जीतनेवाले जिनेन्द्र देवोंने (वदसमिदी गुत्तीओ सीलतवं) व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदिको (प्रज्ञप्तं) व्यवहारधर्म कहा है। (अभविओ) अभव्यजीव (कुव्वन्तोवि) मंद मिथ्यात्व और मंद कषायके उदयसे इन व्रतादिकोंको पालता हुआ भी (अण्णाणी) अज्ञानी (य) और (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टी ही रहता है क्योंकि उसके मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी कषाय इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षयोपशम या क्षय नहीं होता इससे उसके यह श्रद्धान नहीं होता कि शुद्धात्मा ही उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है अर्थात् निश्चय सम्यक्त्वके अभावमें उसके यथार्थ मोक्ष मार्ग नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि निश्चय सम्यक्त्वके विना व्यवहार मोक्षमार्ग निर्वाणका कारण नहीं है। **भावार्थ**—अभव्य जीव व्यवहार रत्नत्रयको शास्त्रके अनुसार यथार्थ पालता है तो भी मोक्षमार्गी नहीं होता अर्थात् मिथ्यादृष्टी ही बना रहता है क्योंकि उसके निश्चयनयसे जो रत्नत्रयका स्वरूप है वह नहीं पाया जाता है। अतएव महा कठिन तप व ध्यान करता हुआ भी संसारी ही रहता है, इससे यह सिद्ध किया गया कि व्यवहारनय निश्चयनयकी अपेक्षा विना तो कुछ भी कार्यकारी नहीं है परन्तु निश्चयनयकी अपेक्षाको लिये हुए साधक अवस्थामें कार्यकारी हैं पर जब निश्चय स्वरूपका लाभ है तब यह व्यवहारनय कुछ कर नहीं सक्ती ॥ २९१ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि उस अभव्यके ग्यारह अंग तकका शास्त्रज्ञान रहता है वह अज्ञानी कैसे हो सक्ता है? इसका समाधान आचार्य करते हैं:—

गाथाः—मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥ २९२ ॥

संस्कृतार्थः—मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥ २९२ ॥

सामान्यार्थः—मोक्षका नहीं श्रद्धान करता हुआ अभव्य जीव जो कुछ अध्ययन करता है सो करो परन्तु उसका शास्त्र पाठ यथार्थ गुणको नहीं करता क्योंकि उसको शुद्धात्माके ज्ञानका श्रद्धान नहीं होता। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(मोक्खं) मोक्ष तत्त्वको (असद्दहंतो) नहीं श्रद्धान करता हुआ (अभविय सत्तो) अभव्य जीव (दु जो अधीएज्ज) यद्यपि अपनी प्रसिद्धि, पूजा व लाभके वास्ते श्रुतका अध्ययन करता है सो करो तथापि (णाणंतु असद्दहंतस्स) शुद्धात्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निर्विकल्प समाधिके द्वारा अनुभवने योग्य शुद्धात्माके स्वरूपको नहीं श्रद्धानमें रखनेवाले अर्थात् निजात्मीक तत्त्वकी रुचि न करनेवाले जीवके (पाठो) शास्त्रका पाठ (गुणं ण करेदि) शुद्धात्माका अनुभवरूप गुणको नहीं करता है। यह अभव्य जीव दर्शन और चारित्र मोहनीयके उपशम, क्षयोपशम तथा क्षयके विना शुद्धात्मस्वरूपका श्रद्धान नहीं कर पाता है। निश्चय सम्यक्त्वके निवारक प्रकृतियोंका उपशम इस अभव्य जीवके नहीं होता क्योंकि इस जीवके अभव्यनामा पारिणामिक भावका सद्भाव है। भावार्थ—इस अभव्य जीवका कुछ ऐसा ही विलक्षण स्वभाव है कि जिससे इसके तत्त्वकी रुचि नहीं होती, इसीलिये उसका ११ अंग १० पूर्व तकका ज्ञान केवल शब्द ज्ञान मात्र है। शुद्धात्माके श्रद्धानके विना वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान नाम पाता है ॥ २९२ ॥

आगे कहते हैं कि अभव्य जीवके पुण्यरूप धर्मका श्रद्धान तो है—

गाथाः—सद्दहदि य पत्तयदि य रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं णहु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २९३ ॥

संस्कृतार्थः—श्रद्दधाति प्रत्येति च रोचयति तथा पुनश्च स्पृशति।
धर्मं भोगनिमित्तं न खलु स कर्मक्षयनिमित्तं ॥ २९३ ॥

सामान्यार्थः—अभव्य जीव भोगोंके निमित्त धर्मका श्रद्धान करता है, मानता है तथा उसकी रुचि करता व उसका आचरण करता है किन्तु निश्चयसे निश्चय धर्मका श्रद्धान ज्ञान, आचरण कर्मोंके नाशके लिये नहीं करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—अभव्य जीव (भोगणिमित्तं) अहमिन्द्र, इन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदिके भोगोंके वास्ते अर्थात् धर्मके सेवनसे ऐसे २ उत्तमपद प्राप्त हो जायगे ऐसा मान करके (धम्मं) पुण्यरूप शुभोपयोग धर्मको (सद्दहदि) श्रद्धानमें लेता है (पत्तयदि) उसको ज्ञानरूपसे समझता है (रोचेदि य) विशेष श्रद्धान करके उसकी रुचि करता है (तह पुणोवि फासेदि) तथा उस धर्मका आचरण भी करता

है (णहु सो कम्मक्खयणिमित्तं) परन्तु शुद्धात्माका अनुभवरूप निश्चय धर्मको न श्रद्धान करता न जानता न आचरण करता है जिससे संसारके कारण कर्मोंका क्षय हो। भावार्थः—अभव्यजीवको निश्चय आत्मीक धर्मका श्रद्धान नहीं होता इसलिये केवल व्यवहार धर्मको सेवन करता है जिससे पुण्य बांधकर संसारमें भ्रमणका पात्र बना रहता है इस कारण निश्चय धर्म ही मोक्ष मार्ग है॥ २९३॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि व्यवहार नय किसतरह निषधने योग्य है तथा निश्चय नय कैसे व्यवहारको निषेध करता है इसका समाधान आचार्य करते हैं-

गाथाः—आयारादीणाणं जीवादीदंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो॥ २९४॥
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥ २९५॥

संस्कृतार्थः—आचारादिज्ञानं जीवादिदर्शनं च विज्ञेयं।
षट्जीवानां रक्षा भण्यते चरित्रं तु व्यवहारः॥ २९४॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरो योगः॥ २९५॥

सामान्यार्थः—आचारांग आदि शास्त्रोंका ज्ञान सो ज्ञान है, जीवादि तत्वोंका श्रद्धान है सो दर्शन है, छः प्रकार जीवोंकी रक्षा सो चारित्र है ऐसा व्यवहार नय कहती है ऐसा जानो। परन्तु निश्चय नय बतलाती है कि मेरा ज्ञान निश्चयसे आत्मा है, मेरा श्रद्धान और चारित्र निश्चयसे आत्मा है तथा मेरा प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग आत्मा है और संवर तथा योग भी आत्मा है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(आयारादी) आचार सूत्र आदि ग्यारह अंगका शब्दशास्त्र, ज्ञानका आश्रय होनेके कारणसे (णाणं) ज्ञान है (च) और (जीवादी) जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ऐसे नव पदार्थ श्रद्धानके विषयीभूत हैं तथा निश्चय सम्यक्त्वके आश्रय रूप व निमित्तरूप हैं इससे (दंसणं) व्यवहारसे सम्यक्त्व हैं (छज्जीवाणं) पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस इसतरह षट् कायके जीवोंकी (रक्खा) दया पालना चारित्रके आश्रयरूप व निमित्त कारण होनेसे व्यवहारसे (चरित्रं) चारित्र है ऐसा (तु ववहारो) कथन तो व्यवहार नयका है अर्थात् शास्त्रपाठ, जीवादि तत्वकाश्रद्धान और षट् कायोंकी रक्षा सो व्यवहार मोक्ष मार्ग कहा गया है। (आदा खु) अपना शुद्धात्मा ही ज्ञानका आश्रय व निमित्त होनेमें (मज्झणाणे) निश्चय नयसे मेरा सम्यग्ज्ञान है (आदामे दंसणे) अपना शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शनका आश्रय व कारण होनेसे निश्चयसे सम्यग्दर्शन है (चरित्तेय) तथा अपना शुद्ध आत्मा ही चारित्रका

आश्रय व हेतु होनेके कारणसे निश्चयसे सम्यक्चारित्र है। (आदा पच्चक्खाणे) शुद्ध आत्मा ही राग द्वेष आदि विभाव भावोंका परित्यागरूप लक्षणमई प्रत्याख्यानका आश्रय तथा कारण होनेसे निश्चयसे प्रत्याख्यान है। (आदामे संवरे) अपना शुद्धात्मा ही अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति केवलसे हर्ष विषाद आदि कुभावोंके रोकनेरूप लक्षणको रखनेवाले संवरका आश्रय होनेसे निश्चयसे संवर है तथा शुभ अशुभ चिंताका रुकनारूप लक्षणको धरनेवाले परम ध्यानमई योगका आश्रय होनेसे निश्चयसे यह आत्मा ही परम योग है। इसतरह शुद्ध आत्माको आश्रय लेकर निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप जानना योग्य है इसतरह व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप कथन किया गया। यहां निश्चयनय प्रतिषेधने अर्थात् मना करनेवाला है और व्यवहार प्रतिषेध योग्य अर्थात् मना करनेके योग्य है क्योंकि निश्चय मोक्षमार्गमें तिष्ठनेवाले जीवोंके नियमसे मोक्ष होता है परन्तु व्यवहार मोक्षमार्गमें तिष्ठनेवाले जीवोंके होय वा न होय क्योंकि यदि वह व्यवहार मोक्षमार्गी भव्य मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, व क्षयोपशमसे शुद्धात्माको उपादेय मान कर वर्त्तन करता है तब उसे अवश्य मोक्ष होता है और यदि वह सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षयोपशम व क्षय नहीं कर सका और शुद्धात्मा ही उपादेय है इस रूप नहीं वर्त्तन करता है तब उसे कदापि मोक्ष नहीं होता है। इसका भी यही कारण है कि सात प्रकृतियोंके उपशम आदिके अभाव होनेपर अनंत ज्ञानादि स्वरूप आत्मा ही उपादेय है ऐसा जान कर नहीं वर्त्तन करता है और श्रद्धान करता है क्योंकि यह अवश्य है कि जो कोई अनंत ज्ञानादि स्वरूप आत्माको उपादेय मानके श्रद्धान करता है उसके सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम अवश्यमेव विद्यमान है और वह अवश्य भव्य है। जिसके पूर्वमें कहे प्रमाण शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा श्रद्धान नहीं है उसके सात प्रकृतियोंका उपशमादिक भी नहीं होता ऐसा जानना योग्य है। इसलिये वह मिथ्यादृष्टी ही है। इसकारण अभव्य जीवके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंका उपशम आदिका होना कदाचित् भी संभव नहीं है यह तात्पर्य है। प्रयोजन यह है कि निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय धर्ममें ठहर कर व्यवहारको त्यागना योग्य है किन्तु यदि विचार किया जाय तो उस ध्यानीकी मन, बचन, कायकी गुप्तिरूपी अवस्थामें व्यवहार स्वयमेव ही नहीं है। भावार्थः—निश्चय मोक्ष मार्ग ही साक्षात् मोक्ष मार्ग है। जब कोई निश्चय मोक्ष मार्गरूप निर्विकल्प समाधिरूप भावमें लवलीन होता है तब वहां व्यवहार मोक्षमार्ग स्वयं ही छूट जाता है। व्यवहारका साधन निश्चयकी प्राप्तिके लिये ही है। अतः जब निश्चयका लाभ हो गया तब व्यवहार अकार्यकारी है ऐसा जान व्यवहारके द्वारा निश्चय धर्मकी प्राप्तिका यत्न करना जरूरी है॥ २९४–२९९॥

इसतरह निश्चय नयके द्वारा व्यवहारका निषेध किया गया ऐसा कहते हुए ६ सूत्रोंसे पांचवा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे कहते हैं कि आहार लेनेके विषयमें मान, अपमान, सरस, नीरस आदिकी चिंता रूप राग द्वेष न करनेके कारणसे आहारको लेते हुए ज्ञानी जीवके आहारकृत-बंध नहीं होता है:--

गाथाः---आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं॥ २९६॥
आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा॥ २९७॥

संस्कृतार्थः---आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणाः खलु ये नित्यं॥ २९६॥
आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः।
कथमनुमन्यते अन्येन क्रियमाणाः परस्य गुणाः॥ २९७॥

सामान्यार्थः---स्वयंपाक अर्थात् रसोईके द्वारा उत्पन्न आहारको आधा कर्म कहते हैं। आधा कर्म आदि जो यह पुद्गल द्रव्यके दोष हैं वे नित्य ही पुद्गल द्रव्यके गुण हैं उनको ज्ञानी कैसे कर सक्ता है और यह आधा कर्म आदि दोष दूसरेके द्वारा किये गए हैं, ऐसा होनेपर ज्ञानी उनकी अनुमोदना कैसे कर सक्ता है? शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(आधा कम्मादीया) आधाकर्म आदिक (जेइमे) जो यह (पुग्गल दव्वस्स दोसा) शुद्धात्मासे भिन्न पर भोजनरूप पुद्गल द्रव्यके पचन पाचन आदि क्रियारूपी दोष हैं तथा (जे) जो (णिच्चं) नित्य (परदव्वगुणाहु) परद्रव्य आहाररूप पुद्गल द्रव्यके गुण हैं (णाणी) सम्यग्ज्ञानी अनुभवी (ते) उन आधाकर्म आदि दोषोंको (कह कुव्वदि) किसतरह करेगा अर्थात् नहीं करेगा। (आधा कम्मादीया जे इमे पोग्गल दव्वस्स दोसा) आधाकर्म आदि जो यह पुद्गल द्रव्यके दोष हैं सो (अण्णेण) अपनेसे अन्य किसी गृहस्थके द्वारा (कीरमाणा) किये गए हैं तथा (परस्सगुणा) आत्मासे भिन्न पर पुद्गलके गुण हैं (कहं) ज्ञानी किसतरह (अणुमण्णदि) उनकी अनुमोदना करेगा अर्थात् नहीं करेगा क्योंकि विकल्प रहित समाधि भावके होते हुए उसके मन, वचन, काय व कृत कारित अनुमोदनासे आहार विषयके विचारका अभाव है। भावार्थः-यहां साधुकी अपेक्षा कथन है कि भोजन सम्बन्धी व्यवस्थाको न तो वह करता है न कराता है और न उसकी अनुमोदना करता है। गृहस्थ अपने लिये जो भोजन बनाता है उसीमेंसे मुनि महाराज भक्तिपूर्वक दिये जानेपर उदर गर्तके पूरनेके निमित्त भोजन करते हैं। श्री मुनिके यह विकल्प नहीं है कि गृहस्थ भोजन इस प्रकार बनावे व बनाया तो अच्छा किया इसलिये रसोईकी क्रियामें जो कुछ पाप हुआ है उसके दोषी साधु नहीं हैं वे इस प्रकार विकल्पसे दूर हैं। साधु महाराज केवल हाथ पर रक्खे हुए ग्रासको विना स्वाद देखे खालेते हैं इसलिये आहारमें राग व द्वेष न करनेके कारण ज्ञानी मुनिके आहारको करते हुए

आहार सम्बन्धी आरंभका दोष नहीं है। साधुजन परम उदासीन भावसे क्षुधा वेदना शान्त्यर्थ जो गृहस्थने शुद्धाहार दिया उसे ले अपने समाधि भावसे डिगते नहीं, इससे बंधको प्राप्त नहीं होते॥ २९६-२९७॥

आहार मुनिसे लेनेके पहले उस पात्रके निमित्त जो भोजन पान आदि बनाया जाता है उस भोजनको औपदेशिक कहते हैं इस औपदेशिक सहित जो आधाकर्म है उसका वर्णन आगेके दो गाथाओंमें कहते हैं:—

गाथाः—आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥ २९८॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥ २९९॥

संस्कृतार्थः—आधाकर्मौपदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं॥ २९८॥
आधाकर्मौपदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं।
कथं तन्मम कारितं यन्नित्यमचेतनमुक्तं॥ २९९॥

सामान्यार्थः—परके उद्देश्यसे किया हुआ यह आधाकर्म पुद्गलमयी द्रव्य है तथ नित्य ही अचेतन है ऐसा कहा गया है तो वह मेरी की हुई कैसे होसक्ती है अथवा मेरी कराई हुई कैसे होसक्ती है? शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(उद्देसियं आधाकम्मंच) दूसरेके अभिप्रायसे अर्थात् पात्रके निमित्त किया हुआ भोजन (इमं पोग्गलमयं दव्वं) जो यह पुद्गलमई द्रव्य है (जं णिच्चं अचेदणं) व जिसको नित्य ही शुद्ध आत्म द्रव्यसे जुदा होनेके कारण अचेतन (वुत्तं) कहा गया है (तं मम कदं कह होदि) सो द्रव्य ज्ञानी विचारता है कि मेरी की हुई कैसे होसक्ती तथा (तं मम कारविदं कह वह द्रव्य मेरी कराई हुई कैसे होसक्ती है। अर्थात् ज्ञानीके द्वारा न वह आहार कराया जाता है और न किया जाता है इसका हेतु यह है कि निश्चय रत्नत्रयस्वरूप भेदज्ञानके होते हुए आहारके सम्बन्धमें मन, वचन, कायसे, कृत कारित अनुमोदना का अभाव है। भावार्थः—कोई दातार पात्रको दानदेनेके लिये ऐसी कल्पना करे कि मैं पात्रके लिये अमुक २ भोजन बनाऊं तो उस भोजनको औद्देशिक आधाकर्म कहते हैं। इस आधाकर्मके होते हुए भी यदि मुनि शांतभावसे उस भोजनको करले तो मुनिके उस भोजन कृत बंधका अभाव है जब कि अपनी कल्पना करनेके कारण दातार अवश्य उस दोषका भागी है। मुनि महाराजकी अपने रत्नत्रयमें ही रुचि है इससे वह आहार विषयक रसनीरसपने आदिका विचार नहीं करते। इस तरह औपदेशिक व्याख्यानकी मुख्यतासे दो गाथाएँ पूर्ण हुई। यहां यह अभिप्राय है कि भोजनके पीछे, पहले या

भोजन करते समय मुनिके लिये आहार आदिके विषयमें मन, वचन, कायसे कृतकारित अनुमोदनारूप नौ विकल्पोंसे रहित शुद्ध आहार होता है अर्थात् मुनि अमुक आहारके होनेके विषय मन, वचन, कायसे स्वयं करना, कराना व उसकी अनुमोदना कुछ भी विकल्प नहीं करते, इसीसे उन मुनियोंके दूसरे गृहस्थीके द्वारा किये हुए आहार आदिके सम्बन्धमें कर्मोंका बंध नहीं होता क्योंकि बंध परिणामोंके आधीन है। गृहस्थी उसके बनाने आदिके विकल्प करता है इससे बंधता है, मुनि महाराज ऐसे विकल्प नहीं करते इससे नहीं बंधते यदि ऐसे माने कि दूसरेके द्वारा किये गए हुए परिणामसे दूसरेके बंध हो जाय तो कहीं भी, किसीको भी निर्वाणका लाभ नहोवे, क्योंकि वस्तुएं सर्व परिणमनशील हैं॥ २९८–२९९॥

ऐसा ही अन्य ग्रंथमें कहा है:

णवकोडि कम्म सुद्धो पच्छा पुरदोय संपदिय काले।
पर सुह दुःख णिमित्त वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण॥

अर्थात् तीन कालमें नवकोटि शुद्ध भोजनको जो मुनि लेता है सो पीछे, पहले व वर्तमानमें नव कोटि शुद्ध है और यदि वह दूसरोंके सुख व दुःखका निमित्त हो और इस निमित्त होनेके कारण वह शुद्ध भोजी मुनि कर्म बंधको प्राप्त करे तो उसको निर्वाणका लाभ नहीं हो सक्ता–भावार्थः–यदि मुनि शुद्ध आहार करते हों और उस समय कोई ईर्षा व ग्लानिसे दुःखी होता होय व कोई वह वस्तु देखकर सुखी होवे तो उससे श्री मुनिको पाप या पुण्यका बंध नहीं होगा। वह विकल्प करनेवाला स्वयं बंधको प्राप्त होगा। मुनि यद्यपि निमित्त हैं पर मुनिके परिणाम उसको सुखी या दुःखी करनेके नहीं हैं इसलिये मुनिके बंध न होगा। जो विकल्प करता है वही बंधता है इस तरह ज्ञानी जीवोंके आहार लेते हुए आहार कृत कर्मबंध नहीं होगा ऐसे कहते हुए ४ गाथाओंसे छठा स्थल पूर्ण हुआ–

आगे कहते हैं कि रागद्वेषादिक भाव निश्चयसे कर्म्म बंधके कारण कहे गए हैं उन रागादि भावोंका कारण क्या है ऐसा पूछनेपर आचार्य उत्तर करते हैं–

गाथाः—जह फलिहमणि विसुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं॥ ३००॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं॥ ३०१॥

संस्कृतार्थः—यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः॥ ३००॥
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः॥ ३०१॥

सामान्यार्थः—जैसे स्फटिकमणि निर्मल होती है सो स्वयं लाल रंग आदि अवस्थासे

नहीं परिणमन करती है परंतु अन्य जपाकुसुम आदि लालरंग पीलेरंगके द्रव्योंके निमित्त लाल पीली दिखलाई पड़ती है। इसीतरह ज्ञानी शुद्ध निर्विकार है वह स्वयं राग द्वेष आदि भाव रूप नहीं परिणमन करता है किन्तु उससे अन्य पुद्गलमय मोहनीय आदि कर्म पुद्गलोंके उदयके निमित्तसे राग द्वेषरूप हो जाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (फलियमणि) स्फटिकमणि (विसुद्धो) निर्मल बाह्यकी उपाधिसे रहित हो सो (सयं) अपने आप ही (रागमादीहिं) लाल रंग आदि अवस्थारूप (न परिणमदि) नहीं परिणमन करता है (दु) परंतु (सो) सो मणि (अण्णेहिं रत्तादीहिं दव्वेहिं) अन्य जपा पुष्प आदि बाह्य द्रव्योंके निमित्तसे (राइज्जदि) रक्तवर्णको परिणमन कर जाती है (एवं) इसीतरह (णाणी) सम्यग्ज्ञानी पुरुष (सुद्धो) शुद्ध होता हुआ (सयं) स्वयं अपने उपाधि रहित चैतन्यके चमत्कारमई स्वभावसे जपापुष्पके स्थानमें कर्मोंके उदयरूप परकी उपाधिके विना (रागमादीहिं) रागादि विभाव परिणामरूप (ण परिणदि) नहीं परिणमन करता है (दु) परंतु पश्चात् (सो) वही ज्ञानी अपने स्वाभाविक आत्मीक स्वभावसे च्युत होकर (अण्णेहिं रागादीहिं दोसेहिं) अन्य कर्मोंके उदयरूप रागादि दोषोंके निमित्तसे (राइज्जदि) राग द्वेषरूप परिणमन करता है इससे यह सिद्ध हुआ कि यह रागादि भाव कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए हैं। ज्ञानी जीवके पैदा किये कार्य नहीं हैं। भावार्थः—जैसे निर्मल स्फटिक मणिमें उपाधि विना स्वच्छता झलकती है ऐसे ही इस निर्मल ज्ञानी आत्मस्थ आत्मामें वीतरागता झलकती है परन्तु जैसे रंगकी उपाधि लगनेसे वह मणि लाल पीली मालूम होती है ऐसे ही राग द्वेष मोह कर्मोंके उदयके निमित्तसे इस ज्ञानी जीवका आत्मस्थ रहना होता नहीं और यह गिरकर रागद्वेष दोषरूप परिणमन कर जाता है इससे यह बतलाया कि यह रागादि इस ज्ञानी आत्माके निज भाव नहीं हैं॥ ३००—३०१॥

इसतरह चिदानंदमई एक लक्षण स्वरूप आत्मामें स्थितिमई भावको जागता हुआ ज्ञानी जीव रागद्वेषादि भावोंको नहीं करता है इससे रागादिके उत्पत्तिके कारणभूत नवीन द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं होता है इसी बातको कहते हैं:—

गाथाः—णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं॥ ३०२॥

संस्कृतार्थः—नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वयमेवात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ३०२॥

सामान्यार्थः—ज्ञानी रागद्वेष मोह व कषाय भाव स्वयं अपने आत्माके नहीं पैदा करता है इससे वह ज्ञानी इन रागादि भावोंका कर्ता नहीं होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ (णाणी) सम्यग्ज्ञानी आत्मा (राग दोस मोहं) रागद्वेषादि विभावोंसे रहित शुद्ध आत्मीक स्वभावसे पृथक् अर्थात् भिन्न रागद्वेष मोहको (वा कसायभावं) अथवा क्रोधादि कषाय भावको

(सयं) स्वयं कर्मोंके उदय रूप सहकारी कारणके बिना शुद्ध आत्मीक भावके द्वारा (अप्पणो) अपने आत्माके सम्बन्धमें (णविकुव्वदि) नहीं करता है। (तेण) इस कारणसे (सो) वह ज्ञानी (तेसिं भावाणं) उन रागद्वेषादि भावोंका (कारगोण) कर्त्ता नहीं होता है। भावार्थः—तत्वज्ञानी रागादि परिणतिको अपनेसे भिन्न अनुभव करके शुद्ध आत्मीक स्वभावमें तल्लीन रहता है इससे स्वयं अपनेमें रागद्वेषादि परिणतिको नहीं करता है इससे रागादि भावोंका कर्त्ता नहीं होता है ॥ ३०२ ॥

आगे कहते है कि अज्ञानी जीव शुद्ध स्वभावरूप आत्माको नही अनुभव करता हुआ रागद्वेषादि भावोंको करता है इससे आगामी कालमें रागद्वेषादि भावोंको उत्पन्न करनेवाले नवीन कर्मोंका कर्त्ता होता है ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथाः—रागह्मिय दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणममाणो रायादी बंधदि पुणोवि ॥ ३०३ ॥

संस्कृतार्थः—रागे दोषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ ३०३ ॥

सामान्यार्थः—राग, द्वेष व कषायरूप द्रव्य कर्मोंके उदयसे जो रागादि विभाव परिणाम होते हैं उनसे परिणमन करता हुआ यह जीव फिर भी रागादिरूप द्रव्यकर्मोंको बांधता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(रागह्मिय) रागरूप द्रव्यकर्मके उदय होने पर (दोसह्मिय) द्वेषरूप द्रव्यकर्मके उदय होनेपर (चेव कसायकम्मेसु) व कषायरूप द्रव्यकर्मोंके उदय होने पर (जे भावा) आत्मस्वभावसे भ्रष्ट जीवके जो जीव सम्बन्धी रागादि भाव या परिणाम होते हैं (तेहिं दु परिणममाणो) उन्हीं रागादिकोंके द्वारा मैं रागादिरूप हूं, इस अभेद प्रतीति करके परिणमन करते हुए (पुणोवि) फिर भी वह रागी द्वेषी जीव (रायादी) आगामी कालमें रागादि परिणामोंको उत्पन्न करनेवाले द्रव्यकर्मोंको (बंधदि) बांधता है इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादि भावोंका कर्त्ता अज्ञानी जीव है। भावार्थः—अज्ञानी जीव अपने ज्ञान स्वभावमें स्थिर न रह करके जैसे चारित्र मोहका तीव्र उदय होता है वैसे रागद्वेषरूप परिणामोंको कर लेता है। उन भावोंके निमित्तसे मैं रागी, मैं द्वेषी इत्यादि प्रतीति करता है इससे फिर भी ऐसे द्रव्यकर्मोंको बांधता है जिनका आगामी कालमें फल रागादिका उत्पन्न करना होगा ॥ ३०३ ॥

आगे इसी अर्थको और भी दृढ़ करते हैं-

गाथाः—रागह्मिय दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
ते मम दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ॥ ३०४ ॥

संस्कृतार्थः—रागे च दोषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
ते मम तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ ३०४ ॥

सामन्यार्थः—राग, द्वेष व कषाय कर्मोंमें जो भाव होते हैं वे भाव मेरे हैं ऐसा परिणमन करता हुआ आत्मा रागादिकोंका बंध करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(रागह्मिय) रागरूप द्रव्यकर्मके (दोसह्मिय) द्वेषरूप द्रव्यकर्मके (चेव) ऐसे ही (कसायकम्मेसु) कषायरूप द्रव्य कर्मोंके उदय होनेपर (जे भावा) जो रागद्वेषादि भाव होते हैं (ते) वे भाव (मम) मेरे आत्माके हैं (परिणमंतो) ऐसा परिणमन करनेवाला या माननेवाला (चेदा) आत्मा (रागादि) शुद्धात्माकी भावनासे रहित होनेके कारणसे आगामी रागादि भावोंको उत्पन्न करनेवाले नवीन द्रव्यकर्मोंको (बंधदे) बांधता है॥ भावार्थः—वह रागद्वेष कषाय मेरे ही भाव हैं ऐसी बुद्धि रखनेसे वह अज्ञानी नवीन द्रव्यमोह कर्मको बांधता है जिसके फलसे फिर भी रागादि भावका होना संभव है। इस ग्रंथमें बहुत स्थानोंपर रागद्वेष मोहका व्याख्यान किया गया है सो मोह शब्दसे दर्शन मोहको लेना जो कि मिथ्यात्व आदि भावको पैदा करनेवाला है। राग द्वेष शब्दोंसे क्रोधादिक कषायोंको उत्पन्न करनेवाले चारित्र मोहको ग्रहण करना योग्य है। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि मोह शब्दसे मिथ्यात्व आदि भावोंका पैदा करनेवाला दर्शन मोह लिया जाय इसमें कोई दोष नहीं है किन्तु द्वेष शब्दसे चारित्र मोह कैसे कहा जा सक्ता है। इस पूर्व पक्षका उत्तर करते हैं:—कषाय वेदनीय नामके चारित्र मोहके मध्यमें क्रोध और मान द्वेषके अंग हैं क्योंकि यह द्वेषको पैदा करनेवाले हैं। माया और लोभ रागके अंग हैं। क्योंकि रागको पैदा करनेवाले हैं। नोकषाय वेदनीय नामके चारित्र मोहमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद तथा हास्य, रति यह पांच नोकषाय रागके अंग हैं क्योंकि राग भावको पैदा करनेवाले हैं। शेष ४ नोकषाय भय, अरति, जुगुप्सा और शोक द्वेषरूप हैं इस कारण मोह शब्दसे दर्शन मोह कहा जाता है और रागद्वेषसे शब्दोंसे चारित्र मोह कहा जाता है। ऐसा सर्व ठिकाने जानना योग्य है। इस तरह कर्म बंधके कारण रागादिक हैं और रागादिकोंका कारण निश्चयसे कर्मोंका उदय है परन्तु ज्ञानी जीव नहीं है। ऐसे व्याख्यानकी मुख्यतासे सातवें स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुई॥२०४॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि सम्यग्ज्ञानी जीव रागादि भावोंका अकर्ता किस प्रकारसे है। उसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

गाथाः—अपडिक्कमणं दुविहं अपचक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा॥ २०५॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपचक्खाणंपि।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा॥ २०६॥
जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं च दव्वभावाणं।
कुव्वदि आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वो॥२०७॥

संस्कृतार्थः—अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं।
एतेनोपदेशेनाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ ३०५ ॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथैवाप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेनाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ ३०६ ॥
यावन्न प्रत्याख्यानमप्रतिक्रमणं च द्रव्यभावयोः।
करोत्यात्मा तावत्तु कर्त्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ ३०७ ॥

शब्दार्थ सहित विशेपार्थः—(अपड़िक्कमणं दुविहं) प्रतिक्रमणका न करना सो अप्रतिक्रमण है। पूर्वमें अनुभव किये हुए विपयोंका अनुभव व रागादिरूप भाव सो अप्रतिक्रमण है। पूर्व अनुभूत रागभावोंको स्मरणकर उनको मिथ्या होहु ऐसी भावना करनी सो प्रतिक्रमण है। मेरे पाप मिथ्या हों ऐसी भावना न करके उन पापोंको व रागादि रूप होनेवाली पूर्वकी स्थितिको याद कर उसमें तन्मय होना सो अप्रतिक्रमण है, यह दो प्रकारका है—एक द्रव्य रूप एकभाव रूप। मन सम्बन्धी विचार भाव रूप, वचन व कायसे उसका प्रकाश सो द्रव्य रूप है। (तहेव) तैसे ही (अपच्चक्खाणं विण्णेयं) अप्रत्याख्यानको जानना योग्य है। आगामी कालमें रागद्वेपादि पंचेन्द्रियोंके विपयोंकी इच्छा करनी सो अप्रत्याख्यान है। आगामी कालमें विषयोंके त्यागके भावको प्रत्याख्यान कहते हैं इससे उल्टा अप्रत्याख्यान है सो भी द्रव्य और भाव रूपसे दो प्रकार है (एदेणुवदेसेण दु) इसी रूप परमागमके उपदेशसे ही (चेदा) तत्त्वज्ञानी आत्मा (अकारगो) इन दो प्रकार अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानोंसे रहित होनेके कारण द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है ऐसा (वण्णिदो) कहा गया है। (अपड़िक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणंवि) क्योंकि अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दोनों ही द्रव्य और भाव रूपसे दो २ प्रकार हैं (एदेणुवदेसणेदु) इसी ही परमागमके उपदेशसे यह बंधके कारण हैं इसीसे ज्ञात होता है कि (चेदा) द्रव्य और भाव रूप अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानसे परिणमन होता हुआ अज्ञानी जीव शुद्धात्माकी भावनासे गिर करके (कारगो) द्रव्यकर्मोंका करनेवाला है ऐसा (वण्णिदो) कहा गया है। तथा इससे विपरीत ज्ञानी आत्मा कर्मोंका कर्त्ता नहीं है। (जाव) जिस समयतक (दव्वभावाणं ण पच्चक्खाणं अप्पडिक्कमणं) द्रव्य और भावरूप विकार रहित स्वसंवेदन लक्षणस्वरूप प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नहीं है (ताव दु) उसही समय तक ही (आदा कुव्वदि) परम समाधिमई भावको न पाकर यह अज्ञानी जीव कर्मोंको करता है (सो कत्ता होदि णादव्वो) इस कारणसे वह कर्मोंका कर्त्ता होता है ऐसा जानना चाहिये। यहां यह तात्पर्य है कि अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यानरूप भाव ही कर्मोंके करनेवाले हैं। ज्ञानी जीव कर्मोंका कर्त्ता नहीं है। यदि आत्मज्ञानी अनुभवी आत्मा भी कर्मोंका कर्त्ता हुआ करे तो इस जीवके कर्मोंका कर्त्तापना सदा ही बना रहे क्योंकि जीवकी सत्ता सदा ही

रहती है तथा अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानरूप भाव रागादि विकल्प भाव हैं और अनित्य हैं ये भाव आत्मामें स्थितिरूप जो वीतराग भाव उससे भ्रष्ट जीवोंके होते हैं सदा ही नहीं होते हैं। इससे यह सिद्ध किया गया कि जब यह जीव स्वस्थ अर्थात् आत्मानुभव रूपी भावसे गिर जाता है तब अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानरूपी भावोंमें परिणमन करता है तब कर्मोंका करनेवाला होता है तथा जबतक स्वस्थ भावमें लीन रहता है तबतक कर्मोंका कर्त्ता नहीं होता—भावार्थः—यहां पर आत्मामें लीनरूप सम्यग्ज्ञानी व तत्वज्ञानीकी अपेक्षासे मुख्यतासे कथन है कि जब वह निश्चय प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानसे बाहर होता है तब रागादि रूप परिणमन करता है इससे कर्मोंका कर्त्ता होता है इससे ज्ञानी जीवको पूर्व भोगे हुए भोगोंकी व आगामी भोगोंकी इच्छाको दूर करके निर्मल ज्ञानमई भावोंमें परिणमन करना योग्य है जिससे कर्मका बंध नहो। जो अज्ञानी पूर्वमें भोगे भोगोंको याद किया करता है व आगामी विषयोंकी इच्छा किया करता है वह निरंतर कर्मोंसे बंधता है उसके अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानरूप भाव विद्यमान है—॥ ३०५—३०६—३०७ ॥

इस तरह अज्ञानी जीवमें परिणमन करते हुए अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बंधके कारण हैं किन्तु ज्ञानी जीव बंधका कारण नहीं है इस प्रकारके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें गाथाएं तीन पूर्ण हुईं।

यहां विकल्प रहित समाधिरूप निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यानसे भ्रष्ट जीवोंके लिये जो कर्मोंका बंध बताया गया है वह त्यागने योग्य सम्पूर्ण नरक आदिके दुःखोंका कारण है इससे यह बंध भी त्यागने योग्य है। आचार्य इस बंधके नाश करनेके लिये विशेष भावनाका वर्णन करते हैं:—भावनाः—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंदमई एक स्वभाववाला हूं, संकल्प विकल्प रहित हूं, उदासीन हूं, कर्मरूपी अंजन रहित अपने शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न होनेवाले वीतराग सहज आनंदरूप सुखका अनुभव मात्र लक्षणके धारी स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा अनुभवने योग्य, जानने योग्य, व प्राप्त करने योग्य व उससे पूर्ण अवस्थाकाधारी हूं, रागद्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रियोंके विषयोंके व्यापार, मन, वचन, कायके व्यापार, भाव कर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म, प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व देखे, सुने, व अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छारूप निदान शल्य, मायाशल्य, मिथ्याशल्य आदि सर्व विभाव परिणामोंसे रहित शून्य हूं। ऐसा मैं तीनजगत व तीन कालमें भी मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदनासे शुद्ध निश्चय करके हूं तैसे ही शुद्ध निश्चयसे सर्व ही जीव हैं ऐसी भावना निरंतर करनी योग्य है। इस तरह शुद्धात्माके अनुभवरूप लक्षणको रखनेवाली समयसारकी तात्पर्य वृत्ति नामकी व्याख्यामें पूर्वमें कहे हुए क्रमसे 'जहणामको विपुरिसो' इत्यादि १० गाथाओंमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-

दृष्टिका व्याख्यान, निश्चय हिंसाको कहते हुए गाथाएं सात, निश्चयसे रागद्वेषादि विकल्प ही हिंसा है ऐसा कहते हुए सूत्र छः, अव्रत पापबंध व व्रत पुण्य बंधके कारण हैं ऐसा कहते हुए १९ गाथाएँ। निश्चय नयमें ठहर करके व्यवहार त्यागने योग्य है इस मुख्यतासे गाथाएं ६, पिंडकी शुद्धिकी मुख्यतासे सूत्र ४, निश्चय नयसे रागादि भाव कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हैं ऐसा कहते हुए सूत्र पांच, निश्चयसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बंधके कारण हैं ऐसा कहते हुए गाथाएं तीन इस तरह समुदायसे ५६ गाथाओंके द्वारा आठ अंतर अधिकारोंसे आठवां बंध तत्वका अधिकार समाप्त हुआ। ऐसा होनेपर नाटकके पात्रकी तरह शुद्धात्मासे जुदा होकर श्रृंगार करके आया हुआ बंध रंगभूमिसे निकल गया।

नवां महाधिकार (९)

मोक्ष तत्व ।

अब मोक्ष प्रवेश करता है "जहणामकोविपुरिसो" इत्यादि गाथाको आदि लेकर यथाक्रमसे २२ गाथाओं तक **मोक्ष पदार्थका** व्याख्यान करते हैं।

सो पहले ही मोक्ष पदार्थका संक्षेप वर्णन करते हुए गाथाएं सात हैं। उसके बाद मोक्षका कारणभूत भेदविज्ञानकी संक्षेपसे सूचनाके लिये 'बंधाणं च सहावं' इत्यादि सूत्र ४ हैं फिर उस ही भेदज्ञानका विशेष वर्णन करनेके लिये **पण्णाए घेत्तव्वो** इत्यादि सूत्र पांच हैं उसके पीछे वीतराग चारित्र सहित द्रव्य प्रतिक्रमण आदिका करना विष कुंभके ग्रहण समान है परंतु सराग चारित्र सहित अमृत कुंभके समान है इस युक्तिमई कथनकी मुख्यतासे **"ते यादी अवरोहे"** इत्यादि सूत्र ६ हैं। इस तरह २२ गाथाओंसे चार अंतर स्थलोंमें मोक्ष अधिकारकी समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि विशेष भेदज्ञानकी स्थिरतासे कर्म बंध और आत्माका जुदा करना सो मोक्ष है

गाथाः—**जह णाम कोवि पुरिसो बंधणियह्मि चिरकालपडिबद्धो।**
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥ ३०८ ॥
जइ णवि कुव्वदि छेदं ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण।
कालेण बहुएणवि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥३०९॥

संस्कृतार्थः—यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः।
तीव्रं मंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥ ३०८ ॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन कर्मबंधेन।
कालेन बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ ३०९ ॥

सामान्यार्थः—जैसे कोई भी पुरुष बंधनमें बहुत कालसे पड़ा हुआ बंधनके तीव्र या मंद

स्वभावको और उसके कालको जानता है। जानते हुए यदि वह बंधका छेद नहीं करता है तो वह मनुष्य बहुत कालमें भी उन बंधोंसे नहीं छूट सक्ता और न वह उससे मोक्षका लाभ करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (कोवि पुरिसो णाम) कोई भी अमुक नामका पुरुष (बंधणह्मि) बंधनके अंदर (चिरकाल पडिबद्धो) चिरकालसे पड़ा हुआ है तथा वह (तस्स) उस बंधनके (तिव्वं मंद सहावं) तीव्र या मंद स्वभावको (चकालं) और उसके दिन, महीना, वर्ष आदि कालको (वियाणदे) जानता है। अर्थात् मुझे बंधनकी कैसी वेदना है व मुझे कितना काल बंधे हुआ सो सब जानता है परन्तु जानता हुआ भी (जइ) जो (छेदं णवि कुव्वदि) पुरुषार्थसे बंधनका छेद नहीं करता है तो (तेण कम्म बंधेण) उस कर्मके बंधसे (ण मुंचदि) नहीं छूटता है और (सो णरो) वह बंधसे नहीं छूटनेवाला मनुष्य (सुबहुगे णविकालेण) बहुत अधिक काल बीत जाने पर भी (विमुक्खं) मोक्ष या स्वतंत्रताको (ण पावदि) नहीं पाता है। भावार्थः—जैसे कोई रस्सी, श्रृंखला आदि व अन्य रीतिसे बंधनमें पड़ा हुआ पराधीन व परतंत्र हो रहा है और वह मूर्ख भी नहीं है किन्तु यह जानता है कि मैं पराधीन हूं परन्तु उस पराधीनतासे छूटनेका कोई भी यत्न नहीं करता है तो वह केवलमात्र जाननेसे छूट नहीं सक्ता चाहे जितना काल बीत जावे। जब वह उद्यम करेगा तब ही पराधीनतासे व बंधनसे मुक्त होकर स्वाधीन और मुक्त हो सक्ता है ॥ ३०८-३०९ ॥

इस तरह दो गाथाओंमें दृष्टान्त दिया अब दार्ष्टान्त कहते हैं:—

गाथाः—इय कम्मबंधणाणं पयेसपयडिट्ठिदियअणुभागं ।
जाणंतोवि ण मुंचदि मुंचदि सव्वेजा जदिविसुद्धो ।३१०।

संस्कृतार्थः—एवं कर्मबंधनानां प्रदेशप्रकृतिस्थित्यनुभागं ।
जानन्नपि न मुंचति मुंचति सर्वान् यदिविशुद्धः ॥ ३१० ॥

सामान्यार्थः—इसी तरह कर्मबंधनोंके प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभागको जानते हुए भी नहीं मुक्त होता है। यदि उनसे विशुद्ध हो तो सर्व कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(इय) इसतरह (कम्म बंधणाणं) ज्ञानावरण, आदि मूल व उनकी १४८ उत्तर प्रकृतियोंके बंधनोंके (पयेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं) प्रकृति, प्रदेश और स्थिति तथा अनुभाग इन चार भेदोंके स्वरूपोंको (जाणंतोवि) अच्छी तरह जानते हुए भी (ण मुंचदि) कर्मबंधनोंसे नहीं छूटता क्योंकि वह जानता हुआ भी मिथ्यात्व व रागद्वेषादिरूप परिणतिको नहीं त्यागता है। (जदिविसुद्धो) परंतु जब वह मिथ्यात्व व रागद्वेषादि भावोंसे रहित होता है तब (सव्वे मुंचदि) अनंत ज्ञानादि गुणस्वरूप परमात्म-स्वभावमें स्थित होता हुआ सर्व कर्मोंसे छूट जाता है अथवा दूसरा पाठ यह है कि 'मुंचदि सव्वे जदिसिबंधे' अर्थात् जब सब बंधको नाश करता है तब मुक्त हो जाता है। इस व्या-

ख्यानसे उन लोगोंको मुख्यतासे समझाया है जो प्रकृति आदि कर्म बंधनोंके ज्ञान मात्र ही से संतुष्ठ हैं पर अपने कर्मोंके नाशका कोई यत्न नहीं करते हैं, क्योंकि जो बंधके स्वरूपको.तो जानते हैं पर अपने आत्म स्वरूपकी प्राप्तिरूप वीतराग चारित्रको नहीं पाए हुए हैं उनको स्वर्गादि सुखोंका कारण पुण्यबंध तो होता है परंतु कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सक्ती। इस तरह दार्ष्टांतरूप गाथा वर्णन की इस व्याख्यानसे उन लोगोंका निराकरण किया है जो केवल मात्र कर्मबंधके प्रपंचकी रचनाके भीतर चिंता मात्र ज्ञान रखते हुए ही संतोषी हो रहे हैं। 'मुंचति सव्वे जदिविसुद्धो'के स्थानपर ऐसा भी पाठ है 'मुंचदिसव्वे जदि सबंधे'- अर्थात् कर्मोंसे छूट जाता है यदि सर्वबंधोको नाश करता है। भावार्थः-शास्त्र द्वारा कर्मबंधका प्रपंचका जानना व उसकी चिंता करना सो केवल शुभोपयोग है पुण्यबंधका कारण है अतएव बंधको बढ़ानेवाला है मुक्तिका साक्षात् उपाय नहीं है। जब वह शास्त्रज्ञाता उपाय करके उन कर्मोंके नाशके लिये रागद्वेष त्याग वीतराग चारित्रमें व आत्मानुभवमें तल्लीन होता है तब ही कर्मोंका नाश करता हुआ मुक्त हो जाता है खाली जाननेसे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सक्ती जब हम पुरुषार्थ करेंगे तब ही सफल होंगे ॥ ३१० ॥

आगे इसी भावको और भी दिखलाते हैं।

गाथाः—**जह बंधे चिन्तंतो बंधणवद्धो ण पावदि विमोक्खं।**
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥ ३११॥

संस्कृतार्थः—यथा बंधं चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं।
तथा बंधं चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं.॥ ३११ ॥

सामान्यार्थः—जैसे कोई बंधनसे बंधा हुआ पुरुष ऐसा चिंतवन किया करे कि मैं बंधा हूं तो मोक्षको नहीं पा सक्ता तैसे ही यह संसारी जीव भी अपने बंधको विचारता हुआ मोक्ष नहीं पा सक्ता। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**-(जह) जैसे (बंधनबद्धो) कोई रस्सी आदिके बंधनोंसे बंधा हुआ पुरुष (बंध चिन्तंतो) मैं बंधा हूं ऐसी चिंता करता हुआ (ण विमुक्खं पावदि) नहीं छुटनेकी दशाको प्राप्त हो सक्ता है (तह) तैसे (जीवोवि) यह संसारी जीव भी (बंधे चिंतंतो) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंधके स्वरूपोंको चिन्तवन करता हुआ (विमोक्खं) अपने शुद्धआत्मस्वरूपका लाभ मई लक्षणको रखनेवा. मोक्षको (ण पावदि) नहीं पाता है। तात्पर्य यह है कि सर्व शुभ और अशुभ बाहरी द्रव्योंके आलंबनसे रहित चिदानंदमई एक शुद्धात्माका आलंबन स्वरूप वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे रहित जीव बंधके प्रपंचकी रचना की चिंतारूप सराग धर्मध्यान स्वरूप शुभोपयोगसे स्वर्गादि सुखका कारण पुण्यबंध प्राप्त करता है परंतु मोक्ष नहीं पाता है। **भावार्थ**—जो केवल मात्र यही चिंतवन किया करे कि मैं बंधा हूं पर उस बंधनसे छूटनेका कुछ भी यत्न नहीं करे तो वह पुरुष बंधनसे छूट

नहीं सक्ता। इसी तरह जो जीव केवल कर्मकांडके स्वाध्यायमें लीन हुआ चार प्रकार बंधके नानाप्रकार स्वरूपोंको ही विचारा करता है परंतु वीतरागभावमें तिष्ठनेका यत्न नहीं करता वह केवल मात्र पुण्य बांधके स्वर्गादि सुखको पाता है कर्मोंको नाशकर मोक्ष नहीं पा सक्ता क्योंकि वीतराग भावके विना मोक्षका मार्ग ही नहीं हो सक्ता ॥ ३११ ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि मोक्षका कारण क्या है इसका उत्तर आचार्य कहते हैं—

गाथाः—जह बंधे छित्तूणय बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ ३१२ ॥
जह बंधे भित्तूणय बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे भित्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ ३१३ ॥
जह बंधे मुत्तूणय बंधण बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे मुत्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ ३१४ ॥

संस्कृत छायाः—यथा बंधंश्छित्वा च बंधन बद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं।
तथा बंधंश्छित्वा च जीवः प्राप्नोति विमोक्षं ॥ ३१२ ॥
यथा बंधं भित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं।
तथा बंधं भित्वा च जीवः प्राप्नोति विमोक्षं ॥ ३१३ ॥
यथा बंधंमुक्त्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं।
तथा बंधंमुक्त्वा च जीवः प्राप्नोति विमोक्षं ॥ ३१४ ॥

इसका शब्दार्थ सुगम है अतः विशेषार्थ ही लिखा जाता है:—जैसे बंधनमें बंधा हुआ कोई भी पुरुष रस्सीके बंधको, जंजीरके बंधको, व काठ की बेड़ियोंको वा अन्य किसी भी प्रकारके बंधनको अपने ही विज्ञान और पुरुषार्थके बलसे किसीको छेद कर, किसीको भेदकर, किसीको छोड़कर, उस बंधनसे छुटकारा पाता है तैसे यह जीव भी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी हथियारसे कर्मबंधनोंको छेदकर, भेदकर व उनको छुड़ाकर अपने शुद्धात्मीक स्वरूपकी प्राप्तिमई मोक्षका लाभ करता है। भावार्थ—जो कोई ज्ञानी पुरुष अपने पौरुषको सम्हाल वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप आत्मीक अनुभवके द्वारा पूर्व बद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है वह अवश्य मोक्षको प्राप्त करता है। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि प्राभृत ग्रंथमें जिस निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानका वर्णन किया गया है सो नहीं सिद्ध होता है इसका क्या हेतु है। सो कहते हैं कि सत्तामात्र सामान्य अवलोकनरूप चक्षु अचक्षु आदि दर्शनको जैन मतमें निर्विकल्प कहा गया है वैसे ही बौद्ध मतमें ज्ञानको निर्विकल्प कहा गया है किंतु यह निर्विकल्प भी विकल्पको पैदा करनेवाला होताहै और जैन मतमें जो ज्ञान है वह विकल्पोंका पैदाकरनेवाला है इतना ही नहीं किंतु स्वरूपसे भी सविकल्प है तैसे ही स्व और परका प्रकाश करनेवाला

है। इसका समाधान आचार्य कहते हैं:—कि ज्ञान किसी अपेक्षासे सविकल्प और किसी अपेक्षासे निर्विकल्प है। जैसे पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें आनंदरूप जो रागसहित स्वसंवेदन ज्ञान सराग भावके ज्ञानके विकल्पकी अपेक्षा विकल्प सहित है तो भी उसके सिवाय विना चाहे हुए अन्य सूक्ष्म विकल्पोंके होते हुए भी उन सूक्ष्म विकल्पोंकी मुख्यता नहीं ली इसी कारणसे उसे निर्विकल्प भी कहते हैं। इसीतरह अपने शुद्धात्माका स्वसंवेदनरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान भी अपने अनुभवके आकार रूप एक विकल्पके साथ होनेसे सविकल्प है तो भी अपनेसे बाहरके विषयों सम्बन्धी विना चाहे हुए सूक्ष्म विकल्पोंके होने पर भी उनकी मुख्यता नहीं ली गई इसी कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते हैं तथा इच्छा पूर्वक आत्म संवेदनकी तरफ अंतर्मुख होकर प्रतिभास करते हुए भी ज्ञानमें बाह्य विषयोंके विना चाहे सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं इसी ही कारणसे ज्ञानको स्व पर प्रकाशक भी सिद्ध किया गया है। इसी ही सविकल्प निर्विकल्प और स्वपर प्रकाशक ज्ञानका विशेष व्याख्यान यदि आगम, अध्यात्म और तर्क शास्त्रके अनुसार किया जावे तो महान् विस्तार हो जावे सो उसका व्याख्यान इस लिये यहां पर नहीं किया गया कि यह अध्यात्म शास्त्र है ॥३१२–३१३–३१४॥

इस तरह मोक्ष पदार्थकी संक्षेप सूचनाके लिये प्रथम स्थलमें गाथाएं सात पूर्ण हुई ॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि क्या यही मोक्षका मार्ग है इसका समाधान आचार्य करते हैं।

गाथाः—बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधे सु जोण रज्जदि सो कम्मविमुक्खणं कुणदि ॥ ३१५ ॥

संस्कृतार्थः—बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च।
बंधेषु यो न रज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ ३१५ ॥

सामान्यार्थः—कर्मबंधोंका स्वभाव और आत्माके स्वभावको जान करके जो कर्मबंधोंमें नहीं लीन होता है सो कर्मोंसे मुक्ति करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(बंधाणं च सहावं) मिथ्यात्व रागद्वेषादि भाव बंधोंके स्वभावको इस तरह जान करके कि त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्वोंके विषयमें जो विपरीत अभिप्राय है सो मिथ्यात्वका स्वभाव कहा गया है तथा रागादिकोंका स्वभाव पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें इष्ट तथा अनिष्ट परिणाम है अर्थात् यह भाव कि इष्ट विषय ग्रहण करने व अनिष्ट विषय त्यागने योग्य है (च अप्पणो सहावं वियाणिदुं) तथा अनंत ज्ञानदर्शन सुख आदि गुणमई शुद्ध आत्माके स्वभावको जान करके अर्थात् कर्मबंध और बंधरहित आत्माका यथार्थ स्वभाव अनुभव करके (जो) जो कोई विवेकी भव्य जीव (बंधेसु) द्रव्यबंधके कारणरूप मिथ्यात्व व रागद्वेष आदि भाव-बंधोंमें (ण रज्जदि) निर्विकल्प समाधिके बलसे नहीं प्रीति करता है (सो) सो भव्यजीव (कम्मविमुक्खणं) द्रव्यकर्मोंसे आत्माको विमुक्त करता है। भावार्थः—इस संसारी आत्माके द्रव्यकर्म

और आत्माका अनादि सम्बन्ध इसी कारणसे है कि यह आत्मा दोनोंके भावको एकरूप व अन्यतरहसे विपरीतरूप श्रद्धान कियेहुए है जब यह आत्मा दोनोंके भिन्न स्वरूपको अच्छी तरह जान करके विकल्प रहित समाधिके बलसे द्रव्यकर्मोंके बंधके कारण मिथ्यात्व व रागद्वेषादि भावोंमें नहीं लीन रहता है परंतु अपने शुद्ध स्वभावमें तन्मय रहता है तब वही महापुरुष कर्मोंसे अपनी मुक्ति कर सक्ता है॥ ३१५ ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा और बंधको अलग२ किस उपायसे किया जाय।

गाथाः—जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएणदु छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥ ३१६ ॥

संस्कृतार्थः—जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां।
प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ॥ ३१६ ॥

सामान्यार्थः—अपने२ लक्षणको रखनेवाले जीव और कर्मबंध दोनों प्रज्ञारूपी छेनीसे भिन्न२ किये हुए छिद जाते हैं और अनेकपनेको प्राप्त हो जाते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवो) यह जीव (तहा) तथा (बंधोय) यह कर्मबंध दोनों ही (णियएहिं) अपने२ (सलक्खणेहिं) लक्षणोंको रखते हैं इसकारण (पण्णा छेद णयेण दु) भेदविज्ञान रूपी छेनीके द्वारा (छिण्णा) छेदे हुए (छिज्जंति) छिद जाते हैं और (णाणत्तम् आवण्णा) भिन्न२ पनेको प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्यमई कहा गया है और बंधका लक्षण मिथ्यात्व रागद्वेषादि रूप है, जब शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप लक्षणको रखनेवाली भेदविज्ञान रूपी छुरी या छेनी बीचमें पड़ती है तो यह दोनों अपने२ स्वरूपको लिये हुए छिटककर अलग२ हो जाते हैं भावार्थः—अनादिकालसे भी प्रवाहरूप जिस बंधका इस जीवके साथ सम्बन्ध है वह भी शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप छेनीके वारवार घातसे अलग२ हो जाते हैं। अतएव ज्ञानीको उचित है कि भेदविज्ञानरूपी छेनीको लेकर जड़ और चेतनको भिन्न२ कर देवे॥ ३१६ ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा और बंधके भिन्न२ करलेपर किस कार्यकी सिद्धि होती है।

गाथाः—जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पाय घित्तव्वो॥ ३१७ ॥

संस्कृतार्थः—जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां।
बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः॥ ३१७ ॥

सामान्यार्थः—जीव और बंध दोनों अपने २ लक्षणोंसे अलग होजाते हैं इसमें बंधको छेदकर अलग कर देना चाहिये परंतु शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिये॥ शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवो) यह जीव (तहा बंधोय) तथा यह कर्म बंध दोनों (णियएहिं

सलक्खणेहिं) अपने २ भिन्न लक्षणोंके द्वारा (छिज्जंति) छिदकर अलग २ होजाते हैं इससे क्या करना चाहिये उसके लिये आचार्य कहते हैं कि (बंधो छेदे दव्वो) विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव धारी परमात्म तत्वका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रयमई भेदज्ञान छुरी है उससे मिथ्यात्व व राग द्वेषादि भाव रूप बंधको शुद्धात्माकी निकटतासे अलग कर देना चाहिये (सुद्धो अप्पा घिंत्तव्वो) और शुद्ध आत्माको वीतराग सहज परमानंदमई लक्षणको रखनेवाले सुखरूप समता रसमई भावसे ग्रहण करना चाहिये। **भावार्थः-** मैं शुद्ध सहजानंद मई आत्मस्वभावरूप हूं रागादि भाव मेरे नहीं हैं ऐसा श्रद्धान कर भेद-विज्ञानमई भावका जो अभ्यास करता है उसका मोह पर वस्तुसे हट जाता है तब श्रद्धानमें तो उसने बंध और आत्माको भिन्न २ अनुभव किया है तथा बंधको त्यागकर शुद्धस्वरूपके ग्रहणकी रुचि की है। चारित्रमें जितना२ अभ्यास करता है मोह हटता है और निजस्वरूप प्रकट होता है इससे रागादि भावोंको छोड़कर शुद्धस्वरूपका ग्रहण कार्यकारी है ॥३१७॥

आगे उपदेश करते है कि इस आत्मा और बंधको अलग २ करनेमें प्रयोजन यह है कि बंधको त्यागकर शुद्धात्मा ग्रहण करने योग्य है:-

गाथाः—**कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।**
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥ ३१८ ॥

संस्कृतार्थः—कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ ३१८ ॥

सामान्यार्थः—वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाता है इस प्रश्नका उत्तर यही हैं कि वह प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञानसे ग्रहण किया जाता है तथा जैसे भेद विज्ञानके द्वारा उसको भाव कर्म बंधसे भिन्न किया ऐसे ही प्रज्ञाके ही द्वारा उसको ग्रहण करना व उसमें तन्मय होना योग्य है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(कह) किसतरह (सो अप्पा) वह आत्मा जो अपनी दृष्टि का विषय नहीं है क्योंकि वह स्पर्श रस गंध वर्णमई मूर्त्तसे रहित है (घिप्पदि) ग्रहण किया जा सक्ता है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य करते हैं कि (सोआदा दु) वह आत्मा तो (पण्णाए) प्रज्ञासे (घिप्पदे) ग्रहण किया जाता है क्योंकि (जह, जैसे (पण्णाए विभत्तो) पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण भेद विज्ञान रूपी प्रज्ञाके द्वारा कर्मबंधके कारण रागादिक भावोंसे जुदा किया गया (तह) तैसे (पण्णाएव घित्तव्वो) उसी भेदविज्ञानमई प्रज्ञाके द्वारा ही उसे ग्रहण करना योग्य है। तात्पर्य यह है कि इस शुद्धात्माका अनुभव भेदज्ञानसे ही किया जाता है यह शुद्ध आत्मा स्वयं अपने शुद्ध आत्म स्वरूपको ग्रहण करता है तथा उसे रागादि पर भावोंसे हटाता है इसमें करण सहाई एक प्रज्ञा ही है इसलिये कहा गया है कि जैसे प्रज्ञाके द्वारा अलग किया गया ऐसे प्रज्ञा ही के द्वारा उसे ग्रहण व मनन करना योग्य

है। भावार्थः–आत्मा और परका यथार्थ ज्ञान होकर आत्माका अवलम्ब किये हुए भावको भेद विज्ञान कहते हैं। इसीके प्रतापसे रागादि भाव मिटते और शुद्धात्माका ग्रहण, मनन, अनुभव होता है व परमानंदकी प्राप्ति होती है ॥३१८॥

आगे फिर कहते हैं कि इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण किया जावे।

गाथाः—पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झपरित्त णादव्वा ॥ ३१९ ॥

संस्कृतार्थः—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषाः ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ ३१९ ॥

सामान्यार्थः—जो आत्मा भेद विज्ञानके द्वारा गृहण करने योग्य है वह निश्चयसे मैं ही हूं। मेरेसे अन्य जो भाव है वह सर्व मुझसे जुदे हैं ऐसा जानना चाहिये। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः–(जो चेदा) जो कोई ज्ञाता दृष्टा आत्मा (पण्णाये) निश्चलतासे आत्माके लक्षणको अवलंबन करनेवाली प्रज्ञा व भेद विज्ञानतासे (घित्तव्वो) गृहण करने योग्य है (णिच्छदा) निश्चयसे (सो अहंतु) वह मैं ही ज्ञाता दृष्टा स्वरूप हूं (जे अवसेसा भावा) तथा जो यह अन्य आत्माके लक्षणमें न व्यवहार किये जाने वाले भाव हैं (तेमज्झपरित्ति) वे सर्व भाव मुझ व्यापकमें व्याप्य पनेको नहीं प्राप्त होते हुए मेरे स्वभावसे अन्य हैं ऐसा (णादव्वा) जानना योग्य है इसलिये मैं ही मेरे द्वारा मेरे लिये ही मेरेसे ही मेरेमें ही मेरेको निश्चयसे गृहण करता हूं जो कुछ मैं गृहण करता हूं इससे अन्य किसीको गृहण नहीं करता हूं. मैं चेतन हूं मेरी क्रिया भी चेतनरूप है। मैं चेतनेवाला ही हूं, चेतनेवालेके ही द्वारा चेतता हूं, चेतनेवालेही के लिये चेतता हूं, चेतनेवालेमें ही चेतता हूं, चेतनेवालेमें ही चेतता हूं। चेतनेवालेको ही चेतता हूं यह सर्व षटकारकका विकल्प भेद नयसे है अभेद नयसे न मैं चेतता हूं ऐसा विकल्प करता हूं, न चेतनेवालेके द्वारा चेतता हूं, न चेतनेवालेके लिये चेतता हूं, न चेतनेवालेसे चेतता हूं, न चेतनेवालेमें चेतता हूं, न चेतनेवालेको चेतता हूं, किन्तु सर्व प्रकारसे विशुद्ध चैतन्य मात्र भावरूप मैं हूं यहांपर समयसार कलशाका १ श्लोक है:—

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते। चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ॥
भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि। भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥

भावार्थः-अपने लक्षणके बलसे जो कुछ अपने आत्मासे जुदा करना है उसे जुदा करके मैं चैतन्यके चिन्हसे चिन्हित भेद रहित महिमाको रखनेवाला शुद्ध चैतन्य मात्र पदार्थ हूं। यदि षटकारकका व स्वभावोंका व गुणोंका भेद हो तो हो परंतु मेरे शुद्ध चैतन्य मात्र महान भावमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। भावार्थः–जो कोई अनुभव करनेवाला है वह मैं ही हूं मेरेसे अन्य जो भाव हैं वे मेरे कदापि नहीं होसके। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण

और पर्यायोंमें व्यापक है। जीव जीवत्त्वमें है पुद्गल पुद्गलत्वमें है। एक द्रव्यका दूसरेके साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं है। इसी लिये ज्ञानी अनुभव करता है कि मेरा स्वभाव मेरेमें है पर स्वभाव मेरेमें नहीं है। यदि भेद अपेक्षा विकल्प किये जावें तो कर्त्ता आदि षट् कारकका विचार होता है परंतु जो अभेद दृष्टिसे अनुभव किया जाय तो वहां यह षट् कारकका भी विकल्प नहीं है किन्तु मेरा स्वभाव विशुद्ध चैतन्य मात्र ही है ॥ ३१९ ॥

इसीको फिर भी कहते हैं:-

गाथाः—**पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।**
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३२० ॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३२१ ॥

संस्कृतार्थः—प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ ३२० ॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ ३२१ ॥

सामान्यार्थः—और विशेषार्थ, शब्दार्थ सुगम है। जो कोई देखनेवाला भेद विज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य है सो निश्चयसे मैं ही हूं। मेरे सिवाय शेष जितने भाव हैं सो सब मुझसे पर हैं ऐसा जानना योग्य है। जो कोई जाननेवाला भेद विज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह निश्चयसे मैं ही हूं मेरे सिवाय शेष जितने भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना योग्य है। चेतनाके दर्शन ज्ञान विकल्प होते हैं इनसे रहित चेतना नहीं होसक्ती। चेतना ही दर्शनपना और ज्ञातापना है और यही आत्माका लक्षण है इससे मैं देखनेवाले आत्माको ग्रहण करता हूं जो कुछ मैं ग्रहण करता हूं, और उसीको ही देखता हूं।—देखता हुआ ही देखता हूं, देखनेवालेके द्वारा ही देखताहूं, देखनेवालेके लिये ही देखताहूं, देखनेवालेसे ही देखताहूं, देखनेवालेमें ही देखताहूं, देखनेवालेको ही देखता हूं यह भेद नयसे कथन है। अथवा मैं नहीं देखता हूं, न देखता हुआ देखता हूं, न देखनेवालेके द्वारा देखता हूं, न देखनेवालेके लिये देखता हूं, न देखनेवालेसे देखता हूं, न देखनेवालेमें देखता हूं, न देखनेवालेको देखता हूं। किन्तु सर्वसे विशुद्ध दर्शन मात्र भाव मैं हूं यह विकल्प रहित चिन्तवन है। तथा इसी तरहसे जो कुछ मैं ग्रहण करता हूं, सो जाननेवाले ज्ञाता आत्माको ग्रहण करता हूं। उसको ही जानता हूं, जाननेवालेके द्वारा ही जानता हूं, जाननेवालेके लिये ही जानता हूं, जाननेवालेसे ही जानता हूं जाननेवालेमें ही जानता हूं, जाननेवालेको ही जानता हूं। यह विकल्प रूप विचार है। अथवा मैं नहीं जानता हूं, न जानता हुआ जानता हूं, न जाननेवालेके द्वारा जानता हूं। न जानने-

वालेके लिये जानता हूं, न जाननेवालेसे जानता हूं, न जाननेवालेमें जानता हूं, न जाननेवालेको जानता हूं; किन्तु मैं सर्व प्रकारसे विशुद्ध ज्ञाता मात्र भावरूप हूं। यह विकल्प रहित अनुभव है। आगे शिष्य प्रश्न करता है कि क्यों चेतना दर्शन ज्ञान विकल्पोंको नहीं त्यागती जिससे यह चेतनेवाला ज्ञाता द्रष्टा रहता है? इसका समाधान यह कहा जाता है कि चेतनाभाव प्रतिभासरूप है सो सर्व ही वस्तुओंके सामान्य और विशेषरूप दोनों स्वभावोंको चेतता है क्योंकि वस्तुओंका स्वभाव ही सामान्य व विशेषरूप है, इसीसे यह चेतना दर्शन और ज्ञान रूप है इससे यह चेतना इनको नहीं उलंघन कर सकती। यदि इन दोनोंको उलंघ जावे तो सामान्य और विशेषरूपके त्याग देनेसे वह चेतना ही न रहे। ऐसा माननेसे दो दोष आ जावेंगे, एक तो यह कि अपने गुणके नाशसे चेतना गुण अचेतन हो जायगा तब व्यापकके अभावमें व्याप्य जो चेतन उसका भी अभाव हो जावेगा यह दोष आना उचित नहीं है. ऐसे ही चेतना गुण और गुणी दोनोंका नाश हो जायगा। इसलिये दर्शन ज्ञानरूप ही चेतना है ऐसा जानना योग्य है। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र आचार्यकृत कलशोंमें कहा है।

अद्वैतापिहि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जड़ता चितोपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्ति रूपास्तु चित्।

तथा—एकश्चितश्चिन्मयएव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मयएव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥

अर्थः—निश्चयसे चेतना अद्वैतरूप ही है तौ भी अपने दर्शन ज्ञानरूपको नहीं छोड़ती है। यदि वह अपने दर्शन ज्ञानरूपको त्याग देवे तो अपने सामान्य और विशेष रूपके त्याग देनेसे वह चेतना अपने अस्तित्वको भी छोड़ देवे। अपना अस्तित्व छोड़ देनेसे वह चेतना भी जड़रूप होजावे तथा व्याप्य विना व्यापकके नहीं रह सक्ता इससे चेतनाके विना आत्माका भी अंत हो जावे सो ऐसा हो नहीं सक्ता इसने वह चेतना दर्शन ज्ञानरूप है, चैतन्यात्माका एक चैतन्य मात्र भाव ही है उसके सिवाय सर्व ही अन्य भाव निश्चयसे पर द्रव्योंके हैं। इस कारण चैतन्यमात्र भाव ही ग्रहण करने योग्य है और उसके सिवाय अन्य सर्व भाव सर्व तरहसे छोड़ने योग्य ही हैं। यहां ऐसा जानना योग्य है कि मेरे चिदानंदमई एक चैतन्य भावके सिवाय शेष सर्व ही रागद्वेष आदि विभाव परिणाम पर हैं। यहां शिष्यने कहा कि चेतनाके ज्ञान दर्शन भेद नहीं हैं एक चेतना ही है, ऐसा माननेसे यह आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है ऐसे दो प्रकार कैसे सिद्ध होता है। इसका समाधान करते हैं कि वस्तुके सामान्य स्वभावको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है। तथा

हरएक वस्तु सामान्य और विशेषरूप है इसलिये सामान्य व विशेषरूप दोनों रूप चेतना है, यदि दो रूप चेतनाको न माने तो चेतनाका अभाव हो जावे। चेतनाका अभाव होनेपर आत्मा जड़पनेको प्राप्त हो जावे तथा आत्माका विशेष व असाधारण गुण चेतना है इसको न मानने पर आत्माका अभाव ही हो जावे, परन्तु यह दोनों वातें नहीं हो सक्तीं क्योंकि नतो आत्मा जड़रूप दिखलाई पड़ता है और न उसका अभाव है क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध हो जायगा। क्योंकि आत्माका देखना जानना कार्य प्रत्यक्ष प्रकट है, स्व संवेदन गोचर है। इससे सिद्ध हुआ कि यद्यपि अभेद नयसे चेतना एकरूप है, तौभी सामान्य और विशेष जानने योग्य विषयके भेदसे दर्शन और ज्ञान दो रूप चेतना है ऐसा भेद नयसे है ऐसा अभिप्राय जानना। भावार्थः—चेतनाके दर्शन और ज्ञान दो भेद हैं। तथा जगतमें पदार्थोंका स्वरूप भी सामान्य और विशेषरूप है। इसलिये वह चेतना मात्र दर्शनरूप व मात्र ज्ञानरूप नहीं हो सक्ती. इसीसे यह आत्मा चेतन्यरूप व ज्ञाता द्दष्टारूप कहा जाता है, ज्ञानी विचारता है कि जो कोई देखनेवाला है वह मैं ही हूं व जो जाननेवाला है वह मैं ही हूं. इसके सिवाय अन्य रागद्वेषादि विभाव परिणाम मेरे नहीं हैं॥ ३२०–३२१॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माके शुद्ध चैतन्यरूप ही एक भाव है। रागद्वेपादिक भाव नहीं हैं॥

गाथाः—**को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे परोदये भावे।**
मज्झमिणं तिय वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥ ३२२॥

संस्कृतार्थः—को नाम भणेद बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परोदयान् भावान्।
ममेदमिति वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं॥ ३२२॥

सामान्यार्थः—सर्व ही रागादिभावोंको कर्मोंके उदयसे उत्पन्न जानकर और शुद्ध आत्माको अनुभव करता हुआ कौन ऐसा बुद्धिमान प्राणी है जो यह कहे कि यह परभाव मेरे हैं? अर्थात् परभावोंको अपने कोई भी नहीं मानेगा॥ **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(सव्वे-भावे) सर्व ही मिथ्यादर्शन व रागद्वेष आदि विभाव परिणामोंको (परोदये) शुद्ध आत्मासे भिन्न द्रव्यकर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा (णादुं) निर्मल आत्माका अनुभवरूपी लक्षणको रखनेवाले भेद ज्ञानके बलसे जान करके तथा (सुद्धं) भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म बाह्य शरीरादि इनसे रहित शुद्ध (अप्पयं) आत्माको (जाणंतो) शुद्ध आत्माकी भावनामें परणमन करनेवाले अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले भेद ज्ञानके द्वारा परम समता रसकी भावनासे अनुभव करता हुआ (को णामबुहो) कौन ऐसा बुद्धिमान ज्ञानी, विवेकी (इणंतिय मज्झं वयणं) इन पर भावोंको मेरे हैं ऐसा वचन (भणिज्ज) कह सक्ता है? अर्थात् कोई भी नहीं कह सक्ता। भावार्थः—ज्ञानी व विवेकी प्रथम आगमके द्वारा फिर युक्तिके द्वारा

फिर स्वानुभवके द्वारा समस्त मिथ्यात्व व रागद्वेषादि विभाव परिणामोंको अपनी शुद्ध आत्मीक परिणतिसे भिन्न अनुभव करता हुआ निश्चयसे न कभी ऐसा मान सक्ता है कि यह पर भाव मेरे हैं और न वचनोंके द्वारा कह सक्ता है क्योंकि वह दर्शन ज्ञान चारित्रमई अभेद रत्नत्रयकी भावनारूप निज समाधिमें लीन है, उसीका रसिक है। उसी परिणतिको अपनी वस्तु समझता है।

इसतरह विशेष भेद भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें पांच सूत्र समाप्त हुए ॥ ३२२ ॥

आगे प्रकाश करते हैं कि मिथ्यादर्शन व राग द्वेषादि परभावोंको अपना माननेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है तथा वीतराग परम चैतन्यमई लक्षणको रखनेवाले अपने आत्मीक स्वभावको अपना माननेसे यह जीव कर्मोंसे मुक्त होता है।

गाथाः—तेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि।
मा वज्झेऽहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि विचरंतो ॥३२३॥
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि।
णवि तस्स वज्झिदुं जे चिन्ता उप्पज्जदि कयावि ॥३२४॥
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जो पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥ ३२५ ॥

संस्कृतार्थः—स्तेयादीनपराधान् करोति यः स शंकितो भवति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥ ३२३ ॥
यो न करोत्यपराधान् स निःशंकस्तु जनपदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं अहो चिंतोत्पद्यते कदाचित् ॥ ३२४ ॥
एवं हि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता।
यः पुनर्निरपराधो निःशंकोऽहं न बध्ये ॥ ३२५ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई चोरी आदि अपराधोंको करता है वह मनमें शंका करता है कि लोगोंमें घूमते हुए मैं किसी कोतवाल आदिसे बांध न लिया जाऊंगा। तथा जो अपराधोंको नहीं करता है वह निःशंक रहता हुआ लोगोंमें घूमता है उसके कदापि यह चिन्ता नहीं पैदा होती है कि मैं कभी किसीसे बांधा जाऊंगा। इसीतरह जो अपराधी है वही आत्मा यह शंका करता है कि मैं कर्मोंसे बंधूंगा परंतु जो अपराध रहित है वह यह शंका नहीं करता है कि मैं बंधूंगा इससे निःशंक रहता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जो) जो कोई (तेया-दी अवराहे) चोरी परस्त्री रमण आदि अपराधोंको (कुव्वदि) करता है। (सो) वह पुरुष (संकिदो होदि) इस शंका सहित होता है कि (जणम्हि विचरंतो) जनसमूहके मध्यमें फिरते हुए (अहं) मैं (चोरोत्ति) चोर हूं ऐसा मानकर (केणावि) किसी भी कोतवाल आदिसे

(मावज्झे) न बांध लिया जाऊं। यह अन्वय दृष्टांत गाथा हुई। परन्तु (जो) जो कोई पुरुष (अवराहे) चोरी परस्त्री आदि अपराधोंको (ण कुणदि) नहीं करता है (सो) वह पुरुष (जणवंदे) लोगोंके बीचमें (णिस्संकोदु भमदि) विना किसी शंकाके किये हुए निडर भ्रमता है (तस्स) उस पुरुषके (चिंता) यह चिन्ता (कयावि) कभी भी (णविउप्पज्जदि) नहीं पैदा होती है (जे बज्झिदुं) कि अहो मैं किसीसे भी चोर मानकर बांध लिया जाऊंगा। यह व्यतिरेक दृष्टांतकी गाथा पूर्ण हुई। (एवं हि) इसी प्रकारसे ही (सावराहो) वह मनुष्य जो रागद्वेषादि परद्रव्यका ग्रहण या स्वीकार करता है सो अपने आत्मामें स्थितिरूप भावसे गिरा हुआ अपराधी होता है, वही अपराधी (चेदा) चेतन स्वरूप आत्मा (अहं बज्झामि) मैं ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे बंधूंगा ऐसा मानकर (संकिदो तु) शंका सहित होता है इसीलिये कर्मबंधसे डरा हुआ अपनेको प्रायश्चित्त व प्रतिक्रमणरूप दंड देता है। (पुण) परंतु (जो णिरावराहो) जो कोई रागादि भावरूप अपराधोंसे रहित है अर्थात् निरपराधी है वह (अहं ण बज्झामि) मैं नहीं कर्मोंसे बंधूंगा ऐसा मानकर (णिस्संकः) शंका रहित रहता है। वह बाह्य प्रतिक्रमण आदि दंडके लिये विना भी अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादिरूप निर्दोष परमात्माकी भावनामें ही शुद्ध हो जाता है। यह अन्वय व्यतिरेक दार्ष्टान्तकी गाथाएं पूर्ण हुई। भावार्थः—आत्माके शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म, व शरीरादि नोकर्म सर्व पर वस्तु हैं। जो परकी चीजको ग्रहण करता है वह चोर और अपराधी है उसके यह अवश्य शंका होती है कि कोई मुझे पकड़ न ले। तथा जो किसीकी चोरी नहीं करता उसे पकड़े जानेकी शंका नहीं होती। इसीतरह जो कोई अपने शुद्धात्मीक भावके सिवाय अन्य रागादि भावोंको ग्रहण करता है वह अपराधी है और कर्मोंसे बंधता है,—इसी शंकासे वह प्रायश्चित्तादि दंड ग्रहण करता है। परंतु जो पर भावको न ग्रहण कर अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है वह विना प्रतिक्रमण आदिके किये हुए ही परमात्माकी भावनासे ही शुद्ध हो जाता है। अतएव रागादि विकल्पोंको त्यागकर शुद्ध आत्मीक अनुभवमें लवलीन होनायोग्य है जिससे पर ग्रहण रूप अपराध न हो॥ ३२३-३२४-३२५॥

आगे शिष्यने प्रश्न किया कि अपराध क्या है? उसका उत्तर करते हैं:—

गाथा:—**संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च एयट्ठो।**
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो॥ ३२६॥

संस्कृतार्थः—संसिद्धिराधसिद्धिः साधितमाराधितं चैकार्थं।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः॥ ३२६॥

सामान्यार्थः—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित, आराधित यह सर्व एक अर्थ वाची हैं, जो कोई निश्चयसे इस राधसे रहित है सो चेतनेवाला आत्मा अपराधी है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(संसिद्धिराध सिद्धी साधियमाराधियं च एयट्ठो) तीन कालवर्ती सर्व मिथ्यात्व व विषय कषायादि विभाव परिणामोंसे रहित होनेसे विकल्प रहित समाधिमें ठहरकर अपने शुद्धात्माकी आराधना या सेवा करना उसको राध कहते हैं। संसिद्धि, सिद्धि, साधित, व आराधित यह सर्व उस ही राध शब्दके पर्याय वाची नाम हैं। (जो चेदा) जो कोई चेतनस्वरूप आत्मा (खलु) निश्चयसे (अवगदराधो) शुद्धात्माकी आराधनाको नष्ट करनेवाला है अर्थात् रागद्वेषादि विभाव परिणामोंमें ठहरनेवाला है (सो अवराहो होदि) वही अपराधरूप होता है। जो आत्मा अपराध सहित है वह सापराधी है परन्तु जो इससे विपरीत मन, वचन, कायकी गुप्तिरूप समाधिमें तिष्ठनेवाला है वह निरपराधी है। भावार्थः—अपने शुद्धात्माकी सेवाको राध कहते हैं—शुद्ध स्वरूपकी सिद्धिको संसिद्धि व सिद्धि, शुद्ध स्वरूपके साधनको साधित व उसकी आराधनाको आराधित कहते हैं, इसलिये यह सब शब्द एक अर्थके वाचक हैं। जो कोई आत्मा निश्चयसे इस राधका सेवक है वह तो निरपराधी है परन्तु जो इस सेवासे भ्रष्ट है और रागद्वेषादि परिणामोंमें वर्तन करनेवाला है वह अपराधी है। जो अपराधी है वह कर्मबंधसे लिप्त होता है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि हे भगवन्! शुद्ध आत्माकी आराधनाके परिश्रमसे क्या सिद्ध होगा? क्योंकि यह आत्मा प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठानोंसे ही अपराध रहित होजाता है। क्योंकि जो अपराध सहित है उसके अप्रतिक्रमण अर्थात् प्रतिक्रमणका न करना आदि दोष होते हैं उस दोषरूप अपराधके न विनाशक होनेके कारण उसे विष अर्थात् जहरका कुंभ कहते हैं। और प्रतिक्रमण आदिक दोष या अपराधके विनाश करनेवाले हैं इसलिये इनको अमृत कुंभ कहते हैं, जैसा कि चिरंतन प्रायश्चित ग्रंथमें कहा है।

उक्तं च गाथाः—अपड़िकमणं अपड़िसरणं अपड़िहारो अधारणा चेव
अणियत्तीय अणिंदा अगरुहा सोहीय विसकुंभो।
पड़िकमणं पड़िसरणं पड़िहरणं धारणा णियत्तीय
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमय कुंभो दु॥

भावार्थः—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि इनका न करना सो विषका कुंभ है तथा इन आठों भेदोंका करना सो अमृत कुंभ है॥ ३२६॥

अब इस पूर्व पक्षका परिहार करते हैं—

गाथाः—पड़िकमणं पड़िसरणं परिहरणं धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोहिय अट्ठविहो होदि विसकुंभो॥३२७॥

संस्कृतार्थः—प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः॥ ३२७॥

सामान्यार्थः—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार व प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि यह आठ प्रकारका विष कुंभ है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(पड़िकमणं) पूर्वमें किये हुए दोषका निराकरण करना सो प्रतिक्रमण है। (पड़िसरणं) सम्यक्त्व आदि गुणोंमें प्रेरणा करना सो प्रतिसरण है। (परिहरणं) मिथ्यात्त्व व रागद्वेषादि दोषोंका निवारण करना सो प्रतिहरण है। (धारणा) पंच नमस्कार आदि मंत्रोंके व प्रतिमा आदि बाहरी द्रव्यके आलंबनके द्वारा चित्तका स्थिर करना सो धारणा है। बाहरके पंचेन्द्रियोंके विषय और कषायोंमें इच्छापूर्वक जाते हुए चित्तका हटाना सो निवृत्ति है। अपने आत्माको साक्षी करके स्वयं अपने दोषोंका प्रकट करना व विचार करना सो निंदा है। गुरुकी साक्षीमें उनके सामने अपने दोषोंका प्रकट करना सो गर्हा है। दोष हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त लेकर अपनी विशुद्धता करनी सो शुद्धि है। यह आठ भेदरूप शुभोपयोग है सो यद्यपि मिथ्यात्त्व आदि विषय कषायोंमें परिणतरूप अशुभोपयोगकी अपेक्षासे यह विकल्परूप सरागचारित्र है इससे इस अवस्थामें इन आठ भेदोंको अमृतका कुंभ कहते हैं तथापि रागद्वेष मोह, अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ; देखे, सुने, अनुभवे भोगोंकी इच्छारूप निदानबंध आदि सर्व परद्रव्यके आलंबनरूप विभाव परिणामोंसे शून्य चिदानंदमई एक स्वभावरूप विशुद्ध आत्माके आलंबनसे भरपूर विकल्प रहित शुद्धोपयोग लक्षणको रखनेवाले निश्चय प्रतिक्रमणकी अपेक्षासे वीतराग चारित्रमें ठहरे हुए पुरुषोंके लिये विषका कुंभ है। क्योंकि निश्चय प्रतिक्रमण आदि भावोंका रखनेवाला ज्ञानी जीव है उसके निश्चय प्रतिक्रमण आदि भाव होते हैं और वे शुद्ध आत्मीक भाव अमृतके कुंभके समान हैं।

जैसा कि इस गाथामें कहा है।

अपड़िकमणं अप्पड़िसरणं अप्पड़िहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदा अगुरुहा विसोहिय अमिय कुंभो॥

यह निश्चय प्रतिक्रमण आदि रूपभाव अमृतमई हैं। यह तीसरी भूमि है इसकी अपेक्षासे व्यवहार प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आदिरूप जो दूसरी भूमि है वह विषमई है। परन्तु शुभोपयोगमई प्रतिक्रमण आदि रूप दूसरी भूमिको छोड़कर जो इस प्रतिक्रमणका भी अभावरूप अशुभोपयोगमई पहली भूमि है उसकी अपेक्षा यह दूसरी भूमि अमृत कुंभ है॥

इस कथनका विशेष खुलासा आचार्य करते हैं कि—अप्रतिक्रमण दो प्रकारका होता है। एक अज्ञानी जनोंके आश्रित दूसरा ज्ञानी जनोंके आश्रित। अज्ञानी जनोंमें जो अप्रतिक्रमण आदि होते है वे विषय व कषायोंमें परिणमनरूप अशुभोपयोगरूप होते हैं। परन्तु आत्मज्ञानी जीवोंमें जो अप्रतिक्रमण होता है वह शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र लक्षणको रखनेवाला मन वचन कायकी गुप्तिरूप होता है। तत्वज्ञानी जनोंके आश्रितरूप-

जो अप्रतिक्रमण है वह सराग चारित्र लक्षणको रखनेवाले शुभोपयोगकी अपेक्षासे यद्यपि अप्रतिक्रमण कहा जाता है तो भी वीतराग चारित्रकी अपेक्षासे वही अप्रतिक्रमण निश्चय प्रतिक्रमण है। व्यवहार प्रतिक्रमणकी अपेक्षासे इसको अप्रतिक्रमण कहते हैं तथा यही भाव ज्ञानी मनुष्यके मोक्षका कारण होता है। व्यवहार प्रतिक्रमणका ऐसा फल है कि यदि कोई अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको उपादेय अर्थात् ग्रहणे योग्य मानके निश्चय प्रतिक्रमणके लिये निमित्त साधक है ऐसा जान विषय व कषायोंने हटनेके लिये इस व्यवहार प्रतिक्रमणको करता है उसके लिये यह व्यवहार प्रतिक्रमण भी परम्परासे मोक्षका कारण होता है। और यदि शुद्धात्माकी भावनाके अभिप्रायसे नहीं किया जाता है तो यही व्यवहार प्रतिक्रमणरूप शुभोपयोग स्वर्गादि सुखोंके निमित्तभूत पुण्य कर्म बंधका ही कारण है। तथा अज्ञानी जनोंमें होनेवाला मिथ्यात्व व विषय कषाय आदिरूप जो अप्रतिक्रमण है वह तो नरक आदिके दुःखोंका ही कारण है। इस तरह यह कहा कि यह प्रतिक्रमणरूप आठ प्रकारका विकल्प रूप शुभोपयोग यद्यपि विकल्प सहित अवस्थामें अमृतका कुंभ है तो भी सुख दुःख आदिमें समतामई लक्षणको धारनेवाले परम उपेक्षा संयमकी अपेक्षासे विषका कुंभ ही है। इसप्रकार व्याख्यानकी मुख्यतासे ४ गाथाएं पूर्ण हुईं। भावार्थः--प्रतिक्रमण आदि करना कि मेरे पिछले दोष मिथ्या हों इस कारण तो अमृतका कुंभ है कि यह अशुभोपयोगको मिटाकर शुभोपयोगको रखनेवाला है तथा इस कारण यह विषका कुंभ है कि यह बंधका कारण है। और शुद्धोपयोगमें तल्लीनतारूप निश्चय प्रतिक्रमण अमृतका कुंभ है। अतएव ज्ञानी जीवोंको अशुभ उपयोगके टालनेके निमित्त निश्चय प्रतिक्रमणकी प्राप्तिके उद्देश्यसे व्यवहार प्रतिक्रमण करना योग्य है। परंतु जब निश्चय स्वरूपमें स्थितिरूप निश्चय प्रतिक्रमणका लाभ हो तब यह व्यवहार प्रतिक्रमण त्यागने योग्य है क्योंकि यह पुण्यबंधका कारण है। प्रतिक्रमणका बिल्कुल न करना उसे भी अप्रतिक्रमण कहते हैं तथा शुद्धात्मामें लीन होकर व्यवहार प्रतिक्रमणको न करते हुए निश्चय प्रतिक्रमणके करनेको भी अप्रतिक्रमण कहते हैं। अज्ञानी जीवोंका पहला अप्रतिक्रमण अशुभ उपयोगरूप और नारकादि दुःखोंका कारण पापकर्मका बंध करनेवाला है तथा तत्वज्ञानी जीवोंका अप्रतिक्रमण बंधका नाशक और मोक्षका साधक तथा परम उपादेय अमृतरूप है। व्यवहार प्रतिक्रमण शुभोपयोगरूप है सो अशुभोपयोगकी अपेक्षा अमृत कुंभ है पर शुद्धोपयोगकी अपेक्षा विषकुंभ है। इस अभिप्रायको भले प्रकार समझकर तत्वज्ञानीको रागद्वेष त्याग वीतराग चारित्रमई स्वरूपमें वर्तन करना योग्य है॥ ३०७॥

इसप्रकार समयसारकी शुद्धात्मानुभूतिमई लक्षणको रखनेवाली तात्पर्यवृत्तिरूप समयसारकी व्याख्यामें २२ गाथाओंमें चार अंतर अधिकारोंमें नवां मोक्षका अधिकार समाप्त हुआ।

तहां ऐसा होनेपर श्रृंगार रहित नाटकके पात्रकी तरह रागद्वेषादिसे रहित तथा शांत रसमें परिणमन करता हुआ शुद्ध आत्मीकरूपसे मोक्ष तत्व रंगभूमिसे चला गया।

दशवां महाधिकार (१०)

मोक्षतत्त्व चूलिका।

सर्व विशुद्ध ज्ञान।

अब सर्व विशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

यद्यपि यह जीव संसार पर्यायको आश्रय करके अशुद्ध उपादानरूपसे व अशुद्ध निश्चय नयसे कर्तापना, भोक्तापना तथा बंध मोक्ष आदि परिणामोंसे युक्त है तथापि सर्व प्रकारसे विशुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध उपादानरूप शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे यह जीव कर्तापना भोक्तापना व बंध मोक्ष आदि कारणरूप परिणामोंसे शून्य ही है इसतरह "दवियं जं उप्पज्जदि" इत्यादि गाथाको आदि लेकर १४ गाथाओं पर्यन्त मोक्ष पदार्थकी चूलिकाका व्याख्यान करते हैं। उनमेंसे आदिके ४ चार सूत्रोंमें यह वर्णन है कि निश्चयसे यह जीव कर्मका कर्ता नहीं है उसके पीछे शुद्ध उपयोगभागीके जो ज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंका बंध होना है सो अज्ञानकी महिमा है इसके कहनेके लिये 'चेदाओ पयडि अट्ठं' इत्यादि प्राकृतके श्लोक चार हैं। इसके पीछे निश्चयसे यह जीव भोक्ता नहीं है इस बातको प्रकट करनेके लिये "अण्णाणी कम्मफलं" इत्यादि सूत्र चार हैं। उसके बाद मोक्ष चूलिका अधिकारको संकोच करते हुए "विकुणदि" इत्यादि दो सूत्र कहते हैं। इसतरह मोक्ष पदार्थकी चूलिकामें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई ॥

अब कहते हैं कि निश्चयसे यह जीव कर्मोंका कर्ता नहीं होता हैः-

गाथाः—**दवियं जं उप्पज्जदि गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।**
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३२८ ॥

संस्कृतार्थः—द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत्।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३२८ ॥

सामान्यार्थः—जैसे सुवर्ण अपनी कड़ी आदि पर्यायोंसे एक है भिन्न नहीं है तैसे जो द्रव्य परिणमन करता है सो अपने गुणोंसे अभिन्न होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (कणयं) कनक व सुवर्ण (इह) इस जगतमें (कडयादीहिं पज्जएहिं दु) अपनी कड़ी, कड़े, वाली, भुजबन्द आदि पर्यायोंसे (अणण्णम्) दूसरा नहीं है अर्थात् वे

कड़े आदि उसी सुवर्णकी अवस्थाएं हैं और वह सुवर्ण उनसे भिन्न नहीं है तैसे ही (जं दवियं उप्पज्जदि) जो द्रव्य अपनी पर्यायोंमें उत्पन्न होता है अर्थात् परिणमन करता है (तं) सो द्रव्य (तेहिं गुणेहिं) अपने ही गुणोंके साथ (अणण्णं) अनन्य अर्थात् एक है उनसे जुदा नहीं है ऐसा (जाणसु) जानो। भावार्थः—द्रव्यमें गुण नित्य रहते हैं कभी गुण द्रव्यको छोड़ते नहीं हैं। द्रव्यकी जो २ अवस्थाएं होती हैं वे ही गुणोंकी अवस्थाएं हैं—वे अवस्थाएं द्रव्य व गुणसे भिन्न नहीं होसक्तीं—प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुणोंमें परिणमन करता है कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता. जैसे सुवर्णको चाहे जितनी चीजें बनावें वे सर्व सुवर्णसे भिन्न नहीं होतीं। इसीतरह द्रव्य अपनी पर्यायोंसे भिन्न नहीं होता, कोई द्रव्य पर द्रव्यका कर्ता नहीं होसक्ता। यह कथन उपादानकी अपेक्षा किया है ॥ ३२८ ॥

अब जीव अजीव द्रव्यके सम्बन्धमें कहते हैं:—

गाथाः—जीवस्साजीवस्सय जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिं मणण्णं वियाणाहि ॥ ३२९ ॥

संस्कृतार्थः—जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे।
ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३२९ ॥

सामान्यार्थः—सूत्रमें व परमागममें जो जीव व अजीवके परिणाम बतलाए हैं वे परिणाम क्रमसे जीव व अजीव रूप हैं उनसे भिन्न नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(सुत्ते) सूत्ररूप परमागममें (जे) जो (जीवस्स जीवस्सय) जीव या अजीव सम्बन्धी (परिणामा) अवस्थाएं (देसिदादु) कही गई हैं (तेहिमणण्णं) उन ही पर्यायोंसे अभिन्न (तं जीवं वा अजीवं) उस जीव वा अजीव द्रव्यको (वियाणाहि) जानो। भावार्थः—जैसे सुवर्ण अपनी कुंडलादि पर्यायोंसे अभिन्न अर्थात् एक रूप है, इसीतरह जीव द्रव्य अपनी चेतनाके ज्ञान दर्शनादि परिणामोंसे व पुद्गल अपनी नाना प्रकार पर्यायोंसे अभिन्न अर्थात् एकरूप है। जीव द्रव्यकी पर्यायें जीवरूप व पुद्गलकी पुद्गलरूप हैं ॥ ३२९ ॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव नर नारकादि पर्यायोंमें कदापि नहीं उत्पन्न होता हैः—

गाथाः—ण कुदोवि विउप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण सो होदि ॥ ३३० ॥

संस्कृतार्थः—न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३३० ॥

सामान्यार्थः—यह आत्मा किसीसे भी निश्चयसे पैदा नहीं हुआ है इस कारण यह किसीका कार्य नहीं है और न यह किसीको निश्चयसे पैदा करता है इससे यह आत्मा कारण भी

नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जम्हा) क्योंकि (सोआदा) वह आत्मा (कुदोवि) शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा किसी भी कर्मके द्वारा कभी भी (णविउप्पण्णो) नर नारक आदि विभाव पर्याय-रूपसे नहीं पैदा हुआ है (तेण) इस कारणसे (ण कम्मं) कर्म और नोकर्मकी अपेक्षासे यह उनका कार्य नहीं है (ण किंचिवि) और यह आत्मा न किसी द्रव्यकर्म या नोकर्मको उपादान रूपसे (उप्पादेदि) पैदा करता है (तेण) इसकारणसे (सो कारणमवि) यह आत्मा कर्म और नोकर्मका कारण भी (णहोदि) नहीं होता है इसलिये यह अपनेसे पर कर्मोंका न तो करने-वाला है और न उनको छोड़नेवाला है इससे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा यह बंध और मोक्षका कर्त्ता नहीं होता है। भावार्थः—शुद्ध निश्चय नय शुद्ध स्वरूपको ही ग्रहण करनेवाली है उसकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो यह आत्मा केवल अपने शुद्धभावोंका ही कर्त्ता और भोक्ता है, न यह ज्ञानावरणादि कर्म व शरीरादि नोकर्मोंको करता है और न इसके नर नारक आदि पर्याएँ हैं, इससे न वह द्रव्यकर्मोंके उदयका कार्य है और न वह द्रव्यकर्मोंके करनेमें उनका कारण होता है। उपादान मूल पदार्थको ही कहते हैं उसकी अपेक्षा कोई वस्तु परकी करनेवाली व परसे की हुई नहीं हो सकी। इस कारण न तो आत्मा अपनेसे भिन्न पर पुद्गला-दिकोंका कर्त्ता है और न उनसे किया जाता है इससे कारण और कार्य नहीं है। शुद्ध निश्चय-नयसे अपने शुद्ध स्वरूपमें ही रहता है ॥ ३३० ॥

आगे कर्त्ताकर्मका उपचार है ऐसा कहते हैं:—

गाथाः—कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंतिय णियमा सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥३३१॥

संस्कृतार्थः—कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि।
उत्पद्यंते नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥ ३३१ ॥

सामान्यार्थः—कर्मकी प्रतीति करके उपचारसे जीव कर्त्ता है तथा जीव कर्त्ताको प्रतीति करके उपचारसे उसके कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियमसे कहते हैं इसके सिवाय अन्य प्रकारसे कर्त्ताकर्मकी सिद्धि नहीं हो सकी। शब्दार्थ सहितविशेषार्थ—पहले कहा है कि जैसे सुवर्ण द्रव्यका अपने कुंडल रूप परिणामके साथ एकता व अभिन्नता है ऐसे ही जीवका अपने जीव सम्बन्धी परिणामोंके साथ और पुद्गलका पुद्गल सम्बन्धी परिणामोंके साथ एकत्व है तथा फिर कहा है कि कर्म और नो कर्मोंसे जीव नहीं पैदा होता और न जीव उपादान रूपसे कर्म और नोकर्मोंको पैदा करता है इससे नीचे प्रमाण जाना जाता है;— कि (कम्मं पडुच्च कत्ता) कर्म अर्थात् भाव कर्म व द्रव्यकर्मको जानकर यह कहनेमें आता है कि यह जीव उपचारसे व व्यवहार नयसे उन कर्मोंका कर्त्ता है-(तह कम्माणि कत्तारं पडुच्च उप्पज्जंतिय) तथा द्रव्य व भावकर्मोंको उपचारसे जीव कर्त्ता है ऐसा मानकर ये कर्म उत्पन्न होते हैं

(णियमा) यह बात नियमसे है इसमें कोई संदेहकी जरूरत नहीं है अर्थात् एक दूसरेका निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है, द्रव्य कर्मोंके उदयके निमित्तसे जीवके भाव होने व भावोंके निमित्तसे नवीन द्रव्य कर्मोंका आश्रव होता है। (अण्णा सिद्धी दु ण दिस्सदे) इस परस्परके निमित्त भावको छोड़कर अन्य प्रकारसे अर्थात् शुद्ध उपादान रूपसे व शुद्ध निश्चय नयसे जीवके सम्बन्धमें कर्त्ता कर्मपनेकी सिद्धि नहीं देखी जा सकी अर्थात् शुद्ध निश्चयनयसे जीव कर्म वर्गणा योग्यपुद्गलोंका कर्त्ता नहीं है। इससे यह सिद्ध हुवा कि शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव पुद्गलमई कर्मोंका कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार चौथी गाथा हुई। भावार्थ:— जीव और कर्मोंके साथ केवल निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है। उपादान दोनोंके भिन्न हैं। शुद्ध निश्चय नयसे न यह द्रव्यकर्मादि जीवके कर्म हैं और न जीव इनका कर्त्ता है, व्यवहारमें उपचारसे कर्मोंकी अपेक्षा जीवको कर्त्ता और उन कर्मोंको जीवका कर्म कहते हैं शुद्ध निश्चयसे नहीं। ऐसा जानकर आत्माको शुद्धरूप कर्तृत्वमें ठहरानेका यत्न करना जरूरी है॥३३१॥ इस प्रमाण निश्चयनयसे जीव कर्मोंका कर्त्ता नहीं होता है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे पहले स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुई।

आगे निश्चयसे शुद्ध आत्माका ज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंके साथ जो कर्मोंका बंध होता है वह अज्ञानकी महिमा है ऐसा प्रकट करते हैं—

श्लोक—चेदा दु पयडियट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि।
पयडीवि चेदयट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि॥ ३३२॥
एवं बंधो दुण्हंपि अण्णोण्णपच्चयाण हवे।
अप्पणो पयडि एय संसारो तेण जायदे॥ ३३३॥

संस्कृतार्थः—चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति॥ ३३२॥
एवं बंधो द्वयोरपि—अन्योन्यप्रत्ययोर्भवेत्।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते॥ ३३३॥

सामान्यार्थः—यह अज्ञानी आत्मा तो कर्मकी प्रकृतिका उदयका निमित्त पाकर अपने विभाव परिणामोंसे उत्पन्न होता है व नष्ट होता है। इसीतरह कर्म प्रकृति भी आत्मा के परिणामोंका निमित्त पाकर उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसी प्रकारसे संसारी आत्माका और ज्ञानावरणीय आदि कर्म वर्गणाओंका परस्पर बंध होता है। इसी बंधसे इस जीवके संसार उत्पन्न होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थ:—(चेदा दु) यह आत्मा तो अपने आत्मामें तल्लीनतारूप स्वस्थ भावसे गिरा हुआ (पयडियट्ठं) कर्म प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर (उप्पज्जदि) रागादि विभाव परिणामोंसे उत्पन्न होता है व

(विणस्सदि) नष्ट होता है। अर्थात् पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंका निमित्त पाकर जब यह अपने स्वरूपमें लीन नहीं रहता तब रागादि परिणामोंको करता रहता है और वे परिणाम हो होकर नष्ट हो जाते हैं। (पयडीवि) कर्मोंकी प्रकृति भी (चेदयट्ठं) चेतनेवाला जो जीव उसके रागद्वेषादि परिणामोंका निमित्त पाकर (उप्पज्जदि) ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी अवस्थारूप उत्पन्न होती है अर्थात् जीवके रागादि भावोंके निमित्तसे नवीन कर्मवर्गणाएं आकर आत्मासे सम्बन्ध करती हैं तथा (विणस्सदि) अपना काल पाकर कर्मरूप अवस्थासे नष्ट होती हैं अर्थात् आत्मासे सम्बन्ध छोड़ देती हैं। (एवं) पूर्वमें कहे हुए प्रमाण अपने स्वस्थभावसे भ्रष्ट आत्माके (दुण्हंपि अप्पणोपयड़िएय) आत्मा और कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल पिंडरूप ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका (बंधो, एक क्षेत्रवगाहरूप बंध (अण्णोण्णपच्चयाण) परस्पर निमित्त कारणरूप होते हुए (हवे) होता है अर्थात् रागद्वेषादि अज्ञान भावसे इन कर्मोंका बंध होता है (तेण) उसी बंधके कारणसे (संसारो जायदे) संसार उत्पन्न होता है। आत्माके स्वभावमई निज स्वरूपसे कर्मोंका बंध नहीं होता और न संसार होता है। भावार्थः—पूर्वबद्ध कर्म जब उदयमें आता है तब यदि यह आत्मा स्व स्वरूपमें नहीं है तब उस उदय जनित द्रव्यकर्मोंका निमित्त पाकर इसके रागद्वेषादि परिणाम होते हैं। और जब इसके रागद्वेषादि परिणाम होते हैं तब ही नवीन कर्मवर्गणाएँ आकर्षित होकर उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मबंधरूप परिणमती हैं ऐसा कर्मबंध और आत्मामें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। मूल कारण राग द्वेष अज्ञान भाव है। यदि यह पुरुषार्थी होकर विभाव भावोंके मेटनेका यत्न करे तो जितना राग द्वेष हटायेगा उतना बंध कम होगा, कर्मबंध जब तक है तब ही तक संसार है क्योंकि पाप व पुण्यरूप बंधके निमित्तसे यह आत्मा चारों गतियोंमें भ्रमण करता है। भव-भ्रमणसे छूटता नहीं। ऐसा जान मुमुक्षु आत्माको रागद्वेषादि विभाव भावोंके हटानेका यत्न करना आवश्यक है ॥ ३३२-३३३ ॥

आगे उपदेश करते हैं कि जब तक यह जीव शुद्धात्माके अनुभवसे गिरा हुआ उदयरूप प्रकृतिका निमित्त पाकर रागादिक भाव करता है उनको छोड़ता नहीं है उस समय तक यह अज्ञानी रहता है। जब रागादि भावोंको त्यागता है तब ज्ञानी होता है।

श्लोक—जाएसो पयडियट्ठं चेदगो ण विमुंचदि।
अयाणओ हवे तावं मिच्छादिट्ठी असंजदो ॥ ३३४ ॥
जदा विमुंचदे चेदा कम्मप्फलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणगो पस्सगो मुणी ॥ ३३५ ॥

संस्कृतार्थः—यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३३४ ॥

यदा विमुंचति चेतयिता कर्मफलमनंतकं ।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३३५ ॥

सामान्यार्थः—जब तक यह आत्मा कर्मोदयरूपमें तन्मईपनेको नहीं छोड़ता है तब तक मिथ्यादृष्टी, अज्ञानी और असंयमी है और जब यह आत्मा अनंत शक्तिरूप कर्मके फलको अर्थात् उसमें तन्मई होनेके भावको छोड़ देता है तब यह सम्यग्दृष्टी, ज्ञानी और संयमी होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(जाए) जब तक (एसो) यह (चेदगो) चेतनेवाला जीव परमात्म स्वरूपके सम्यक्श्रद्धान, उसीका सम्यग्ज्ञान व उसीमें अनुभव स्वरूप अभेद रत्नत्रयमई भावके अभावसे (पयडियट्ठं) द्रव्यकर्मोंके उदयरूप रागादिक भावोंको (णवि मुचंदि) नहीं छोड़ता है (तावं) उस समय तक रागद्वेषादि विभाव परिणाम स्वरूप ही आत्मा है ऐसी श्रद्धा रखता है, ऐसा जानता है व ऐसा ही अनुभव करता है इस कारणसे (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टी व (अयाणओ) मिथ्याज्ञानी व (असंजदो) असंयमी (हवे) होता है। ऐसा होता हुआ मोक्षका लाभ नहीं कर सका, तथा (जदा) जब (चेदा) यह आत्मा (अणंतयं) शक्तिरूपसे अनंत (कम्मफलं) ऐसे मिथ्यात्व व रागद्वेषादिरूप कर्म फलको (विमुंचदि) छोड़ देता है (तदा) तब शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्मतत्वको भले प्रकार श्रद्धान, ज्ञान, व अनुभव स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके सद्भावसे अर्थात् लाभ करलेनेसे मिथ्यात्त्व रागादिक भावोंसे भिन्न आत्माको श्रद्धान करता है, जानता है व उसका अनुभव करता है तब (पस्सगो) सम्यग्दृष्टी, (जाणगो) सम्यग्ज्ञानी और (मुणी) सम्यक्चारित्री संयमी मुनि होता है और ऐसा होता हुआ विशेषकरके भाव कर्मोंको व मूल व उत्तर प्रकृतिरूप द्रव्य कर्मोंको नाश करके (विमुत्तो) मुक्त (हवदि) हो जाता है। भावार्थः—कर्मोंके उदयके निमित्तसे जो २ औपाधिक भाव होते हैं उनको जो अपना मानकर उनमें तन्मई हो जाता है वही मिथ्यात्वी, अज्ञानी और असंयमी है परंतु जो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें यथार्थ श्रद्धा रखता हुआ उसके विशेष ज्ञान व स्वात्मानुभवमें तल्लीन रहता है वह अभेद रत्नत्रयको पाकर कर्मोंके फलमें रागद्वेषादि भाव नहीं करता है और सम्यग्दृष्टी, ज्ञानी और संयमी रहता हुआ अपने दृढ़ अभ्यासके बलसे सर्व भाव और द्रव्य कर्मोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है॥ ३३४-३३५ ॥

इसतरह यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चय नयसे कर्ता नहीं है तो भी अनादि कर्मबंधके कारणसे मिथ्यात्त्व राग द्वेषादि अज्ञानभाव रूपसे परिणमन करता हुआ कर्मोंको बांधता है, ऐसी अज्ञानकी सामर्थ्यको बतलानेके लिये दूसरे स्थलमें चार सूत्र पूर्ण हुए।

आगे कहते हैं कि शुद्ध निश्चयसे कर्मोंके फलोंको भोगना जीवका स्वभाव नहीं है क्योंकि भोक्तापना अज्ञान स्वभाव है।

गाथाः—अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि॥ ३३६॥

संस्कृतार्थः—अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते॥ ३३६॥

सामान्यार्थः-अज्ञानी आत्मा कर्मोंकी प्रकृतियोंके स्वभावमें ठहरा हुआ कर्मोंके फलको अनुभव करता है तथा ज्ञानी कर्मोंके फलको जानता मात्र है, उदयरूप अवस्थाको भोगता नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभावमई आत्मतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमई भेदज्ञानके अभावसे (अण्णाणी) अज्ञानी जीव (पयडिसहावट्ठिदो) उदयमें आए हुए कर्मोंकी प्रकृतिके स्वभावमई सुख दुःखरूप अवस्थामें ठहरकर हर्ष और विषादसे तन्मई होकर (कम्मफलं दु वेदेदि) कर्मोंके फलको अनुभव करता है (पुण) परंतु (णाणी) ज्ञानी पहले कहे हुए भेद ज्ञानके रखनेके कारण वीतराग स्वभाव हीसे परमानंदरूप सुख रसके आस्वादसे अर्थात् परम समता रसमई भावसे परिणमन करता हुआ (उदिदं कम्मफलं) उदयमें आए हुए कर्मोंके फलको (जाणदि) जैसा उस वस्तुका स्वभाव है उसीके स्वभावरूपसे उसी तरह ज्ञाता दृष्टा रहता हुआ जानता ही है तथा (णवेदेदि) हर्ष और विषादसे तन्मई होकर नहीं अनुभव करता है। भावार्थः-अज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावके अनुभवसे बाहर है इसलिये पापके उदयमें तन्मई होकर दुःखी होता है व पुण्यके उदयमें तन्मई होकर क्षणभरके लिये सुख कल्पना करलेता है कभी हर्ष कभी शोक इस परिणतिमें फंसा रहता है अर्थात् कर्मोंके उदयमें तन्मई रहता है। परंतु ज्ञानी आपा परका भेद जानता है इससे जब शुभ कर्मोंका उदय आता है और जब जो सातारूप अवस्था होती है उसमें हर्ष न करके यह पुण्योदयका क्षणिक कार्य है ऐसा मानता है और जब पाप कर्मोंका उदय आता है तब जो असातारूप अवस्था होती है उसमें शोक व विषाद न करके यह पापोदयका क्षणिक कार्य है ऐसा मानता है। ज्ञानी सदा वस्तुके स्वरूपका विचार रखता है इससे कर्मोदयोंमें तन्मई नहीं होता, अपने शुद्ध आत्मीक स्वरूप ही में लवलीनता हीको अपना मुख्य कर्तव्य समझता है॥३३६॥

अज्ञानी जीव अपराधी होता है इसीसे शंकारूप रहता है निःशंक नहीं होता तथा ऐसा होता हुआ कर्मोंके फलको तन्मई होकर भोगता है परंतु ज्ञानी अपराधी नहीं होता ऐसे ज्ञानीको जब कर्मोंका उदय होता है तब क्या करता है सो कहते हैं:-

गाथाः—जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आराहणाय णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो॥ ३३७॥

संस्कृतार्थः—यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति।
आराधनया नित्यं वर्त्तते अहमिति विजानन्॥ ३३७॥

सामान्यार्थः—परन्तु जो कोई चेतनेवाला आत्मा अपराध रहित है वह निःशंक रहता है तथा अपने स्वरूपको अनुभव करता हुआ नित्य आराधना सहित वर्तन करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(पुण) परन्तु (जो चेदा) जो कोई ज्ञान, दर्शन स्वभावधारी आत्मा (णिरावराहो) परको अपना नहीं मानता हुआ अपराध रहित है (सो) वह (णिस्संकिदो दु होदि) परमात्माकी आराधना व सेवा व अनुभवमें शंका रहित होता है, निःशंक रहकर (अहमिदि वियाणंतो) मैं अनंत ज्ञानदर्शन सुखादिरूप हूं ऐसा विकल्प रहित समाधिमें ठहरकर भले प्रकार जानता हुआ अर्थात् शुद्ध आत्माका परम समता रसके भावसे अनुभव करता हुआ (णिच्चं) सर्वकालमें (आराहणाय वट्टदि) निर्दोष परमात्माकी आराधनारूप निश्चय आराधनासे वर्तन करता है। भावार्थः—जिसने रागद्वेषादि भाव दूर किये हैं और परको अपनाना छोड़ा है वह निरपराधी है इसीसे किसी प्रकारकी शंका नहीं रखता है न किसी तरहका भय करता है। वह निरन्तर स्वात्मानुभवमें ही लीन रहता हुआ स्वात्मरसका रसिक रहता है तथा अपने स्वरूपको शुद्ध निश्चयसे अनंत ज्ञानादिरूप जानता है॥ ३३७॥

आगे कहते हैं कि अज्ञानी नियमसे कर्मोंका भोक्ता हो जाता है:—

गाथाः—ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइदूण सच्छाणि।
गुडदुद्धंपि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ ३३८॥

संस्कृतार्थः—न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठुपि अधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति॥ ३३८॥

सामान्यार्थः—जैसे सांप दूध और गुड़को पीते हुए भी अपने विषको नहीं छोड़ते ऐसे ही अभव्यजीव भलेप्रकार शास्त्रोंको पढ़ कर भी कर्म प्रकृतिके उदयके स्वभावको नहीं छोड़ते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—जैसे (पण्णया) सर्प (गुडदुद्धंपि पिवंता) शक्कर सहित दूधको पीते हुए भी (णिव्विसा) विष रहित (णहोंति) नहीं होते हैं तैसे (अभव्वो) अज्ञानी अभव्यजीव (सच्छाणि) शास्त्रोंको (सुट्ठुवि) भलेप्रकार (अज्झाइदूण) पढ़ करके भी (पयडिम्) मिथ्यात्व रागद्वेषादिरूप कर्म प्रकृतिके स्वभावको (णमुयदि) नहीं छोड़ता है। क्योंकि इसके वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानका अभाव है इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्व रागद्वेषादि भावोंमें तन्मई होता है। भावार्थः—जिस वस्तुका जो स्वभाव होता है वह उस स्वभावको नहीं त्याग सक्ता, जैसे सर्पोंके अन्दर विष होता है उनको चाहे दूध और मिश्री कितनी ही पिलाई जावे परंतु वे अपने विषपनेको छोड़ विषरहित नहीं होते हैं उनका विष नहीं उतरता है। उसीतरह अभव्य अज्ञानी जीव चाहे कितना ही शास्त्रोंको पढ़े मिथ्यात्व व रागादि भावोंमें तन्मईपना धरनेके स्वभावको नहीं छोड़ता. क्योंकि उसके अन्दरमें अपने शुद्ध आत्मतत्वका ऐसा निश्चय नहीं होता जिससे उसके नि-

तमें वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानका अनुभव रहा करे। इसी कारण अज्ञानी जीव अशुभकर्मोंके उदयमें मैं दुःखी हूं इस भावसे तन्मई होकर घवड़ाता है और जव शुभ कर्मोंका उदय होता है तव मैं सुखी हूं इस भावमें तन्मई होकर अहंकार कर लेता है। इसीसे कर्मोंका भोक्ता हो जाता है—मात्र ज्ञाता दृष्टा नहीं रहता ॥ ३३८ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी नियमसे कर्मोंका भोक्ता नहीं होता—

गाथाः—**णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि।**
महुरं कडुवं वहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो ॥ ३३९ ॥

संस्कृतार्थः—निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन प्रज्ञप्तः ॥ ३३९ ॥

सामान्यार्थ—वैराग्यको धारनेवाला ज्ञानी जीव कर्मोंके फलोंको मधुर, कटुकादि नाना प्रकाररूप मात्र जानता है इसीसे उसको अभोक्ता कहा है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(णिव्वेद समावण्णो) संसार, शरीर, भोग इन तीनोंसे वैराग्य भावको रखता हुआ (णाणी) परम तत्त्वज्ञानी जीव (कम्मफलं) उदयमें आए हुए शुभ या अशुभ कर्मोंके फलको वस्तु स्वरूपसे तथा विशेषपने (वियाणादि) विकार रहित अपने शुद्ध आत्म स्वरूपसे भिन्न जानता है, अर्थात् (महुरं कडुवं बहुविहम्) उन कर्मोंमेंसे अशुभ कर्मोंके फलको नीम, कांजीर, विष व हलाहलके समान कड़वा जानता है तथा शुभ कर्मोंके फलको नाना प्रकार गुड़, खांड़, सक्कर और अमृतरूपसे मीठा जानता है। अघातिया कर्मोंमें जव अशुभ नाम, गोत्र, आयु तथा वेदनीयका उदय होता है तव उनके स्वरूपको विचार लेता है कि वह नीम कांजीर आदिके समान कटुक फलदायी है और जव शुभ नाम, गोत्र, आयु व वेदनीयका उदय होता है तव उसके फलको गुड़ खांड़ आदिरूप मधुर है ऐसा जानता है, इस कारण वह तत्वज्ञानी शुद्ध आत्माके ध्यानसे उत्पन्न जो स्वाभाविक परमानंदरूप अतीन्द्रिय सुख है उसको छोड़कर पांचों इन्द्रियोंके सुखोंमें नहीं परिणमन करता है (तेण) इसी कारणसे (अवेदकोपण्णत्तो) वह ज्ञानी भोक्ता नहीं होता है ऐसा कहा गया है यह नियम है। भावार्थः—तत्त्वज्ञानी उसे ही कहते हैं जो वस्तुके स्वरूपको जैसाका तैसा जाने—आत्माका निश्चयसे जो शुद्धज्ञान दर्शन आनंदमई स्वरूप है व उससे भिन्न ज्ञानावरणादि कर्मोंका जो स्वरूप है व जब वे उदयमें आते हैं तब किस प्रकारके फलको प्रकट करते हैं यह सब भले प्रकार जानता है। जव अशुभ कर्मोंके उदयमें अशुभ संयोग प्राप्त होते हैं तव तो उनमें द्वेष नहीं मानता हैं उनके स्वरूपका ऐसा ही परिणमन है ऐसा जान संतोषी रहता है। और जब शुभकर्मोंका उदय होता है और उससे साताकारी संयोग प्राप्त होते हैं तब उनके उदयके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ उनमें अहंकार बुद्धि नहीं

करता है। क्योंकि वह ज्ञानी दोनोंही अवस्थाओंको अपनेसे भिन्न अनुभव करता है। इसीसे वह इन कर्मोंके फलोंमें आसक्त नहीं होता है। और यही कारण है जिससे वह भोक्ता नहीं बनता है। इसीलिये आचार्यने कहा है कि जब ज्ञानी अपने स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता और उसीका रसिक है तब वह इन कर्मजनित अवस्थाओंको नियमसे नहीं भोक्ता है केवल उनके स्वरूपका ज्ञाता दृष्टा रहता है ऐसा जानना ॥ ३३९ ॥

इसतरह ज्ञानी शुद्ध निश्चयनयसे शुभ व अशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता नहीं होता है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें ४ सूत्र पूर्ण हुए।

आगे कहते हैं कि रागादि रहित शुद्धात्माके अनुभवरूप लक्षणको धरनेवाले भेदज्ञानसे युक्त ज्ञानी पुरुष न तो शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता है और न भोक्ता है-

गाथाः—**णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइं।**
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३४० ॥

संस्कृतार्थः—नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥ ३४० ॥

सामान्यार्थः—ज्ञानी नाना प्रकार कर्मोंको न तो करता है। और न भोगता है किन्तु पुण्य व पापको व बंधको और कर्मोंके फलको केवल जानता ही है। शब्दार्थ सहित **विशेषार्थः**—(णाणी) मन, वचन, कायकी गुप्तिके बलसे, व अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व देखे, सुने अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छारूप निदानबंध आदिको लेकर सर्व ही पर द्रव्योंके आलम्बनसे शून्य होनेके कारणसे व अनंतज्ञान दर्शन सुखवीर्य स्वरूप आलंबनसे भरपूर होने-के कारणसे विकल्प रहित समाधिमें ठहरा हुआ ज्ञानी जीव (बहुपयाराइं कम्माइं) नानाप्रकार ज्ञानावरणीय आदि मूल आठकर्म व उनके उत्तर १४८ भेदरूप कर्मोंको (णवि कुव्वदि) नहीं करता है (णवि वेददि) तथा तन्मय होकर नहीं अनुभव करता है, तो फिर क्या करता है इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि (कंमफलं) सुखदुःखरूप कर्मोंके फलको, (बंधं) प्रकृति बंध आदि चार प्रकार बंधको व (पुण्णं) सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभगोत्ररूप पुण्यकर्मोंको (च पावं) तथा असातावेदनीय अशुभ आयु, अशुभ नाम व अशुभ गोत्र रूप तथा ४ घातियारूप पाप कर्मोंको (जाणदि) परमात्माकी भावनासे उत्पन्न सुखमें तृप्त होकर वस्तुको वस्तु स्वरूपके समान जानता ही है। भावार्थ—ज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव करता हुआ आत्मजनित-सुखमें तृप्त रहता है। अतएव शुभ अशुभ कर्मोंको न तो करता है और न कर्मोंके उदयको तन्मय होकर भोगता है इसलिये वह केवल ज्ञाता, दृष्टा ही रहता है ॥ ३४० ॥

आगे इसी बातका समर्थन करते हैं कि ज्ञानी जीवमें कर्त्तापने और भोक्तापनेका अभाव है—

गाथाः—दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदिय बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥ ३४१॥

संस्कृतार्थः—दृष्टिः स्वयमपि ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव॥ ३४१॥

सामान्यार्थः—जैसे दृष्टि अग्निको देखती हुई न तो अग्निको करती है और न उसका अनुभव करती है तैसे विशुद्धज्ञान भी स्वयं न तो कर्ता है और न भोक्ता है केवल बंध, मोक्ष, कर्मोंका उदय और निर्जराके स्वरूपको जानता मात्र है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः— (दिट्ठी) जैसे दृष्टि अर्थात् नज़र देखने योग्य अग्निको न तो उस अग्निको धौंकनेवाले पुरुषकी तरह करती है, जैसे अग्निको जलानेवाला पुरुष अग्निको जलाता है ऐसे वह दृष्टि नहीं जलाती है, और न वह गरम लोहेके पिंडकी तरह उसका अनुभव करती है। अग्निसे लोहा जल रहा है परंतु दृष्टि नहीं जलती है तैसे ही (णाणं) शुद्ध ज्ञान (सयंपि) अपने आप ही अथवा अभेद नयसे शुद्धज्ञानमें परिणमन करनेवाला जीव शुद्ध उपादानरूपसे (अकारकं तथा अवेदकं चेव) न तो परभाव व पर वस्तुका कर्त्ता होता है और न उसका अनुभव करता है अथवा केवलदर्शन व क्षायिकज्ञान निश्चयसे न तो कर्मोंके कर्त्ता हैं और न भोक्ता हैं किन्तु यह शुद्धज्ञान (बंधमोक्खं कंमुदयं णिज्जरंचेव जाणदि) कर्मबंध व मोक्षके स्वभावको तथा शुभ व अशुभरूप कर्मोंके उदयको व सविपाक अविपाकरूपसे वा सकाम तथा अकामरूपसे दो प्रकारकी निर्जराको (जाणदि) जानता ही है। भावार्थः—जैसे दृष्टि केवल देखने मात्र काम करती है तैसे ज्ञान केवल जानता ही है। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मज्ञानमें तन्मय रहता हुआ हरएक वस्तुके स्वभावको जैसाका तैसा जानता है। कर्मोंके स्वभावको, मोक्षके स्वभावको, कर्मोंके उदयको, और निर्जराके स्वरूपको आगम व श्रद्धाके अनुसार यथार्थपने जानता है; इसीलिये कर्मजनित कार्योंसे अहं बुद्धि न करता हुआ उन कार्योंका कर्त्ता और भोक्ता नहीं होता है॥ ३४१॥

इसतरह सर्व प्रकार विशुद्ध पारणामिक परम भावको ग्रहणकरनेवाले शुद्ध उपादान स्वरूप शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके द्वारा यदि विचार किया जाय तो यह जीव कर्त्तापनेके, भोक्तापनेके, बंधके तथा मोक्षके कारण जो परिणाम हैं उनसे शून्य है, इस प्रकार समुदाय पातनिकामें कहा गया है। फिर पीछे चार गाथाओंमें जीवमें अकर्त्तागुण है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे सामान्य वर्णन किया गया। फिर ४ गाथाओंमें यह कहा कि निश्चयसे शुद्ध जीवके जो प्रकृति बंध होता है सो अज्ञानकी महिमा है इसतरह अज्ञानकी सामर्थ्यको कहते हुए विशेष वर्णन किया गया फिर चार गाथाओंमें यह कहा कि जीव भोक्ता

नहीं है। इसके बाद ऊपर कही हुई १२ गाथाओंका संक्षेपरूप दो गाथाओंमें यह कहा कि शुद्ध निश्चय नयसे इस जीवके कर्तापना, भोक्तापना व बंध मोक्ष आदिके कारण परिणामोंका अभाव है।

इसतरह इस तात्पर्य वृत्ति नामकी शुद्धात्मानुभव लक्षणको रखनेवाली समयसारकी व्याख्यामें मोक्ष अधिकार सम्बन्धी १४ गाथाओंमें व ४ अंतर अधिकारोंसे चूलिका वर्णन समाप्त हुआ—अथवा दूसरे रूपसे कहा जाय तो यहां मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

अब यहां विचारते हैं कि **औपशमिक आदि पांच भावोंमेंसे किस भावके द्वारा मोक्ष होता है।** सो यहां औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक तथा औदयिक ऐसे ४ भाव पर्यायरूप हैं परन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्य रूप है। यह द्रव्यपर्याय परस्पर अपेक्षा सहित हैं। यह आत्मा पदार्थ द्रव्यपर्याय दोनों रूप कहा जाता है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं इन तीनोंके बीचमें शुद्ध जीवपना जो शक्ति रूप लक्षणको रखनेवाला पारिणामिकपना है सो शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके आश्रय है इससे यह आवरण रहित शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है ऐसा जानना योग्य है सो भाव तो बंध और मोक्ष-पर्यायकी परिणतिसे रहित है। तथा जो आयु स्वासोश्वास आदि १० बाह्य प्राणरूप जीवपना है तथा भव्य व अभव्य भाव है सो पर्यायार्थिक नयके आश्रय होनेसे अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते हैं। इन भव्य अभव्य व १० प्राणरूप जीवत्वको अशुद्ध क्यों कहते हैं इसका समाधान यह है कि शुद्ध निश्चय नयसे संसारी जीवोंके और सिद्ध महाराजोंके सर्वथा ही इन १० प्राणरूप जीवत्व व भव्यत्व अभव्यत्वका अभाव है। इन तीनोंमेंसे भव्यत्व लक्षणको रखनेवाला जो पारिणामिक भाव है उसको पर्यायार्थिक नयसे ढकनेवाले सम्यक् दर्शन आदि जीवके गुणोंके घातक देशघाति व सर्व घाति नामके मोहादिक कर्म सामान्य हैं अर्थात् जो दर्शनमोह व चारित्र मोह जीवके सम्यक्त्व व चारित्र गुणके घातक हैं वे ही कर्म सामान्य भव्यत्व गुणके भी प्रच्छादक हो रहे हैं। यहां जब काल आदि लब्धियोंके वशमें भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति अर्थात् प्रकटता होती है तब यह जीव सहज ही शुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षणको रखनेवाले अपने ही परमात्म द्रव्यके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्रमई पर्यायसे परिणमन करता है उसी ही परिणमनको आगमकी भाषामें औपशमिक, क्षयोपशमिक, व क्षायिक भाव कहते हैं। अध्यात्मीक भाषाकी अपेक्षा इसी भावको शुद्धात्माके सन्मुख परिणाम व शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरूप नामसे कहते हैं। यह पर्याय शुद्ध पारिणामिक भावमई लक्षणको रखनेवाले शुद्ध आत्मीक द्रव्यसे किसी अपेक्षा भिन्न है क्योंकि यह परिणति भावनारूप है परन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव भावनारूप नहीं है। यदि एकांत नयसे यह परिणति शुद्ध पारिणामिक भावसे अभिन्न मान ली जाय तब यह दोष आवेगा कि जब यह परिणति भावनारूप है तथा मोक्षकी कारणभूत है तब मोक्षके सद्भाव (कारणादि) के नाश होते हुए शुद्ध पारिणामिक भावका भी विनाश हो जायगा क्योंकि यह शुद्ध पारिणामिक भाव उस

भावनारूप परिणतिसे सर्वथा एक ही मान लिया गया, सो ऐसा नहीं हो सक्ता क्योंकि शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप सदा अविनाशी रहता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध पारिणामिक भावके सम्बन्धमें जो भावना है उसी रूप औपशमिक, क्षयोपशमिक व क्षायिक ऐसे तीन भाव हैं। यही भाव सर्व रागद्वेषादि भावोंसे रहित होनेके कारणसे तथा शुद्ध उपादान रूप कारण होनेसे मोक्षका कारण होता है। शुद्ध पारिणामिक भाव मोक्षका कारण नहीं है। तथा जो शक्तिरूपी मोक्ष है वह शुद्ध पारिणामिक भावरूप है सो पहलेसे ही विद्यमान है यहां पर तो व्यक्तिरूप मोक्षका ही विचार है। ऐसा ही सिद्धान्तमें कहा है "निष्क्रिय शुद्ध पारिणामिकं निष्क्रियइति" अर्थात् क्रिया रहित शुद्ध पारिणामिक है इसीसे निष्क्रिय है अर्थात् बंधके कारणभूत जो क्रिया है वह रागद्वेषादिकी परिणतिरूप है इस रूप भी शुद्ध पारिणामिक नहीं है तथा मोक्षकी कारणभूत जो क्रिया शुद्ध स्वरूपकी भावनारूप परिणति है उस रूप भी नहीं है, इससे जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है अर्थात् ध्यान किये जाने योग्य है परन्तु ध्यानरूप नहीं है क्योंकि ध्यान विनाश होनेवाला है। ऐसा ही श्री योगेन्द्रदेवने श्री परमात्मप्रकाशमें कहा है।

"णवि उप्पज्जइ णवि मरइ बंधु ण मुक्खुकरेइ,
जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउभणेइ"

अर्थात् जिनेन्द्र भगवानने ऐसा कहा है कि जो परमार्थ दृष्टिसे देखा जावे तो यह आत्मा न पैदा होता है न मरता है न बंध और मोक्ष करता है। तात्पर्य यह है कि विवक्षामें ली हुई एक देश शुद्ध नयके आश्रित जो भावना विकार रहित स्वसंवेदन लक्षणरूप है वह क्षयोपशमिक ज्ञानरूप होनेके कारणसे यद्यपि एक देश व्यक्तिरूप है अर्थात् केवलज्ञानी (क्षायिक ज्ञानी) की तरह सर्वथा सर्व देश व्यक्त अर्थात् प्रकट नहीं है, तो भी ध्यान करनेवाला पुरुष यही भावना करता है कि जो कोई सम्पूर्ण आवरणोंसे रहित अखंड एक प्रत्यक्ष झलकनेवाला अविनाशी शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप परमभावमई लक्षणको रखनेवाला अपना परमात्म द्रव्य है सो ही मैं हूं, मैं खंड ज्ञानरूप नहीं हूं, यह व्याख्यान परस्पर अपेक्षा सहित आगम व अध्यात्म व निश्चय व्यवहार नयके अभिप्रायसे कोई विरोध नहीं आवे इसी तरहसे कहा है। ऐसा ही विवेकी ज्ञानियोंको जानना चाहिये। भावार्थः—पांच भावोंमें शुद्ध पारिणामिक भाव तो ध्येयरूप है अर्थात् मोक्षरूप है परन्तु उपशम, क्षयोपशम, व क्षायिक भाव ध्यान रूप है। जब काल लब्धि आदिके निमित्तसे भव्यत्व शक्तिकी प्रकटता होती है तब शुद्धात्माके सम्मुख जो परिणाम है वही भावना रूप है, वही मोक्षका उपाय है, वही रत्नत्रय स्वरूप है, वही आत्माका अनुभव रूप है, अतएव मोक्षके कारण भावोंमें उपयोग स्थिर कर स्वस्वरूपका अनुभव करके आत्मसुखका लाभ करना योग्य है।

ग्यारहवां महाधिकार (११)

समयसारचूलिका।

इसके आगे जीव आदि ९ अधिकारोंमें जो जीवका कर्त्तापना और भोक्तापना आदि स्वरूप अपने२ स्थानपर निश्चय नय और व्यवहार नयके विभागसे सामान्यपने जो पूर्वमें कहा गया है उसीका ही विशेष वर्णन करनेके लिये "लोगस्स कुणदि विण्हू" इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे ९६ गाथाओंमें चूलिकाका व्याख्यान करते हैं।

चूलिका शब्दके अर्थ तीन प्रकार हैं—कहे हुए व्याख्यानका विशेष कहना, कहे हुए और विना कहे हुए व्याख्यानको मिलाकर कहना, तथा कहे हुए और विना कहे हुए व्याख्यानको संक्षेपमें कहना।

अब यहां ९६ गाथाओंमें विष्णुदेव आदि पर्यायोंका कर्त्ता है इस बातको खंडन करते हुए "लोगस्सकुणादि विण्हू" इत्यादि गाथाएं सात हैं। इसके पीछे अन्य कर्त्ता है अन्य भोक्ता है इस एकांतको निषेध करते हुए बौद्ध मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यके समझानेके लिये "केहिंदु पज्जएहि" इत्यादि ४ सूत्र हैं। इसके बाद सांख्य मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यके लिये एकान्तसे जीवके भाव मिथ्यात्त्व आदिका कर्त्तापना नहीं है इसका निराकरण करनेके लिये "मिच्छत्ता जदि पयड़ी" इत्यादि सूत्र पांच हैं। इसके बाद ज्ञान अज्ञान सुख दुःख आदि भावोंको एकान्तसे कर्म ही कर्त्ता है आत्मा नहीं, इस प्रकार सांख्यमतके अनुसार माननेवालेका खंडन करनेके लिये "कम्मेहिं अण्णाणी" इत्यादि १३ सूत्र हैं। इसके बाद कोई भी प्रथम अवस्थाका अज्ञानी शिष्य शब्द आदि पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका विनाश करना चाहता है, किन्तु मैं मनमें तिष्ठे हुए विषयोंके अनुरागका घात करूं ऐसे विशेष विवेकको नहीं जानता है उसको समझानेके लिये "दंसण णाण चरित्तं" इत्यादि सूत्र ७ हैं। उसके बाद कहते हैं कि जैसे सुनार आदि कारीगर कुंडल आदि सोनेकी चीजोंको अपने हाथ व कटक या हथौड़ा आदि उपकरणोंसे करता है तथा उसका फल उसकी कीमत वगैरहको भोक्ता है तो भी उस कार्यमें तन्मयी अर्थात् एकमेक नहीं होता है तैसे ही यह जीव भी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंको कर्त्ता है और उनके फलोंको भोगता है तो भी तन्मई नहीं होता है इत्यादिको प्रतिपादन करते हुए "जह सिप्पियो दु" इत्यादि गाथाएं ७ हैं। इसके पीछे जैसे यद्यपि खड़िया व्यवहार नयसे दीवालको सफेद करती है तो भी उससे तन्मयी नहीं होती तैसे यह जीव भी व्यवहार नयसे जानने योग्य द्रव्यको जैसी वह है उस तरह जानता है, देखता है, छोड़ता है व श्रद्धान करता है तो भी निश्चयसे उसमें तन्मयी नहीं होता, ऐसा कहते हुए ब्रह्म अद्वैत मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यको समझानेके लिये 'जह सेडिया' इत्यादि सूत्र

१० हैं। उसके बाद शुद्धात्माकी भावना रूप निश्चय प्रतिक्रमण निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना निश्चय चारित्रके व्याख्यानकी मुख्यतासे "कंमं जं पुव्वकयं" इत्यादि सूत्र ४ हैं। उसके बाद राग द्वेषोंकी पैदाइशके सम्बन्धमें ज्ञानस्वरूप अपनी बुद्धिका दोष ही कारण है अचेतन शब्द आदि विषय नहीं है ऐसा कहनेके लिये "णिंदिद संथुद वयणाणि" इत्यादि गाथाएं १० हैं। इसके बाद उदयमें आए हुए कर्मोंको भोगते हुए यह मेरा है यह मुझसे किया गया है ऐसा जो मानता है वह अपने आत्मामें लवलीनतारूप भावसे शून्य होता हुआ सुखी और दुःखी होता है वह फिर भी दुःखोंके बीजरूप आठ तरहके कर्मोंको बांधता है ऐसा कहनेकी मुख्यतासे "वेदंतो कंमफलं" इत्यादि गाथाएं तीन हैं। इसके बाद आचारांग सूत्र कृतांग आदि द्रव्य श्रुत व इन्द्रियोंके विषय व द्रव्यकर्म, व धर्म, अधर्म, आकाश, काल, व रागद्वेष आदि भाव भी शुद्ध निश्चयसे शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे "सच्छं णाणं ण हवदि" इत्यादि १९ सूत्र हैं। इसके बाद जिस शुद्ध नयके अभिप्रायसे आत्मा मूर्त्ति रहित है उसी अभिप्रायसे यह कर्म और नोकर्मके आहारसे भी रहित है इस व्याख्यान रूपसे "अप्पा जस्स अमुत्तो," इत्यादि गाथाएँ तीन हैं। इसके बाद देहके आश्रित जो द्रव्य-लिंग है वह विकल्प रहित समाधिमई लक्षणको रखनेवाले भावलिंगसे रहित यतीश्वरोंके लिये मुक्तिका कारण नहीं है। तथा भावलिंगके धारी हैं उनके लिये द्रव्यलिंग केवल सहकारी कारण है। इस व्याख्यानकी मुख्यतासे "पाखंडी लिंगाणिय" इत्यादि सूत्र ७ हैं। इसके बाद इस समय प्राभृत ग्रंथके पढ़नेके फलको कहते हुए ग्रंथकी समाप्तिके लिये "जो समय पाहुड़ मिणं" इत्यादि सूत्र एक है इसतरह १२ अंतरके अधिकारोंसे समयसारकी चूलिकाके अधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई ॥

आगे १२ अधिकारोंका क्रमसे विशेष व्याख्यान किया जाता है।

आगे कहते है जो एकान्तसे आत्माको कर्त्ता मानते हैं उन जीवोंके अज्ञानी मनुष्यकी तरह मोक्ष नहीं होता।

गाथाः—लोगस्स कुणदि विह्नू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपिय अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥३४२॥
लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि ॥३४३॥
एवं ण कोवि मुक्खो दीसइ दुण्हंपि समण लोयाणं।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे ॥ ३४४ ॥

संस्कृतार्थः—लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान्।
श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥ ३४२ ॥

लोकश्रमणानामेवं सिद्धांतं प्रति न दृश्यते विशेषः।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥ ३४३ ॥
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषां।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरांल्लोकान् ॥ ३४४ ॥

सामान्यार्थः—लोगोंके मतसे यदि कोई विष्णु देव, नरक, तिर्यंच, मनुष्य गति सम्बन्धी जीवोंको करता है। तथा श्रमण व मुनियोंके मतसे यदि कोई आत्मा छः प्रकार कायोंको करता है। ऐसा मानने पर लोगोंके और मुनियोंके मतमें कोई फर्क नहीं दिखता है। लोगोंके मतसे विष्णु करता है मुनियोंके मतसे भी आत्मा करता है। इसतरह सदा ही मनुष्य व देव व असुर सहित इस लोकका कर्तापना मानते हुए लोगोंको और मुनियोंको दोनोंमेंसे किसीको भी किसी प्रकार भी मोक्षका होना संभव नहीं है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(लोगस्स) लोगोंके मतसे ऐसा मानना है कि (विण्हू) कोई विष्णु भगवान (सुरणरय तिरियमाणुसे सत्ते) देव, नारकी, तिर्यंच व मनुष्यमई जीवोंको (कुणदि) करता है या बनाता है इसी तरहसे (जदि) जो ऐसा कहा जाय कि (समणा-णंपिय) श्रमण अर्थात् मुनियोंके मतसे भी (अप्पा) यह आत्मा (छव्विहेकाए) छः प्रकारकी कायोंको अर्थात् पृथ्वी, अप, तेज, वायु व वनस्पति व त्रसकायोंको (कुव्वदि) करता है। तो (लोगसमणाणं) लोगोंका और मुनियोंका (एवं सिद्धंतं पडि) इस ऊपर कहे हुए सिद्धांतकी तरफ (विसेसो) कोई भी फर्क या विशेष (ण दिस्सदि) नहीं दिखलाई पड़ता है क्योंकि (लोगस्स) लोगोंके मतसे (विण्हू कुणदि) कोई उनके द्वारा माना हुआ विष्णु नामका पुरुष विशेष कर्ता होता है तथा (समणाणं) श्रमणोंके मतसे (अप्पओ) यह आत्मा (कुणदि) करता है। अर्थात् अर्थमें कोई फर्क नहीं है लोगोंके मतमें जो विष्णु है वही मुनियोंके मतसे आत्मा है। (एवं) इसतरह (मणुआसुरे लोगे) मनुष्य, सुर व असुरसे पूर्ण (लोगे) इस लोकमें (सदेव णिच्चं) सदा ही नित्य (कुव्वन्ताणं) कर्मको करते हुए या कर्तापना मानते हुए (समणलोयाणं दुण्हपि) मुनि व लोग दोनोंके ही विचारमें (कोऽवि मुक्खोण दीसदि) किसी प्रकार भी मोक्षका होना नहीं दीखता है। यहां तात्पर्य यह है कि राग द्वेष रूप परिणमन करनेको ही कर्तापना कहते हैं। लोग व मुनि दोनोंके मतमें राग, द्वेष मोहका परिणमन होते हुए अपने शुद्ध स्वभावके धारी आत्मीक तत्वका यथार्थ श्रद्धान, व उसीका यथार्थज्ञान व उसीमें आचरणरूप निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गसे पतन हो जाता है इसी लिये ही मोक्ष नहीं होता है ॥

भावार्थः—कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि कोई विष्णुभगवान है जो इस जगतको व उसके जीवोंको बनाता है। आचार्य कहते हैं कि इसतरह बनानेके कामको ही रागद्वेष मोहका

परिणाम कहते हैं। जब लोगोंके मतसे वह बनानेवाला हुआ तो अवश्य रागद्वेष मोहसहित हो गया, ऐसा होनेपर वह विष्णु मोक्षरूप है व उसे मोक्ष होगा यह मानना कभी भी ठीक नहीं हो सक्ता, इसीतरह जो कोई मुनि एकान्तनयसे इस आत्माको ही स्थावर व त्रस सम्बन्धी छः काय मई जीवोंका करनेवाला मानते हैं उनके मतसे आत्मा रागी व द्वेषी हुआ और इसीसे वह मोक्ष नहीं पा सक्ता-क्योंकि जहां रागद्वेष मोह है वहां मोक्ष मार्गसे पतन है अर्थात् यदि आत्माको सर्वकाल पर द्रव्य व परभावका कर्ता माना जायगा तो उसमेंसे रागद्वेष कभी जा नहीं सक्ता, रागद्वेष न जानेसे वह कभी मोक्ष नहीं पासक्ता ॥ ३४२-३४३-३४४ ॥

इस तरह पूर्व पक्ष रूपसे तीन गाथाएं पूर्ण हुई ॥

अब इसका उत्तर कहते हैं निश्चयसे आत्माके पुद्गल द्रव्यके साथ कर्त्ता व कर्मका संबंध नहीं है किस तरह यह आत्मा कर्त्ता हो जायगा।-

गाथाः—**ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था।**
जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्त मम किंचि।३४५।
जह कोवि णरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुररट्ठं।
णय होंति ताणि तस्स दु भणदिय मोहेण सो अप्पा ॥३४६॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥ ३४७॥
तह्मा ण मेति णच्चा दोह्णं एदाण कत्ति ववसाओ।
परदव्वे जाणंतो जाणे जो दिट्ठिरहिदाणं ॥ ३४८ ॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु नचेह परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥ ३४५ ॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयपुरराष्ट्रं।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥ ३४६ ॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३४७ ॥
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं।
परद्रव्ये जानन् जानीयादृष्टिरहितानां ॥ ३४८ ॥

सामान्यार्थः—तत्त्वज्ञानी जीव व्यवहार नयसे ही पर द्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु निश्चयसे यह जानते हैं कि इस लोकमें परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। जैसे कोई पुरुष कहे कि यह मेरा ग्राम है, देश है, नगर है, राज्य है इतना कहनेसे वे सब उसके नहीं होजाते वह तो केवल मोहका प्रेरा हुआ ऐसा कहता है ऐसे ही जो ज्ञानी व्यवहारमें मूढ़ होकर ऐसा माने व कहे कि यह पर द्रव्य मेरा है, वह निश्चयसे मिथ्यादृष्टी होजाता है इसकारणसे यह

जाना जाता है कि पर द्रव्य मेरा नहीं होता ऐसा जानकर भी जो लोग व जैन मुनि पर द्रव्यका कर्त्ता आत्मा है ऐसा जो निश्चय रखते हैं वह निश्चय दृष्टिसे छूटे हुए जीवोंका ही निश्चय है ऐसा तीसरा निकट वर्त्ती पुरुष जानता है।

शब्दार्थसहित विशेषार्थः—(विदिदत्था) पदार्थोंके ज्ञाता तत्ववेदी पुरुष (ववहारभासिदेणदु) व्यवहारनयके द्वारा ही (परदव्वं मम) परद्रव्य मेरा है ऐसा (भणंति) कहते हैं। (णिच्छएणदु) परन्तु निश्चयनयसे (जाणन्ति) जानते हैं कि (इह) इस लोकमें (किंच परमाणुमित्तं) कोई परमाणु मात्र भी (मम) मेरा (णय) नहीं है। अथवा (जह) जैसे (कोवि णरो) कोई भी सामान्य मनुष्य (जंपदि) कहे कि (अम्हाणं) यह हमारे (गाम) ग्राम हैं अर्थात् बाड़से बेढ़े हुए गाम हैं (विषय) देश हैं, (पुर) नगर हैं (रट्ठं) व राज्य है (दु)। परंतु (ताणि) वे सर्व ग्राम नगरादिक (तस्स) उस पुरुषके (णयहुंति) नहीं होते हैं तो भी (सो अप्पा) सो अज्ञानी आत्मा (मोहेण भणदि य) मोह करके ऐसा कहता है कि यह मेरे ग्रामादिक हैं, यह दृष्टान्त कहा। आगे दार्ष्टान्त कहते हैं। कि (एमेव) इसी ही तरह (एसो णाणी) वह ज्ञानी जीव व्यवहारमें मूढ़ होकर (जो परदव्वं मम) यदि परद्रव्य मेरा है (इदि जाणंतो) ऐसा जानता हुआ (अप्पयं कुणदि) उसे अपना करता है अर्थात् परद्रव्य मेरा है ऐसा कहता है तो (णिस्संसयं) इसमें कोई शंका नहीं है कि वह (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टी (हवदि) हो जाता है। (तम्हा) जैसा कि अभी अभी कहा है कि जैसे कोई मूर्ख दूसरेके ग्राम आदिको अपना कहे ऐसे जो कोई अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनासे गिरा हुआ परद्रव्यको अपना करलेता है, वह मिथ्यादृष्टी होता है, इस कारणसे यह जाना जाता है कि (मम इतिणच्चा) पूर्वमें विकार रहित स्व और परको जाननेवाले ज्ञानके द्वारा परद्रव्य मेरा नहीं हो सक्ता ऐसा जान करके भी जो (दोण्हं एदाण कत्तिववसाओ) दोनोंका अर्थात् लोगोंका और जैन मुनियोंका परद्रव्यको आत्मा करता है इस रूपसे परद्रव्यमें आत्माके कर्तापनेका निश्चय है इसको (जाणंतो) जानता हुआ कोई भी तीसरा पुरुष (जाणिज्जो) यही जानेगा कि यह (दिट्ठि रहिदाणं) वीतराग सम्यग्दर्शनमई निश्चय दृष्टिसे रहित पुरुषोंका व्यवसाय है। **भावार्थः**-ज्ञानी जीव तत्वज्ञानका रसिक होकर रहता है इससे वह परद्रव्यको अपना कदापि नहीं मानता यद्यपि व्यवहारमें वह कभी परवस्तुको अपना कह भी दे तो भी निश्चयसे वह इस बातका गाढ़ श्रद्धानी है कि पर द्रव्य रंच मात्र भी मेरा नहीं है ऐसी यथार्थ बात है। तो भी यदि कोई ज्ञानी होकरके भी परवस्तुमें मोहित होकर उसे अपनी माने व कहे तो वह मिथ्यादृष्टी है क्योंकि उसने उस समय यही निश्चय कर लिया कि पर द्रव्यका कर्त्ता आत्मा है। जैसे कोई साधारण ग्रामवासी अपने जन्मके मोहसे किसी देश, राज्य, व ग्रामको अपना मानले तो वह उसका कभी हो नहीं सक्ता वह तो किसी शासक राजाका है

इसीतरह पर द्रव्यका कर्त्ता आत्मा है ऐसा माननेसे आत्मा कभी भी कर्त्ता नहीं होसक्ता, जो निश्चय स्वरूपके व्यवहार नयसे विरोध नहीं आवे इसतरह जाननेवाले हैं वे ही ज्ञानी व अनुभवी हैं।

यहां टीकाकार कहते हैं कि ज्ञानी होकर व्यवहारसे परद्रव्यको अपना कहते हुए कैसे अज्ञानी हो जायगा? इसका समाधान यह है कि जैसे म्लेच्छ लोगोंको समझानेके लिये ही म्लेच्छ भाषा बोली जाती है हर समय नहीं, तैसे ही प्रथम अवस्थाके मनुष्यको समझानेके लिये उसी समझानेके कालमें ही व्यवहार नयका आश्रय लेना योग्य है हर समय नहीं। यदि कोई ज्ञानी प्राथमिक जनके समझानेके समयके सिवाय भी कतकफल जैसे जलको शुद्ध करनेवाली ऐसे आत्माको शुद्ध करनेवाली शुद्ध नयसे गिरकर पर द्रव्यको अपना कर लेता है। तब वह मिथ्यादृष्टि होजाता है।

इसका विशेष यह है कि लोगोंके मतमें विष्णु करता है ऐसा जो पहले कहा गया है वह लोक व्यवहारकी अपेक्षासे कहा गया है यह बात नहीं है कि इस अनादि कालसे चले आए हुए देव मनुष्यादिसे भरे हुए लोकका कोई विष्णु, ब्रह्मा या महादेव कर्त्ता है। क्योंकि सर्व ही यह लोक एकेन्द्रिय आदि जीवोंसे भरा हुआ मौजूद है, उन सर्व ही जीवोंके निश्चयनयसे, विष्णु पर्याय रूपसे, ब्रह्मापर्याय रूपसे व महादेवकी पर्याय रूपसे तथा जिनेन्द्रकी पर्याय रूपसे परिणमन होनेकी शक्ति है इस कारणसे यह आत्मा ही विष्णु है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही महादेव है अथवा यह आत्मा ही जिन है। सो भी किस कारणसे है इसके लिये टीकाकार कहते हैं कि कोई भी जीव पहले मनुष्य भवमें मुनिका रूप लेकर भोगोंकी इच्छारूप निदान बंधसे परम्परा पापका कारण ऐसे पुण्यको बांधके स्वर्गमें जन्मलेकर वहांसे आकर मनुष्य भवमें भरतक्षेत्रके तीन खंडका अधिपति—अर्द्ध चक्रवर्त्ती या नारायण होता है। उस जीवका विष्णु या नारायण नाम है। इसके सिवाय और कोई भी लोकका कर्त्ता विष्णु नहीं है। ऐसे ही कोई भी दूसरा जीव जिन दीक्षा लेकर रत्नत्रयकी आराधनासे पापानुबंध (पापका परम्पराय कारण) पुण्यका बंध करके विद्यानुवाद नाम दसवें पूर्व तक पढ़के चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे तपश्चरणसे भ्रष्ट होकर हुंडावसर्पिणी कालके प्रभावसे विद्याके बलके द्वारा लोगोंमें यह चमत्कार दिखाता है कि मैं इस लोकका कर्त्ता हूं, इसतरह मूर्ख लोगोंमें आश्चर्य पैदा करके महेश्वर या महादेव होता है। इसतरहके महेश्वर सर्व अवसर्पिणी कालोंमें नहीं होते किन्तु हुंडावसर्पिणी कालमें ही होते हैं। यह हुंडावसर्पिणी संख्यातीत अर्थात् असंख्यात अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालोंके जाने पर आती है। ऐसा ही कहा है:—

गाथा:—संख्यातीद वसप्पिणि गया सु हुंडावसप्पिणी एइ।
पर समयहं उप्पत्ती, तहिं जिणवरु एव पभणेइ॥

अर्थात् संख्यातीत अवसर्पिणी कालके बीत जाने पर हुंडावसर्पिणी काल आता है उसी समय परसमय अर्थात् बाह्यमें मिथ्या धर्मकी उत्पत्ति होती है—ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है। इसके सिवाय और कोई भी जगतका कर्ता महेश्वर नाम पुरुष विशेष नहीं है। तैसे ही कोई भी पुरुष विशेष तपस्या करके पीछे तपके प्रभावसे स्त्रीके विषयके निमित्त नाग मुखरूप होता है उसीका नाम ब्रह्मा है और कोई भी जगतका कर्ता लोकमें व्यापी एकरूप ब्रह्मा नहीं है। तैसे ही कोई भी पुरुष दर्शन विशुद्धि, विनयसंपन्नता आदि १६ कारण भावनाको भाकर इंद्रादिक देवोंके द्वारा रची हुई गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष कल्याणकी पूजाके योग्य तीर्थंकर नाम पुण्य कर्मको बांधके जिनेश्वर अर्थात्-वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा वस्तुका स्वरूप जानना योग्य है। भावार्थः यहां पर प्रयोजन यह है कि यह आत्मा पर द्रव्यका कर्ता निश्चयसे नहीं है। जो आत्माको पर द्रव्यका कर्ता मानते हैं वे यथार्थ बातके जाननेवाले नहीं हैं। जैसे वे लोग जो ब्रह्मा, विष्णु, महेशको जगतका कर्ता आदि मानते हैं वे यथार्थ ज्ञानी नहीं। क्योंकि जैसा मूल उपादान कारण होता है ऐसा ही कार्य होता है। निराकार ब्रह्मा आदिमें साकार जगत नहीं बन सक्ता। ऐसे ही निराकार आत्मासे साकार पर द्रव्य नहीं किया जासक्ता यह जगत अनादि अनंत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ऐसे छः द्रव्योंका समुदाय है। यह सदासे हैं, सदा रहेंगे इसीके समुदायको जगत कहते हैं—यह सर्व ही द्रव्य परिणामी हैं। आत्मा और पुद्गलका प्रवाहरूपसे अनादि ऐसा कोई सम्बन्ध है जिससे एक दूसरेके लिये निमित्त कारण हो रहे हैं अर्थात् कर्मोंके उदयरूप परिणामसे आत्मामें परिणति और आत्माकी परिणतिसे पुद्गलका कर्मरूप परिणमना ऐसे ही विचारोंको यथार्थपने जानता हुआ ज्ञानी जीव भूलसे भी परद्रव्यका कर्ता अपनेको नहीं मानता। व्यवहारमें भी सदा सावधान रहता है। अपने स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव करता हुआ निजात्मविचारमें परम संतोषी रहता है। तथा यहां यह भी बतलाया कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश व जिन आत्माकी अवस्था विशेष हैं जिनको अपने २ कर्मानुसार यह जीव पासक्ता है ॥३४५-३४६-३४७-३४८॥

इस प्रकार कहा गया कि यदि एकांतसे यह आत्मा परद्रव्यका कर्ता हो जाय तो मोक्षका ही अभाव हो जाय। इस तरह विष्णुके दृष्टान्तसे तीन गाथाओंके द्वारा पूर्व पक्ष करके चार गाथाओंसे उसका समाधानका व्याख्यान किया इसमें प्रथम स्थलमें सात सूत्र समाप्त हुए।

आगे कहते हैं कि द्रव्यार्थिक नयसे जो ही कर्म करता है सो ही उसके फलको भोगता है। पर्यायार्थिक नयसे अन्य ही कर्ता है तथा अन्य ही भोगता है। इस प्रकार जो कोई मानता है सो सम्यग्दृष्टी होता है ऐसा कहते हैं।

गाथाः—केहिं चिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिं चिदु जीवो।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४९ ॥
केहिं चिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिंचिदु जीवो।
जह्मा तह्मा वेददि सोवा अण्णो व णेयंतो ॥ ३५० ॥

संस्कृतार्थः—कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४९ ॥
कैश्चित्पर्यायैः-विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्माद्वेदयति स वा अन्योवा नैकांतः ॥ ३५० ॥

सामान्यार्थः—यह जीव पर्यायार्थिक नयके द्वारा कई देव मनुष्यादि पर्यायोंसे नाश होता है परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे वही जीव नाश नहीं होता है। इस कारणसे ऐसा नित्य या अनित्यरूप जीवका स्वभाव है इसी लिये वह जीव द्रव्यार्थिक नयसे तो कर्त्ता है परन्तु पर्यायार्थिक नयसे अन्यही कर्त्ता है इसमें एकान्त नहीं है तथा इसी कारणसे यही जीव द्रव्यार्थिक नयसे भोक्ता है परन्तु पर्यायार्थिक नयसे अन्य ही भोक्ता है इसमें एकान्त नहीं है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जीवो) यह जीव (केहिंचिदु पज्जयेहिं) पर्यायार्थिक नयसे कितनी ही देव, मनुष्य आदि पर्यायोंसे (विणस्सदे) नाश होता है (केहिंचिदु) तथा द्रव्यार्थिक नयसे (णेव) नहीं नाश होता है (जम्हा) इस कारणसे कि इस जीवका रूप नित्य तथा अनित्य स्वभावरूप है। **भावार्थः**—द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। (तम्हा) तिस कारणसे (सो वाकुव्वदि) द्रव्यार्थिक नयसे वही जीव कर्मोंका कर्त्ता है जो उसके फलको भोक्ता है (अण्णोवा) परन्तु पर्यायार्थिक नयसे दूसरा ही कर्त्ता है (एयंतो ण) इसमें एकान्त नहीं है। ऐसे कर्त्तापनेकी मुख्यता करके प्रथम गाथा कही। तथा (जीवो केहिं चिदु पज्जयेहिं विणस्सदे) यह जीव पर्यायार्थिक नयसे कितनी ही देव, मनुष्य आदि पर्यायोंसे नष्ट होता है (केहिंचदु णेव) परन्तु द्रव्यार्थिक नयके द्वारा नहीं नष्ट होता है (जम्हा) इस कारणसे इस जीवका रूप नित्य और अनित्य स्वभाव है (तम्हा) तिस कारणसे (वेददि सोवा) निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत रसका आस्वाद उसको न अनुभव करता हुआ वही जीव कर्मोंके फलको भोक्ता है जिसने पहले कर्म किये थे (वा अण्णो) अथवा पर्यायार्थिक नयसे अन्य ही भोक्ता है जिसने कर्म बांधे थे वह मनुष्य था जब उसका फल भोग रहा है तब वह देव है। (एयंतोण) इसमें एकान्त नहीं है। इसतरह भोक्तापनेकी मुख्यतासे दूसरी गाथा कही। इसका तात्पर्य यह है कि जिस जीवने मनुष्यभवमें शुभ या अशुभ कर्म किये हैं वही जीव द्रव्यार्थिक नयसे इसी लोकमें या नरकादि गतियोंमें उसके फलको भोगता है। पर्यायार्थिक नयसे न पर्यायकी

मुख्यतासे विचार किया जाय तो एक ही भवकी अपेक्षा जो कर्म बाल्यावस्थामें किये गए हैं उनका फल यौवन व वृद्धावस्था आदि पर्यायोंमें यह जीव भोगता है तथा अति मंक्षेपसे विचार किया जाय तो कर्म बांधनेके अंतमुहूर्त्त पीछे यह जीव उसका फल भोगता है तथा अन्य भवकी अपेक्षासे मनुष्य पर्यायसे किये हुए कर्मोका फल देव आदि पर्यायोंमें भोगता है। भावार्थः—द्रव्य सदा नित्य रहता है, पर्यायें सदा अनित्य क्षणिक होती हैं—मिट्टीके घड़े, प्याले, सकोरे बनाये जानेपर भी मिट्टी नित्य है पर वे सब क्षणिक हैं, समयपर पुराने पड़ते जाते हैं, अवस्थाको बदलते हैं तो भी मिट्टीपना उनकी हरएक अवस्थामें मौजूद है। इसीतरह यह आत्मा द्रव्य नित्य है परन्तु पर्याय जो अवस्थाएं इसमें होती हैं वे अनित्य हैं। द्रव्यार्थिक नय द्रव्यको ओर देखनेवाली व पर्यायार्थिक नय पर्यायको जाननेवाली है। इस कारण यदि द्रव्यार्थिक नयसे देखा जाय तो यही अनुभव होता है कि जो आत्मा कर्मोको बांधता है वही कर्मोका फल भोक्ता है कालमें अन्तर पड़नेपर भी कर्त्ता पर्याय में वही आत्मा था जो कि भोक्ता पर्यायमें है परन्तु पर्यायार्थिक नयसे विचारा जाय तो जिस अवस्थामें एक जीवने कर्म किये थे उस अवस्थावाले जीवसे वह अवस्थावाला जीव भिन्न है जो उसके फलको भोग रहा है। मनुष्य भवमें कर्म बांधनेवालेको मनुष्य और देव पर्यायमें उसके फलको भोगनेवालेको देव कहते हैं पर्यायें भिन्न २ हैं तो भी द्रव्य अपेक्षा जो जीव मनुष्य था वही देव हुआ है। इसलिये वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है, इसमें जो एकान्तसे एक ही माने तो वस्तुके स्वरूपको न पावे क्योंकि पदार्थ नित्य और अनित्य स्वरूप एक ही कालमें है ॥ ३४९–३५० ॥

इस तरह दो गाथाओंके द्वारा अनेकान्तकी व्यवस्थापना करते हुए अपने पक्षकी सिद्धि की गई।

आगे कहते हैं कि एकांतसे जो कोई ऐसा कहे कि जो ही कर्म करता है सो ही भोक्ता है अथवा कर्त्ता अन्य है व भोक्ता अन्य है वह मिथ्यादृष्टी है उसने वस्तुके स्वरूपको यथार्थ नहीं निश्चित किया है।

गाथाः—जो चेव कुणदि सोचेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३५१॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३५२॥

संस्कृतार्थः—य एव करोति स एव वेदको यस्यैष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३५१ ॥
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३५२ ॥

सामान्यार्थः—जो जीव करता है सो ही भोगता है जिसका एकान्त नयमें ऐसा सिद्धान्त है सो जीव अर्हत् मतके बाहर मिथ्यादृष्टी है ऐसा जानना योग्य है। तथा दूसरा ही करता है तथा उससे दूसरा ही कोई कर्म फलोंको भोगता है जिसका यह सिद्धांत है वह जीव भी अर्हत मतसे विरुद्ध मिथ्यादृष्टी है ऐसा जानना योग्य है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जो चेव) जो कोई जीव (कुणदि) शुभ या अशुभ कर्म करता है (सो चेव) वही जीव एकान्तनयसे भोगता है दूसरा कोई नहीं भोगता है (जस्स) जिस जीवका (एस सिद्धंतो) ऐसा सिद्धान्त व आगम है (सो जीवो) वह जीव (अणारिहदो) अर्हतके मतसे बाह्य (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टी है ऐसा (णादव्वो) जानना योग्य है। इस प्रकार माननेवालेको इसीलिये मिथ्यादृष्टी कहते हैं कि यदि उसके मतमें एकांतनयसे यह जीव कूटस्थ नित्य परिणमन स्वभावसे रहित टंकोत्कीर्ण सांख्य मतकी तरह होवे अर्थात् जैसे सांख्य पुरुष अर्थात् आत्माको अपरिणामी, कर्तापनेसे रहित नित्य कूटस्थ मानता है ऐसा ही वह भी माने तो जिस मनुष्य भवमें, नरक गतिमें जानेके लायक पाप कर्म किये गए व स्वर्गगतिमें जानेके लायक पुण्यकर्म किया गया उस जीवका नरक या स्वर्गमें गमन नहीं मानना पड़ेगा तथा उसके मतमें शुद्धात्माके अनुभवसे मोक्ष भी कैसे सिद्ध होगी क्योंकि उसने तो जीवको एकांतसे नित्य मान लिया है। भावार्थः—गति बदलने पर जीवकी अवस्था व पर्याय पलटती है सो यह बात तब ही संभव हो सक्ती है जब इसको परिणमन स्वभाव मानकर द्रव्य अपेक्षा नित्य और पर्याय अपेक्षा अनित्य माना जाय। तथा इसीतरहसे (अण्णो करेदि) दूसरा ही कोई कर्म करता है (अण्णो परिभुंजदि) तथा दूसरा ही कोई उस कर्मके फलको भोगता है (एस सिद्धंतो) ऐसा सिद्धांत एकान्तनयसे (जस्स) जिस किसीका हो (सो जीवो) वह जीव भी (अणारिहदो) अर्हतके मतसे बाहर मिथ्यादृष्टी है ऐसा (णादव्वो) जानना योग्य है। यदि जिस किसीके द्वारा मनुष्य भवमें पुण्यकर्म किया गया व पाप कर्म किया गया व मोक्षके लिये शुद्धात्माका अनुभव किया गया तथा उस पुण्य कर्मसे देवलोकमें अन्य ही कोई भोगता है वह जीव भोगता नहीं है तैसे ही नरकमें भी दूसरा कोई भोक्ता है, वैसे ही केवलज्ञान आदि गुणोंकी प्रकटताको रखनेवाली मोक्षको भी कोई अन्य ही प्राप्त करता है तब उस पुण्य या पाप तथा मोक्षके लिये अनुष्ठान व क्रिया करना वृथा हो जायगा। इसतरह जो बौद्ध मतके समान आत्माको क्षणिक मानते हैं, कर्त्ता और भोक्ता भिन्न २ कल्पना करते हैं उनको दूषण दिया गया।

भावार्थः—इस आत्माका स्वभाव नित्य अनित्यरूप है। द्रव्यार्थिकनयसे विचारा जाय तो अपनी सम्पूर्ण पर्यायोंमें एक आत्मा ही है पर्यायार्थिक नयसे विचारा जाय तो प्रत्येय पर्यायमें भिन्न २ रूप है। क्योंकि जैसा एक पर्यायमें था वैसा दूसरी पर्यायमें नहीं है। एक मनुष्य बाल्यावस्थामेंसे युवावस्थामें आया। द्रव्यकी अपेक्षा तो यह वही युवान है

जो बालककी अवस्थामें था परंतु पर्यायकी अपेक्षा वह बालक बालक ही था यह युवान युवान ही है। इसीतरह यह जीव अपने शुभ या अशुभ भावोंसे जो कर्म बांधता है उसका जब उदय आता है तब मनुष्यभवसे देवगति या नर्क गतिमें जाता है वहां वही जीव अपने कर्मोके सुख या दुःखरूप फलको अनुभव करता है अथवा कोई जीव इस मनुष्य भवमें शुद्धात्माका अनुभव स्वरूप ध्यानका अभ्यास करता है वही जीव कर्मोंको नाशकर मुक्त हो जाता है और सिद्धालयमें जाता है तब उसे सिद्ध कहते हैं। इन तीनों ही विषयोंमें जिस जीवने कर्म किया था या मोक्षका उपाय किया था वही जीव कर्मोंके फलको व मोक्षके आनन्दको भोग रहा है, द्रव्यकी अपेक्षासे वही जीव है। पर्यायकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो मनुष्यभवमें तो वह मनुष्य था अब देव व नर्क गतिमें वह देव या नारकी हुआ। या सिद्धलोकमें सिद्ध हुआ। इससे न तो सांख्यमतकी तरह जीव कूटस्थ नित्य है और न बौद्ध मतकी तरह अनित्य व क्षणिक है। कथंचित् अनित्य है ऐसा जानना योग्य है। इसतरह दो गाथाओंसे नित्य एकान्त व क्षणिक एकांत मतका निराकरण किया गया। ३९१-३९२।

इस तरह दूसरे स्थलमें गाथाएं ४ पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि यद्यपि शुद्ध नयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप होनेके कारणसे यह जीव कर्मोका कर्त्ता नहीं है तो भी अशुद्ध नयसे रागद्वेषादि भावकर्मोका यह ही कर्त्ता है पुद्गल नहीं है यहां पांच गाथाएं हैं इनमें प्रत्येक गाथाके पूर्वार्द्धमें सांख्यमतके अनुसार चलनेवाले शिष्यका पूर्व पक्ष है तथा उत्तरार्द्धसे उसीका परिहार या उत्तर है ऐसा जानना योग्य है।

गाथाः—**मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।**
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्ता ॥ ३९३ ॥

संस्कृतार्थः—मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥ ३९३ ॥

सामान्यार्थः—यदि मिथ्यात्त्व नामा कर्मकी प्रकृति इस आत्माको मिथ्यादृष्टी करदे तो तेरे मतसे अचेतन प्रकृति भाव मिथ्यात्त्वकी कर्त्ता होजायगी। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**— (जदि) यदि (मिछत्ता पयडी) द्रव्य मिथ्यात्त्व नामा कर्मकी प्रकृति (अप्पाणं) स्वयं नहीं परिणमन करनेवाले आत्माको (मिच्छादिट्ठी करेदि) हठसे मिथ्यादृष्टी कर देवे अर्थात् बल पूर्वक उसे श्रद्धान रहित कर देवे (तम्हा) तो इस कारणसे (दे) तेरे मतसे (णणु) बड़े आश्चर्यकी बात है कि (अचेदणा पयडी) चेतना रहित जड़ मिथ्यात्त्व कर्म प्रकृति (कारगोपत्ता) भाव मिथ्यात्त्वकी करनेवाली होगई। और यह जीव एकांतसे अकर्त्ता होगया। जब यह जीव कर्त्ता नहीं हुआ तब इसके कर्मोका बंध भी नहीं हुआ। कर्मबंधके न होनेसे उसके संसारका ही अभाव होगया परन्तु यह बात हो नहीं सक्ती क्योंकि प्रत्यक्षमें ही विरोधरूप है। **भावार्थः**—सांख्य-

मतके अनुसार जो आत्माको अपरिणामी व अकर्त्ता मानते हैं और रागद्वेष आदि भावोंमें मूलकारण जड़ प्रकृतिको ही मानते हैं उनके मतको दोष देते हुए आचार्य कहते हैं कि फिर आत्मा तो कर्मोंसे निर्लेप होगया। निर्लेप होनेसे उसके संसार ही न रहा। परन्तु यह बात गलत है क्योंकि प्रत्यक्षसे ही विरोध रूप है॥ ३९३ ॥

इस बातको और भी कहते हैं:—

गाथा:—सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तां ॥ ३५४ ॥

संस्कृतार्थः—सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यग्दृष्टिं करोत्यात्मानं।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥ ३५४ ॥

सामान्यार्थः—यदि सम्यक्त्व प्रकृति इस आत्माको सम्यग्दृष्टी करे तो तेरे मतमें अचेतन प्रकृति सम्यक्त भावकी करनेवाली होगई। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जदि) जो (सम्मत्ता पयड़ी) सम्यक्त्व प्रकृति दर्शन मोहनीयकर्मकी तीसरी प्रकृति (अप्पाणं) स्वयं नहीं परिणमनेवाले आत्माको (सम्मादिट्ठी करेदि) क्षयोपशम या वेदक सम्यग्दृष्टी कर देवे (तह्मा) तो (दे) तेरे मतसे (णणु) अहो बड़े अश्चर्यकी बात है कि (अचेदणा पयड़ी) अचेतन जड़ सम्यक्त्व प्रकृति (कारगो पत्ता) सम्यक्त्व भावकी करनेवाली होगई तथा जीव एकान्तसे सम्यक्त्व परिणामका अकर्त्ता होगया। ऐसा मानने पर जीवके वेदक सम्यक्त्वका अभाव हो जायगा, वेदक सम्यक्त्वके अभाव होनेसे क्षायिक सम्यक्त्वका अभाव हो जायगा। तब मोक्षका भी अभाव हो जायगा, परंतु ऐसा नहीं हो सक्ता क्योंकि इस बातमें प्रत्यक्षसे भी विरोध होगा और आगमसे भी विरोध आ जायगा। भावार्थः—जो आत्मा स्वयं परिणमन स्वभाव न हो उसके भीतर परिणाम नहीं हो सक्ते, कूटस्थ नित्यको जड़कर्म निमित्त होनेपर भी उसका कुछ नहीं कर सक्ते। यहां शिष्यने प्रश्न किया कि सम्यक्त्व प्रकृति दर्शन मोहनीयके मिथ्यात्त्व सम्यक् मिथ्यात्त्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन भेदोंमेंसे एक भेद है-कर्म विशेष है। यह सम्यग्दर्शन रूप कैसे हो सक्ती है, क्योंकि सम्यक्त्व तो भव्य जीवका परिणाम है और वह परिणाम विकार रहित सदा आनंदमई एक लक्षणको रखनेवाले परमात्मतत्त्व आदिके श्रद्धानरूप है तथा मोक्षका वीज कारण है। इसका समाधान आचार्य कहते हैं कि ठीक है सम्यक्त्व प्रकृति तो कर्मका ही भेद है तौ भी जैसे जिस विषका विष मर जाता है, अर्थात् फूका हुआ संखिया आदि किसीका मरण नहीं करता है तैसे ही शुद्धात्माके सन्मुख परिणामोंसे प्राप्त जो मंत्रके समान विशेष भावकी शुद्धि सो उस मिथ्यात्व कर्ममें मिथ्याभाव करनेकी शक्तिको नष्ट कर देती है तब उस कर्मसमूहको जिसमेंसे मिथ्यात्व भाव नष्ट होगया है सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं क्योंकि यह सम्यक्त्व कर्म प्रकृति विशेष क्षयोपशम, विशुद्धि

देशना, प्रायोग्य और करण लब्धिसे उत्पन्न प्रथम औपशमिक सम्यक्त्वके पीछे होनेवाले वेदक सम्यक्त्वके स्वभावरूप तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप जीवके परिणामको नहीं मार सक्ता है इस कारणसे उपचार नयके द्वारा सम्यक्त्वका कारण है इसी हेतुसे उस कर्म विशेषको भी सम्यक्त्व कहते हैं। जैसे तीर्थंकर नाम कर्म परम्परासे मोक्षका कारण है तैसे यह प्रकृति भी परम्परासे मुक्तिकी कारण है इससे कोई दोष नहीं है। भावार्थः—जैसे मारा हुआ विष खानेपर ज़हर नहीं चढ़ता तैसे शुद्धात्माके अनुभवके द्वारा मिथ्यात्त्वका विष ऐसा मार डाला जाता है जिसमें वह प्रकृति सम्यक्त्व प्रकृति कहलाती है क्योंकि उसमें सम्यक्त्वको विराधनेकी शक्ति नहीं है उसके उदय होनेपर ही वेदक सम्यक्त्वरूप जीवका परिणाम होता है और यह परिणाम परम्परासे मुक्तिका कारण है। ऐसा जानना ॥ ३९४ ॥

आगे फिर भी इसीको कहते हैं:—

गाथाः—**अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।**
तह्मा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३५५ ॥

संस्कृतार्थः—अथवैषः जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३५५ ॥

सामान्यार्थः—अथवा यदि कोई ऐसा माने कि यह जीव पुद्गलद्रव्यके भाव मिथ्यात्त्व कर देता है तो ऐसा माननेसे पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टी हो जायगा, जीव नहीं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(अहवा) अथवा पूर्वमें कहे हुए दोषके भयसे कोई ऐसा माने कि (एसो जीवो) यह प्रत्यक्ष प्रकट जीव (पोग्गल दव्वस्स) द्रव्यकर्मरूप पुद्गल द्रव्यके (मिच्छत्तं) शुद्धात्मीक तत्व आदिमें विपरीत अभिप्रायको पैदा करनेवाले भाव मिथ्यात्वको (कुणदि) कर देता है तथा स्वयं यह जीव भाव मिथ्यात्व रूपमें नहीं परिणमन करता है (तम्हा) तो ऐसा एकांतसे माननेसे (पुग्गल दव्वं) जड़ पुद्गल द्रव्य (मिछादिट्ठी) मिथ्यादृष्टी हो जायगा। (ण पुण जीवो) परंतु जीव मिथ्यादृष्टी न होगा। तब कर्मोका बंध भी उसी ही जड़के होगा, संसार भी उसीको ही होगा, जीवको न बंध होगा न संसार, ऐसा होनेमें प्रत्यक्षमें ही विरोध आ जायगा। भावार्थ—यहां पर कोई शिष्य ऐसा मानने लगे कि यह जीव पुद्गल द्रव्यको भाव मिथ्यात्वरूप कर देता है। तथा स्वयं यह जीव भाव मिथ्यात्वरूप नहीं परिणमन करता है तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि भाव मिथ्यात्व आत्माका ही अशुद्ध परिणाम है यदि जीवके यह भाव न माना जायगा तो यह जीव बंध व संसारसे रहित हो जायगा सो यह बात सरासर विरोधरूप है ॥ ३९९ ॥

आगे इसी बातको और भी कहते है—

गाथाः—**अह जीवो पयडी विय पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।**
तह्मा दोहिकदत्तं दोह्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥ ३५६ ॥

संस्कृतार्थः—अथ जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं।
तस्माद्द्वाभ्यां कृतं द्वावपि भुंजाते तस्य फलं ॥ ३५६ ॥

सामान्यार्थः—अथवा पूर्व दूषणके भयसे कोई ऐसा माने कि जीव और प्रकृति दोनों ही पुद्गल द्रव्यको मिथ्यात्वरूप कर देते हैं तब दोनों करके जो कर्म किया गया उस कर्मके फलको दोनों ही भोगेंगे ऐसा हो जायगा। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(अह) अथवा पूर्वके दूषणके भयसे यदि कोई ऐसा माने कि (जीवो) यह जीव (पयडीविय) तथा प्रकृति द्रव्य कर्म भी दोनों मिलकर (पोग्गलदव्वं) पुद्गलद्रव्यको (मिच्छत्तं) भाव मिथ्यात्वरूप (कुणंति) कर देते हैं (तम्हा) तो ऐसा माननेसे (दोहिकदत्तं) जीव और पुद्गल दोनोंके उपादान कारणसे किया हुआ यह भाव मिथ्यात्त्व जब हुआ तब (दोहिवि) जीव और पुद्गल दोनों ही (तम्स फलं) उस भाव मिथ्यात्त्वके फलको (भुंजंति) भोगेंगे—तब अचेतन पुद्गलकी प्रकृतिके भी भोक्तापना प्राप्त होजायगा। सो ऐसा हो नहीं सक्ता यह प्रत्यक्ष विरोध रूप बात है। भावार्थः—ऊपरकी बातको खंडित हुई देखकर कोई ऐसा माने कि भाव कर्मके कर्ता जीव और पुद्गल दोनों हैं अर्थात् रागद्वेपादिक भावोंके जिम्मेदार दोनों हैं तब दोनोंके ही कर्मबंध होना और दोनोंके ही उसके सुख व दुःख रूप फलका भोगना होजायगा। -यह बात प्रत्यक्ष विरोध रूप है ॥ ३१६ ॥

अब इसी विषयको संकोचते हुए गाथा कहते हैं;—

गाथाः—**अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।**
तह्मा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तंतु णहु मिच्छा ॥ ३५७ ॥

संस्कृतार्थः—अथ न प्रकृतिर्न च जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥ ३५७ ॥

सामान्यार्थः—अब कहते हैं कि न तो पुद्गल कर्मकी प्रकृति और न यह जीव एकान्तसे पुद्गल द्रव्यको भाव मिथ्यात्त्वरूप करते हैं इससे जो इस गाथाके पहले तीसरे सूत्रमें कहा था कि 'अहवा एसो जीवो पोग्गल दव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं' यह जीव पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्त्वमय कर देता है क्या प्रगटपने मिथ्या नहीं है ? अवश्य मिथ्या है। यहां प्रयोजन यह है कि शुद्ध निश्चय नयसे यद्यपि यह जीव शुद्ध है तौ भी पर्यायार्थिक नयसे कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षासे परिणामी होनेके कारणसे अनादि कर्मके उदयके वशसे रागद्वेपादि उपाधि परिणामको स्फटिकमणिकी तरह ग्रहण करता है। यदि एकांतसे अपरिणामी होवे तो इसमें उपाधि भाव नहीं सिद्ध हो सकता है। जपा फूलद्वारा उपाधिरूप परिणमनकी शक्ति होनेपर ही स्फटिकमें जपा पुष्प अपनी उपाधिको उत्पन्न करता है। काष्ठादिमें नहीं कर सकता क्योंकि काष्ठादिमें उपाधिरूप परिणमनकी शक्तिका अभाव

है। इस प्रकार यदि द्रव्य मिथ्यात्त्वरूपी कर्मकी प्रकृति एकांतसे भाव मिथ्यात्वको पैदा करदे तो जीव भाव मिथ्यात्त्वका कर्त्ता न रहे। भाव मिथ्यात्त्व न होने पर उसके कर्म बंधका अभाव हो जावे। कर्म बंध न होनेपर संसारका अभाव हो जावे। परंतु ऐसा असंभव है क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध आता है इत्यादि व्याख्यानरूपसे तीसरे स्थलमें ९ गाथाएं पूर्ण हुईं। भावार्थः—पुद्गल कर्ममय वर्गणाका परिणमन पुद्गल द्रव्यकर्मरूप और जीवके परिणामका परिणमन जीवके भावरूप होता है। जबतक यह जीव संसारी है तब तक एक दूसरेको निमित्त कारण है जैसे स्फटिक मणिमें स्वयं अपनी चमकमें किसी दूसरे रंगकी चीज़के लगनेसे उस रंगरूप परिणमनकी शक्ति है तोही जपा पुष्प आदि कोई भी वस्तुका सम्बन्ध होनेसे वह स्फटिक लाल या हरा हो जाता है। यदि काठके टुकड़ेके उस रंगवाली चीज़का सम्बन्ध करें तो उसका परिणमन उस रूप नहीं होगा क्योंकि काठमें परिणमन शक्तिका अभाव है। ऐसे ही द्रव्य मिथ्यात्त्वनाम पुद्गलकर्मकी प्रकृतिका उदय होने पर जीव स्वयं भाव मिथ्यात्त्वरूप परिणमन करता है। यदि द्रव्य मिथ्यात्व न होता तो जीव भावमिथ्यात्त्वरूप कभी भी परिणमन नहीं करता। इसी तरह भाव मिथ्यात्व मय जीवके परिणाम होनेके निमित्तसे द्रव्य कर्म वर्गणाएं द्रव्य मिथ्यात्वरूप परिणमन करती हैं। जीव हठसे पुद्गलको मिथ्यात्वरूप नहीं करता—ऐसा जानना। अशुद्ध भावोंका कार्य जीवका ही परिणमन है। न तो जीव और पुद्गल दोनोंका है न पुद्गलका है और न शुद्ध जीवका है। द्रव्य कर्मोंके उदय आनेपर जीवका ही अशुद्धभावरूप परिणमन है॥ ३९७॥

आगे ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख आदि कर्म एकांतसे कर्म ही करता है आत्मा नहीं करता ऐसा सांख्य मतके अनुसार चलनेवाले शिष्य कहते हैं। उन्हीं की तरफ इशारा करके फिर भी नय विभागसे यह सिद्ध करते हैं कि यह जीव कथंचित् कर्ता है। इसकी १३ गाथाएं हैं इनमें कर्म ही एकांतसे कर्त्ता होता है इस कथनकी मुख्यतासे 'कम्मेहिदु अण्णाणी' इत्यादि सूत्र ४ हैं। उसके बाद सांख्यमतमें भी ऐसा कहा गया है इस संवादको दिखलानेके लिये ब्रह्मचर्यके स्थापनकी मुख्यतासे "पुरिसिच्छियाहिलासी" इत्यादि गाथाएं २ हैं। अहिंसा स्थापनकी मुख्यतासे "जम्हा घादेदि परं" इत्यादि गाथाएं २ हैं। प्रकृतिके ही कर्त्तापना है आत्माके नहीं। इस एकांतको दूर करनेके लिये इसी ही ४ गाथाओंका ही दिखाया हुआ दूषणका संकोचरूप "एवं संखुवदेसं" इत्यादि एक गाथा है। ऐसे पांच सूत्रोंके समुदायसे दूसरा अंतर स्थल हुआ। उसके बाद आत्मा कर्म व कर्म जनित भाव नहीं करता है किन्तु अपने आपको करता है इसको कहते हुए एक गाथामें पूर्व पक्ष करके तीन गाथाओंमें उसका समाधान है इस तरह समुदायसे 'अहवा मण्णसि मज्झं' इत्यादि सूत्र ४ हैं—

ऐसे ४ थे अंतर अधिकारमें तीन स्थलके द्वारा समुदाय पातनिका हुई सो ही कहते हैं—

गाथाः—कम्मेहिंदु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥३५८॥
कम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिंय मिच्छत्तं णिज्जदिय असंजयं चेव ॥ ३५९ ॥
कम्मेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहं चावि तिरियलोयम्मि।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥ ३६० ॥
जह्मा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदित्ति हरदि जं किंचि।
तह्मा सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥ ३६१ ॥

संस्कृतार्थः—कर्मभिरतु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥ ३५८ ॥
कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते च कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३५९ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्द्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥ ३६० ॥
यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति किंचित्।
तस्मात्तु सर्वे जीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ॥ ३६१ ॥

सामान्यार्थः—द्रव्य कर्मोंके द्वारा यह जीव एकांतसे अज्ञानी व ज्ञानी किया जाता है, कर्मोंके द्वारा सुलाया जाता व जगाया जाता है, कर्मोंके द्वारा सुखी या दुःखी किया जाता है तैसे ही कर्मोंके द्वारा मिथ्यात्त्वमें लाया जाता है व कर्मोंके द्वारा एकान्तसे असंयमी किया जाता है। कर्मों ही के द्वारा ऊपर, नीचे व मध्यलोकमें घुमाया जाता है तथा जो कुछ शुभ या अशुभ है सो सर्व कर्मोंके द्वारा किया जाता है क्योंकि कर्म ही जो कुछ करता है सो करता है, कर्म ही जो कुछ देता है सो देता है व कर्म ही जो कुछ हरता है सो हरता है, एकांत नयसे यदि कर्म ही सब कुछ करता है तो सर्व जीव अकर्त्ता होगए, जीवका कुछ भी कर्त्तव्य न रहा।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(कम्मेहिं दु) कर्मोंके द्वारा तो (अण्णाणी) अज्ञानी (किज्जदि) किया जाता है (तहेव) तैसे ही (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (णाणी) ज्ञानी किया जाता है। (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (सुवाविज्जदि) एकांतसे सुलाया जाता है (तहेव) तैसे ही (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (जग्गाविज्जदि) जगाया जाता है (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (सुहाविज्जदि सुखी किया जाता है (तहेव) तैसे ही (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (दुःखा विज्जदि) एकांतसे दुःखी किया जाता है। (कम्मेहिं) कर्मोंकेद्वारा (मिच्छत्तं णिज्जदि) एकांतसे मिथ्यात्त्वमें डाला जाता है

(य) और (चेव) वैसे ही असंयमं (असंयमी) होता है। (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा ही (उड्ढम) ऊपर स्वर्गलोकमें (अहं) अधो नर्कलोकमें (चावि) तैसे ही (तिरियलोयम्मि) इस तिर्यक् मध्यलोकमें (भमाडिज्जदि) भ्रमाया जाता है (चेव) तैसे ही (जेतियं किं च) जो कुछ यहां (सुहासुहं) शुभ या अशुभ है सो सब (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (किज्जदि) किया जाता है। (जह्मा) इसकारण जब यह कहा गया कि (कम्मं कुव्वदि) कर्म ही सब कुछ करता है (कम्मं देदित्ति) कर्म ही सब कुछ देता है, (जंकिंचिहरदि) जो कुछ हरता है सो कर्म ही हरता है (तह्मा) तो एकांत नयसे (सव्वे जीवा) सर्व ही जीव (अकारया आवण्णा हुंति) कर्त्तापनेसे रहित प्राप्त हो जावेंगे। जब सर्व जीव अकर्त्ता होजायंगे तब उनकेकर्म बंधका अभाव होजायगा, कर्म बंधके अभावमें संसारका अभाव होजायगा यह बात हो नहीं सक्ती क्योंकि प्रत्यक्षसे ही विरोध रूप होजायगी ॥ ३५८–३५९–३६०–३६१ ॥

इस तरहसे कर्म एकांतसे कर्त्ता है ऐसा मानने पर जो दोष आता है उसको दिखाते हुए चार सूत्र समाप्त हुए। आगे फिर इसीको कहते हैं:—

गाथाः—**पुरुसिच्छियाहिलासी इच्छी कम्मं च पुरिसमहिलसदि।**
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥ ३६२ ॥
तह्मा ण कोवि जीवो अवह्मयारी दु तुह्म मुवदेसे।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं अहिलसदि जं भणियं ॥ ३६३ ॥

संस्कृतार्थः—पुरुषःस्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी श्रुतिः ॥ ३६२ ॥
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्मैव हि कर्माभिलषतीति यद्भणितं ॥ ३६३ ॥

सामान्यार्थः—पुरुष नामा कर्म स्त्री की इच्छा करता है व स्त्रीकर्म पुरुषकी इच्छा करता है ऐसे आचार्य परंपरासे चली आई श्रुति है। ऐसा माननेसे तब तुम्हारे उपदेशमें कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—पहले कहा था कि जो कर्म ही एकांतसे सब कुछ करता है ऐसा माननेसे क्या दोष आता है आगे फिर भी उसी एकांतभावको श्री कुंदकुंदाचार्य देव सांख्यमतके साथ संवाद या वार्त्तालाप दिखला करके समर्थन करते हुए दोष देते हैं-प्रथम ही आचार्य सांख्यमतानुसारी शिष्यसे कहते हैं कि हम द्वेषसे कहते हैं यह बात नहीं है। आपके मतमें ही यह बात कही गई है कि एकांतसे (पुरुसिच्छी अहिलासी) पुरुषवेद नामा कर्म स्त्री वेद रूपी कर्मकी इच्छा करता है तथा (इच्छी कम्मंच पुरिस महिलसदि) स्त्री वेद नामाकर्म पुरुषवेद नाम कर्मकी अभिलाषा करता है, किन्तु जीव इच्छा नहीं करता है। (एसा) इस तरहसे (आयरिय परंपरा गदा एरिसीदु सुदी) आचार्योंकी परिपाटी द्वारा चली आई हुई श्रुति है।

साख्योंके आगमको श्रुति कहते हैं। यदि ऐसा वाक्य माना जाय तो क्या दोष आयगा सो आचार्य कहते हैं। (तह्मा) ऐसा माननेपर (कोवि जीवो) कोई भी जीव (तुह्म उवदेसे) तुम्हारे मतमें (अवह्मयारीणदु) अव्रह्मचारी न रहेगा। जैसे शुद्ध निश्चय नयसे सर्व जीव ब्रह्मचारी हैं तैसे एकान्तसे अशुद्ध निश्चय नयके द्वारा भी सर्व ही ब्रह्मचारी हो जायंगे (जह्मा) क्योंकि (कंमंचेव हि कम्मं अहिलसदि) पुंवेद नामा व स्त्रीवेद नामाकर्म ही क्रमसे स्त्री व पुरुषकर्मकी इच्छा करता है जीव नहीं (जं भणिदं) ऐसा जो कहा गया है सो प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। भावार्थः-यदि एकान्तसे जीवको अकर्त्ता और प्रकृतिको ही कर्त्ता माना जायगा तो फिर यदि कोई पुरुष स्त्रीकी इच्छा करता है तो उसे कोई भी दोष न होगा क्योंकि इच्छा करनेवाला पुरुष वेदनामा कर्म है, जीवका भाव नहीं। तब वह पुरुष भी ब्रह्मचारी ही रहेगा, अब्रह्मचारी नहीं। सो यह बात ठीक नहीं है। यद्यपि जैन मतमें भी पुरुष वेद नामाकर्म है पर वह नहीं परिणमनेवाले जीवको परे रखकर आप स्वयं स्त्रीकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं तो जड़ है जड़के इच्छा नहीं किन्तु जब उस कर्मका उदय होता है तब जीव स्वयं ही परिणमन करके अपना भाव रागी व द्वेषी बना लेता है। ऐसा जानना एकांतसे कर्म कर्त्ता नहीं है ॥ ३६२-३६३ ॥

इसतरह अब्रह्मका कथन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुई-

आगे हिंसाका भाव बताते हुए कहते हैं;-

गाथाः—**जह्मा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सापयडी।**
एदेणच्छेणदु किर भण्णदि परघादणामेत्ति ॥ ३६४ ॥
तह्मा ण कोवि जीवो उवघादगो अत्थि तुह्म उवदेसे।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं घादेदि जं भणियं ॥ ३६५ ॥

संस्कृतार्थः—यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः।
एतेनार्थेन भण्यते परघातं नामेति ॥ ३६४ ॥
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातको युष्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्मैव हि कर्म हंतीति भणितं ॥ ३६५ ॥

सामान्यार्थः-जिससे दूसरे कर्मका घात किया जाय व जो कर्म दूसरी प्रकृतिसे घाता जाय वह प्रकृति परघात इसी अर्थमें कही गई है। यदि एकांतसे परघात द्वारा ही हिंसा हो, जीवका सम्बन्ध नहो तो तुम्हारे उपदेशमें कोई भी जीव घातक नहीं हो सक्ता क्योंकि कर्म ही कर्मकी हिंसा करता है ऐसा कहा गया है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जह्मा) इस कारणसे कि (परं) दूसरे कर्म स्वरूपको (सा पयड़ी) वह कर्म प्रकृति (घादेदि) हनती है (य) और (परेण) दूसरी कर्मप्रकृतिसे (घादिज्जदे) वही प्रकृति घात की जाती है न तो

जीवको वह प्रकृति घात करती है और न जीव उसको घात करता है इस अर्थको बतानेवाली जैन मतमें भी परघात नामकी एक प्रकृति कही है। परन्तु वह प्रकृति स्वयं किसीको नहीं मारती जब जीव हिंसाके भावसे परिणमन करता है तब यह परघात नामाकर्म केवल सहकारी कारण है इससे कोई विरोध नहीं आसक्ता। इस पर सांख्यानुसारी शिष्य कहता है कि शुद्ध परिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे जैनागममें भी इस जीवको अपरिणामी अर्थात् हिंसा परिणामसे रहित कहा गया है। इसका समाधान यह है कि जैन मतमें यह वचन है "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" कि शुद्ध निश्चय नयसे सर्व जीव शुद्ध हैं परन्तु व्यवहार नयसे परिणामी हैं। ऐसा तुम्हारे मतमें नहीं है (जम्हा) क्योंकि (कम्मंचेवहि कम्मंघादेदि) कर्म ही कर्मको घात करता है आत्मा नहीं (इदि भणिदं) ऐसा तुम्हारे यहां कहा गया है (तम्हा) इसी लिये (तुम्ह उवदेसे) तुम्हारे उपदेशमें (कोवि जीवो) कोई भी जीव (उवघादगो) उपघात करनेवाला (ण अत्थि) नहीं है। भावार्थः—सांख्य मतमें सर्वथा कर्म प्रकृतिको ही प्रधान माना गया है और आत्माको अकर्त्ता कहा गया है तब सब ही कामोंकी करनेवाली प्रकृति जड़ है वही हिंसा करनेवाली है उसीकी ही हिंसा हुई। जीवका कुछ सम्बन्ध नहीं रहा इससे जीव हिंसक नहीं रहा। तब वह फलका भागी भी कर्म होगा। जैन मतमें जीवको परभावका अकर्त्ता व कर्त्ता नय विभागसे कहा गया है। शुद्ध निश्चय नयसे परभावका अकर्त्ता है परंतु अशुद्ध निश्चयनयसे अपने अशुद्ध भावोंका कर्त्ता है परघातनामा नाम कर्म केवल निमित्त मात्र है। प्रति जीव अपने परिणामोंसे ही दूसरेकी हिंसा करता है तब ही वह जीव हिंसक या हिंसाके फलका भागी होता है ॥ ३६४–३६५ ॥

इसतरह हिंसाके विचारकी मुख्यता करके दो गाथाएं पूर्ण हुईं। आगे इसीको फिर कहते हैं—

गाथाः—एवं संखुवदेसं जेदु परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे ॥ ३६६ ॥

संस्कृतार्थः—एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३६६ ॥

सामान्यार्थः—इस प्रकार सांख्यमतकासा उपदेश जो कोई द्रव्यलिंगी मुनि श्रमण कहते हैं उनके मतमें जड़ प्रकृति कर्त्ता हो जायगी तथा आत्मा सब अकर्त्ता हो जायँगे। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एवं) इस प्रकार पूर्वमें कहे हुए (एरिसं) इसतरह एकांत नयसे (संखुवदेसं) सांख्य मतके से उपदेशको (जेदु समणा) जो कोई श्रमणाभास द्रव्य लिंगी मुनि (परूविंति) कहते हैं (तेसिं) उन्होंके मतसे एकांतसे (पयडी कुव्वदि) जड़ कर्म प्रकृति कर्त्ता हो जाती है (य) और (सव्वे) सब (अप्पा) आत्मा (अकारया) अकर्त्ता हो जाते हैं। जब आत्मामें कर्त्तापना न रहेगा तो उसमें कर्मोंके बंधका अभाव हो जायगा। कर्मबंधका अभाव होनेसे संसारका

अभाव हो जायगा। संसार न होनेसे आत्माको सदा मोक्ष होनेका प्रसंग आ जायगा। यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। जैन मतमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके द्वारा यह सर्व घटता है कोई दोष नहीं है। **भावार्थः**—व्यवहार नयसे जीव ही परभावका कर्त्ता है। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह जीव परभावका कर्त्ता नहीं है अर्थात् व्यवहारनय कर्मजनित अवस्थाओंको देखनेवाली है इससे उसके द्वारा जीव ही अपने परिणमन स्वभावसे द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर मिथ्यात्वभावरूप परिणमन करता है परंतु जब शुद्ध निश्चयनयसे इस जीवके स्वभावको देखते हैं तब यह जीव अपने स्वभावके सिवाय अन्य पर स्वभावका कर्त्ता नहीं होता है॥ ३६६ ॥ इस तरह सांख्यमतके संवादको दिखाकरके जीव एकांतसे अकर्त्ता है ऐसा दूषण देते हुए पांच सूत्र पूर्ण हुए।

फिर उसी सांख्यके अनुसार बुद्धि रखनेवाले शिष्यको कहते हैं—

गाथाः—**अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाण मप्पणो कुणदि।**
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं भणंतस्स॥ ३६७॥

संस्कृतार्थः—अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतन्मन्यमानस्य॥ ३६७॥

सामान्यार्थ—अथवा यदि तू ऐसा माने कि मेरा आत्मा आत्माको ही अपनेसे कर्त्ता है। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेवालेके तुम्हारे यह बात भी मिथ्यास्वभाव रूप है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—यहां फिर सांख्यको कहते हैं। हे सांख्य (अहवा) अथवा (मण्णसि) तू पूर्वमें कहे हुए दोषके आनेके भयसे ऐसा माने कि (मज्झं) मेरे मतमें तो जीव ज्ञानी है। ज्ञानी होनेपर उसके कर्मका कर्त्तापना नहीं घट सक्ता है क्योंकि कर्मोका बंध अज्ञानी जीवोंके होता है किन्तु (अप्पा) आत्मा कर्त्ता होकर (अप्पाणं) आत्माको कर्मरूप करके (अप्पणो) आत्माको करणरूप करके (कुणदि) करता है इस कारणसे अकर्तापनेका दोष नहीं आ सक्ता। उसको आचार्य कहते हैं कि (एवं) इसतरह (मुणंतस्स) मानते हुए (तुम्हं) तुझे (एसो मिछसहावो) यह भी मिथ्या स्वभावरूप है॥ ३६७॥

यह पूर्व पक्षकी गाथा कही आगे तीन सूत्रोंमें इसीका उत्तर कहते हैं—

गाथाः—**अप्पा णिचो असंखिज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि।**
णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियोव कादुं जे॥ ३६८॥

संस्कृतार्थः—आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत्॥ ३६८॥

सामान्यार्थः—क्योंकि आत्मा नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है, ऐसा आगममें कहा गया है उससे हीन व अधिक करनेको कोई भी समर्थ नहीं हो सक्ता। **शब्दार्थ सहित**

विशेषार्थः-(जे) जिस कारणसे अर्थात् क्योंकि (अप्पा) आत्मा (णिच्चो) द्रव्यार्थिक नयसे नित्य अविनाशी है, (असंखिज्ज पदेसो) और असंख्यात प्रदेशोंका धरनेवाला है (समयम्मि) ऐसा परमागममें (देसिदोदु) कहा गया है। तत्तो उसके शुद्ध चैतन्यमई अन्वय लक्षणको व द्रव्यपनेको व उसके प्रदेशपनेको उस प्रमाणसे (अहियो) अधिक (व) या (हीणो) कम (कादुं) करनेको (सो णवि सक्कइ कोई नहीं समर्थ हो सक्ता है इससे यह आत्मा आत्माको करता है यह वचन मिथ्या होता है ॥ ३६८ ॥

इसपर शिष्यने कहा कि असंख्यातका प्रमाण जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेदसे अनेक प्रकार है इससे जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदसे असंख्यात प्रदेशीपना जीव करता है आचार्य कहते हैं सो भी नहीं हो सक्ता क्योंकि जैसा कहा है-

गाथाः—जीवस्स जीवरूवं विच्छरिदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो किं सो हीणो अहियोव कदं भणसि दव्वं ॥३६९॥

संस्कृतार्थः—जीवस्य जीवस्वरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं हि।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥ ३६९ ॥

सामान्यार्थः—जीवका स्वरूप प्रदेशोंकी अपेक्षासे विस्तार करें तौ भी निश्चयसे लोक मात्र जानो, उस प्रमाणसे वह जीव क्या हीन या अधिक किया गया जिससे तुम कहते हो कि आत्म द्रव्य किया गया? अर्थात् नहीं किया गया—शब्दार्थ सहित **विशेषार्थः**-(जीवस्स) इस जीवका (जीवरूवं प्रदेशोंकी अपेक्षा स्वरूप या आकार (विच्छरिदो) शरीरमें विस्तारकी अपेक्षासे उत्कृष्ट महामच्छके देहमें व केवल समुद्घातके समयमें अथवा जघन्यकी अपेक्षासे सूक्ष्म निगोदके शरीरमें व नाना प्रकार मध्यम अवगाह धारी शरीर ग्रहणके कालमें प्रदीपके समान संकोच विस्तार होनेके वशसे (लोकमत्तं) लोकमात्र असंख्यात प्रदेश रूप ही (हि) निश्चयसे रहता है (जाण ऐसा जानो तत्तो) उस लोक मात्र प्रदेशोंके प्रमाणसे (सो) वह जीव (किं) क्या हीणो) हीन (व, या (अहियो) अधिक (कदं किया गया जिससे (दव्वं कदं भणसि; तुम कहते हो कि आत्म द्रव्य किया गया? अर्थात् यह आत्मा छोटे या बड़े कैसे भी शरीरमें जावे यद्यपि संकोच या विस्तार होता है परन्तु अपने असंख्यात प्रदेश मात्र प्रमाणको कभी त्यागता नहीं है ॥ ३६९ ॥

इससे यह जीव किसीसे किया गया ऐसा नहीं है:— इसीको और भी कहते हैं:—

गाथाः—जह जाणगोदु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥ ३७० ॥

संस्कृतार्थः—अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन मतं।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं स्वयमात्मनः करोति ॥ ३७० ॥

सामान्यार्थः—यह ज्ञाता आत्मा ज्ञान स्वभाव रूपसे पहले हीसे है ऐसा माना गया,

है। इसलिये यह आत्मा अपनेको अपनेसे नहीं करता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(अह) अब हे शिष्य! और भी जानो कि (जाणगोदु भावो) ज्ञाता अर्थात जाननेवाला आत्मा पदार्थ (णाण सहावेण) ज्ञान स्वभाव रूपमे तो (अत्थिदेदि मदं) पहलेसे ही मौजूद है यह सम्मत है ही। (तह्मा) इसकारणसे कि निर्मल आनंदमई एक ज्ञान स्वभाव रूप शुद्ध आत्मा पहलेसे ही है इसलिये (अप्पा) यह आत्मा कर्त्ता होकर (अप्पयं) अपने आत्माको कर्म रूप करके (सयम्) अपने आप ही (अप्पणो) अपने ही द्वारा (णवि) नहीं ही (कुणदि) करता है। एक दूषण तो यह है दूसरे यह कि जो विकार रहित परमतत्त्व ज्ञानी है वह तो कर्त्ता होता ही नहीं। यह पहले ही कहा जा चुका है। भावार्थः—सांख्य पुरुषको सर्वथा अकर्त्ता मानते हैं उसके अनुसार बुद्धि रखनेवाले शिष्यको पहले तो आचार्यने समझाया कि यदि तुम आत्माको बिलकुल अकर्त्ता मानोगे तो हिंसा, कुशील आदि कार्योंका कर्त्ता एकांतसे पुद्गल कर्म जो जड़ है सो ठहर जायगा तब आत्मा कर्मबंध न करके संसारी ही न होगा न दुःखी होगा न दुःख भोगेगा यह बात नहीं बन सक्ती है क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध है। तब फिर उस शिष्यने कहा कि आत्मा अपनेको अपने द्वारा करता है इससे वह कर्त्ता है—इसीका भी खंडन आचार्यने किया कि यह आत्मा तो स्वरूपसे ज्ञान स्वभाव व असंख्यात प्रदेशी पहलेसे ही है इसने अपने ताईं किया ही क्या? इससे इस तरह कर्त्ता मानना भी मिथ्या है।

इस तरह पूर्व पक्षको खंडन करते हुये तीसरे अंतरस्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

यहां किसीने प्रश्न किया कि इस जीवसे प्राण भिन्न हैं कि अभिन्न यदि अभिन्न कहें तो जैसे जीवका नाश नहीं है वैसे प्राणोंका भी विनाश नहीं होगा तो फिर हिंसा क्या होगी। यदि जीवसे प्राणोंको भिन्न माने तो फिर जीवके प्राणोंका घात करने पर जीवका क्या बिगड़ा? कुछ नहीं, इससे इस तरह भी हिंसा न हुई। इसका आचार्य समाधान करते हैं कि काय आदि प्राणोंके साथ किसी अपेक्षासे भेद और कथंचित् अभेद है। किस कारणसे है कि जैसे गरम लोहेके पिंडमेंसे उस वर्त्तमान कालमें अग्नि अलग नहीं की जासक्ती इसी तरह शरीरमें जब आत्मा तिष्ठा है तब उस वर्त्तमान कालमें उसे अलग नहीं करसक्ते। इसकारण व्यवहार नयसे प्राणोंके साथ जीवका अभेद है निश्चयसे भेद है क्योंकि मरणके समय काय प्राण आदि जीवके साथ नहीं जाते हैं। यदि एकांतसे जीव और प्राणोंका सर्वथा भेद माना जाय तो जैसे दूसरेके शरीरको छेदते भेदते हुए भी अपनेको दुःख नहीं होता तैसे अपनी कायको भी छिदते भेदते हुए दुःख नहीं होना चाहिये सो बात नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। तब फिर शङ्काकार कहते हैं कि तो फिर व्यवहारसे ही हिंसा हुई निश्चयसे नहीं हुई। इस पर आचार्य कहते हैं कि यह बात तुमने सत्य ही कही जैसे व्यवहारसे हिंसा है वैसे पाप भी व्यवहारसे है तथा नरक आदिके दुःख भी व्यवहारसे हैं यह बात हमको सम्मत है ही। यदि नरक आदिके

दुःखोंसे तुम्हें प्रीति है तो हिंसा करो यदि भय है तो हिंसाको छोड़ो। इससे यह सिद्ध किया कि एकांतसे सांख्यमतके समान यह जीव अकर्ता नहीं है। तो फिर किस तरह है इसके लिये आचार्य कहते हैं कि रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित समाधि लक्षणको रखनेवाले भेदज्ञानके समयमें यह जीव कर्मोंका कर्ता नहीं है शेष सर्वकालमें कर्ता है ॥ ३७० ॥ इस व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतर स्थल तीनके द्वारा चौथे स्थलमें १२ सूत्र पूर्ण हुए।

आगे कहते हैं कि जब तक अपने शुद्ध आत्माको आत्मारूप करके नहीं जानता है और पांचों इन्द्रियोंके विषय आदिक पर द्रव्यको अपनेसे भिन्न पररूप नहीं जानता है तब तक यह जीव रागद्वेषोंसे परिणमन करता है। अथवा बाहरके पांचों इन्द्रियोंके विषयके त्यागकी सहायतासे क्षोभ रहित चित्तकी भावनासे पैदा हुआ जो विकार रहित सुख नंद अमृत रसका स्वाद उसके बलसे में इन्द्रियोंके विषय, कर्म, और शरीरका घात करूं इस बातको न जानता हुआ आत्मज्ञान व स्वसंवेदन ज्ञानसे रहित कायक्लेशद्वारा जो अमना दमन करता है उस जीवको भेदज्ञानकी प्राप्ति होनेके लिये शिक्षा देते हैं—

गाथाः—दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३७१ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥ ३७२ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥ ३७३ ॥

संस्कृतार्थः—दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३७१ ॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कर्मसु ॥ ३७२ ॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात् किं घातयति चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३७३ ॥

सामान्यार्थ—विशेषके साथ ही लिखा जाता है—(अचेदणे विसए कम्मे काये) चेतनता रहित शब्द आदि पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें व ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार द्रव्यकर्मोंमें व औदारिक आदि पांच प्रकार कायोंमें (किंचिवि) कुछ भी (दंसणणाणचरित्तं) दर्शनज्ञान चारित्र नहीं हैं (तह्मा) इस कारणसे (चेदयिदा) चेतनेवाला आत्मा (तेसु विसएसु कम्मेसु कायेसु) उन विषय, द्रव्यकर्म, वा शरीरोंमें (किं) क्या (घादयदे) घात करता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। तात्पर्य यह है कि शब्द आदि पांचों इन्द्रियोंकी अभिलाषारूप, व ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका कारणरूप तथा शरीरसे ममतारूप जो कोई मिथ्यात्व व रागद्वेषादि

परिणाम मनमें विराज रहा है उसका घात करना चाहिये तथा वे शब्दादिक रागादि भावोंके बाहरी कारण हैं इस लिये इनको भी छोड़ना चाहिये। भावार्थः—कोई ऐसा माने व कहे कि इन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको छोड़ दूं व अचेतन कर्मोंका नाश करडालूं व शरीरको कायक्लेश आदि तपोंसे सुखा दूं तो मुझे रत्नत्रयका लाभ हो जायगा उसको आचार्य कहते हैं कि मात्र बाहरी अचेतन पदार्थोंको छोड़नेसे कुछ लाभ न होगा जब तक कि मिथ्याभाव व रागद्वेष भावोंको न त्यागा जाय क्योंकि इन्हीं भावोंके कारण इस आत्माके रत्नत्रयरूप परिणाम नहीं हो रहे हैं—अतएव इन भावोंको दूर करना चाहिये और इस कारणसे कि बाहरी पदार्थ अंतरंग भावोंके बिगाड़नेके निमित्त कारण हैं इससे उनका भी त्याग करना चाहिये। मुख्यतासे मिथ्यात्व रागद्वेषादि भावोंका त्याग ही उपादेय है॥ ३७१—३७२—३७३॥

अब इस ही भावको और भी दिखलाते हैं:-

गाथाः—णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
णवि तह्मि कोऽवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो॥३७४॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु।
तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु॥ ३७५॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेदु अणण्ण परिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादि॥ ३७६॥

संस्कृतार्थः—ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य।
नापि तत्र कोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य घातो निर्दिष्टः॥ ३७४॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु॥ ३७५॥
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः॥ ३७६॥

सामान्यार्थः—मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याचारित्रका घात कहा गया है। पुद्गल द्रव्यका घात तो वहां (सिद्धांतमें) कहीं भी नहीं कहा गया है। जो जीव सम्बन्धी गुण हैं वे कोई भी निश्चयसे जीवके सिवाय पर द्रव्योंमें नहीं हैं इसीलिये सम्यग्दृष्टीका राग पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं होता। रागद्वेष मोह जीवके ही निज भाव हैं इस कारणसे शब्द आदिके विषैं रागादिक भाव नहीं हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(णाणिस्स) शब्द आदि पंचेन्द्रियोंकी इच्छा रूपसे वा कायका ममत्व रूपसे जो ज्ञानावरणीय आदि कर्मबंधके निमित्त कारण अनंतानुबन्धी आदि रागद्वेषरूप मिथ्या ज्ञानरूपी भाव जो मनमें तिष्ठ रहा है उस मिथ्या-

ज्ञानका, (य) और (दंसणस्स) मिथ्यादर्शनका (तहा) तथा (चरित्तस्स) मिथ्याचारित्रका (घादो) घात या विनाश निर्विकल्प समाधिरूपी आयुधके द्वारा करना चाहिये ऐसा (भणिदो) सर्वज्ञ भगवानने कहा है। (दु) परन्तु (तह्मि) उस अचेतन (पुग्गल दव्वे) शब्द आदि विषयरूप, व द्रव्यकर्मरूप व शरीररूप पुद्गल द्रव्यमें (कोवि घादो) कोई प्रकारका घात भी (णवि) नहीं (णिद्दिट्ठो) कहा गया है। प्रयोजन यह है कि जैसे घटके आधारभूत जो पृथ्वी आदि उसको घातनेसे व चोट देनेसे घट नहीं फोड़ा जाता है तैसे ही रागद्वेष आदि भावोंका निमित्त कारण शब्द आदि पंचेन्द्रियोंके विषयोंको नाश करनेसे मनके भीतर मौजूद रागद्वेषादि रूप भाव घाते नहीं जा सके। दूसरेके घात करनेपर दूसरेका घात नहीं होता है क्योंकि ऐसा होनेसे अतिप्रसंग आजावे अर्थात् चोट किसी दूसरेको दी जाय और हानि दूसरेकी हो। (खलु) निश्चयसे (जे केई) जो कोई सम्यग्दर्शन आदि (जीवस्स गुणा) जीवके गुण हैं (ते) वे गुण (परेसु दव्वेसु) शब्द आदि पंचेन्द्रियोंके विषयरूप परद्रव्योंमें (णत्थि) नहीं हैं (तम्हा) इस कारणसे (सम्मादिट्ठिस्स) पंचेंद्रियोंके विषय रहित अपने शुद्ध आत्माकी भावनासे पैदा होनेवाले सुखमें तृप्त सम्यग्दृष्टी जीवका (रागो) राग (दु) तो (विसयेसु) पंचेन्द्रियके विषयोंमें (णत्थि) नहीं हैं। (दु) किन्तु (जे रागो दोसो मोहो) जो राग, द्वेष, और मोह हैं वे (जीवस्स) अज्ञानी जीवके (अणण्ण परिणामा) अशुद्ध निश्चय नयसे अभिन्न परिणाम हैं अर्थात् अज्ञानी जीव ही इन रागादि भावोंका उपादान कारण है। (एदेण कारणेण दु) इसी कारणसे ही (सद्दादिसु) शब्द आदि सुन्दर या असुन्दर पंचेन्द्रियोंके विषयरूप अचेतन पदार्थोंमें (रागादि णत्थि) यद्यपि अज्ञानी जीव अपने भ्रम रूप मिथ्याज्ञानसे रागादिकोंको कल्पना या आरोपण करता है तथापि उनमें रागद्वेषादि भाव नहीं हैं। क्योंकि शब्द आदि अचेतन हैं, जड़ हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीवके उसी वक्त तक ही राग और द्वेष दोनों भाव उदय होते या उठते हैं जब तक कि मनमें मन, वचन, कायकी गुप्ति रूप स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है। भावार्थः—यहां आचार्य कहते हैं कि जो कोई अज्ञानी बाहरी पदार्थोंको रागद्वेषका मूल कारण मान उनके त्यागनेसे रागद्वेष न होगा ऐसा ही माने अर्थात् उन अचेतन इंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंमें ही रागद्वेषकी कल्पना करे परन्तु अपनेमें मिथ्याभावसे जो मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र हैं और जिनके कारण अपने मनमें रागद्वेषादि भाव होते हैं उनको त्यागनेका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण न करे अर्थात् इन रागादि भावोंको न त्यागे किंतु बाहरी पदार्थोंको ही त्यागे तो वह अज्ञानी बहिरात्मा ही है। ज्ञानी जीव इन रागादि भावोंके होनेमें अपने ही अज्ञानको कारण जान उस अज्ञानको और उससे उत्पन्न रागद्वेषादि भावोंको मिटानेके लिये अपने मन वचन कायको रोक स्वसंवेदन ज्ञानमें

तन्मय रहता है। तथा क्योंकि बाहरी पदार्थ रागादि भावोंके निमित्त कारण हैं अतएव उनका भी संसर्ग नहीं करता है पर मुख्यतासे अपने भावोंको ही सुलझाता है ऐसा ज्ञान मुमुक्षु जीवको उचित है कि रागादि भावोंको मेट आत्म ज्ञानमें तन्मय रहनेका यत्न करे॥ ३७४-३७५-३७६॥

इस तरह छः गाथाएं कहीं।

इन गाथाओंसे यह सिद्ध हुआ कि चेतन या अचेतन शब्द आदि इन्द्रियोंके विषय रागद्वेषादि भावोंके उत्पन्न करनेमें निश्चय नयसे कारण नहीं है, इसीको कहते हैं:—

गाथाः—अण्णदवियेण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥ ३७७॥

संस्कृतार्थः—अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणविघातः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन॥ ३७७॥

सामान्यार्थः—अन्य द्रव्यसे अन्य द्रव्यके गुणोंका घात नहीं किया जा सक्ता है इसलिये सर्व द्रव्य अपने २ स्वभावसे उत्पन्न होते हैं। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(अण्णदवियेण) अन्य द्रव्य अर्थात् बाहरमें निमित कारण रूप कुम्हार आदि पर द्रव्योंके द्वारा (अण्ण दवियस्स) घड़ेके लिये उपादान कारणरूप मिट्टी आदि कुम्हारसे अन्य द्रव्योंके (गुण (विघादो) गुणोंका नाश (णो कीरदे) नहीं किया जाता है अर्थात् कोई अचेतन द्रव्य किसी चेतनके चैतन्यमय गुणोंका नाश करके उस चेतनको अचेतन नहीं कर सक्ता ऐसे ही कोई भी चेतन द्रव्य किसी भी अचेतन द्रव्यके अचेतनमय गुणोंका नाश करके उस अचेतनको चेतनरूप नहीं कर सक्ता (तह्मादु) इसकारणसे ही (सव्वदव्वा) मिट्टी आदि सर्व द्रव्य (सहावेण उप्पज्जंते) अपने अपने स्वभावसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् मिट्टी अपने स्वभाव रूप घट आदि रूपसे ही उत्पन्न होती है क्योंकि घटका उपादान कारण मिट्टी है यद्यपि मिट्टीको घट बननेमें बाह्य निमित्तकारण कुम्हार व चाक आदि पर द्रव्य हैं तौ भी वह मिट्टी कुम्हार व चाक आदि रूप नहीं होती है घट अवस्थामें भी अपने स्वभावमें रहती है क्योंकि जैसा उपादान यानी मूल कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। इस कथनसे यह सिद्ध किया गया कि यद्यपि पांचों इन्द्रियोंके विषयरूप शब्द आदिके बाह्य निमित्तके होने पर अज्ञानी जीवके रागद्वेषादि भाव पैदा होते हैं तथापि वे रागादि भाव जीव स्वरूप रूप ही हैं, चेतन हैं। जैसे शब्द आदि अचेतन हैं वैसे अचेतन नहीं हैं। **भावार्थः**—चेतन अचेतनका घात व अचेतन चेतनका घात नहीं कर सक्ता। यद्यपि एक दूसरेको निमित्त कारण हैं तथापि परिणमन अचेतनका अचेतनरूप और चेतनका चेतनरूप होता है। अचेतनके घातसे चेतन, व चेतनके घातसे अचेतन अपने २ स्वभावको त्याग कर अन्यरूप नहीं होजाते। इसतरह जो कोई भी प्रथम अवस्थाका शिष्य अपने चित्तमें ठहरे हुए रागद्वेषादि

भावोंको नहीं जानता है और यह जानकर कि रागादि करनेवाले बाहरी शब्द आदि पंचेन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थ हैं जो कि वास्तवमें केवल रागद्वेष आदि भावोंके निमित्त कारण हैं वह शिष्य विकल्प रहित समाधि लक्षणको रखनेवाले भेद ज्ञानके अभावसे ऐसा चिन्तवन करता है कि मैं बाहरी शब्द आदि पदार्थोंका घात करडालूं तो भला होगा। उसको समझानेके लिये पूर्वमें गाथा छःके साथ सूत्र सात समाप्त हुए। इससे यह समझाया गया कि चित्तमें ठहरे हुए रागद्वेषादि भावोंको दूर करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है। विना इनके त्यागे भेदज्ञानकी स्थिरता नहीं रह सक्ती ॥ ३७७ ॥

आगे कहते हैं कि व्यवहार करके कर्त्ता और कर्मका भेद है परन्तु निश्चयसे जो ही कर्त्ता है सो ही कर्म है ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथाः—जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि णय सोदु तम्मओ होदि।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि णय तम्मओ होदि ॥३७८॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि णय सोदु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि णय तम्मओ होदि ॥३७९॥
जह सिप्पिओ करणाणि गिह्णदि णय सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणिय गिह्णदि णय तम्मओ होदि ॥३८०॥
जह सिप्पिओ कम्मफलं भुंजदि णय सोदु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि णय सोवि तम्मओ होदि ॥३८१॥

संस्कृतार्थः—यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति नच स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३७८ ॥
यथा शिल्पिकः करणैः करोति न स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणैः करोति नच तन्मयो भवति ॥ ३७९ ॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणानि च गृह्णाति नच तन्मयो भवति ॥ ३८० ॥
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते नच स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते नच तन्मयो भवति ॥ ३८१ ॥

सामान्यार्थः—जैसे सुनार अपना गहना बनानेरूप कर्म करता है परंतु वह उस कर्मसे तन्मयी नहीं हो जाता है। तैसे जीव भी द्रव्य कर्म करता है पर उससे तन्मयी नहीं होता। जैसे शिल्पी हथियारोंसे करता है परंतु वह तन्मई नहीं होता ऐसे ही जीव मन, वचन, कायके व्यापाररूप करणोंसे द्रव्य कर्म करता है पर उन करणोंसे तन्मई नहीं होता। जैसे शिल्पी आयुधोंको ग्रहण करता है पर उनसे तन्मई नहीं होता ऐसे ही जीव अनेक गहलादि उपकरणोंको ग्रहण करता है पर उनमे तन्मई नहीं होता। जैसे शिल्पी अपने कर्मके फलको

भोगता है परंतु उससे तन्मई नहीं होता तैसे ही जीव कर्मोंके फलको भोगता है परंतु तन्मई नहीं होता। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे लोकमें (सिप्पिओ) सुनार आदि कारीगर (कम्मं दु) सुवर्णके कुंडल आदिकोंके बनानेरूप कर्मको तो (कुव्वदि) करता है अर्थात् कुंडल आदि चीजोंको बनाता है (दुसो) परन्तु वह (तम्मओ णयहोदि) उस कुंडल आदि आभूषणसे तन्मई याने एकमेक नहीं हो जाता है (तह) तैसे (जीवो विय) यह अज्ञानी जीव भी वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानसे गिरा हुआ (कम्मं कुव्वदि) ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंको करता है अर्थात् कर्मोंको बांधता है। (णय तम्मओ होदि) परन्तु उन द्रव्य कर्मोंके साथ तन्मयी याने एकमेक नहीं होजाता है। तथा (जह) जैसे (सिप्पिओ) वही कारीगर (करणेहिंदु) हथौड़े आदि हथियारोंसे तो (कुव्वदि) उन कुंडलादिकोंको करता है याने बनाता है (दु) परन्तु (सो तम्मओ णय होदि) वह उन हथियारोंसे तन्मयी याने एकमेक नहीं होजाता है (तह) तैसे (जीवो) यह अज्ञानी जीव (करणेहिं कुव्वदि, मन, वचन, कायके व्यापार रूप द्रव्य-कर्मोंको बांधनेवाले सहायक कारणोंसे द्रव्यकर्मको बांधता है (तम्मओ णय होदि) परन्तु उन करणोंके साथ तन्मयी नहीं होता है तथा (जह) जैसे (सिप्पी) वही कारीगर (करणाणिय) उन हथौड़े आदि उपकरणोंको हाथसे पकड़ता है (दु) परन्तु (सो तम्मओ णय होदि) वह उस क्रियासे तन्मयी नहीं होता (तह) तैसे (जीवो करणाणिय गिण्हदि) जीव भी कर्मोंके उद-यके वशसे उन मन, वचन, कायके व्यापाररूप कर्मोंके बांधनेवाले उपकरणोंको व्यवहार नयसे ग्रहण करता है (तम्मओ णयहोदि) परन्तु वह जीव उनके साथ तन्मयी नहीं हो जाता है क्योंकि यह जीवतो सदा टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभाव रूप है। तथा (जह) जैसे (सिप्पिओ कम्म फलं भुंजदि) वह कारीगर अपने सुवर्णके कुंडलादि बनाकर उसकी मज़ूरी पाकर उसके निमित्तसे भोजन पानादि खाता पीता है (दु सोवितम्मऊ णयहोदि) परन्तु वह उनमें भी तन्मई नहीं होता है (तह) तैसे (जीवो कम्मफलं भुंजदि) यह जीव भी अपनी शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न मनोहर आनंद मई सुखके स्वादको नहीं पाता हुआ शुभ व अशुभ द्रव्यक-र्मोंके फल रूप बाह्यमें मनोहर या अमनोज्ञ भोजन पानादि रूप फलको भोगता है (सोवित-म्मओ णय होदि) परन्तु वह उन फलोंसे तन्मयी नहीं होता है।

भावार्थः—यहां यह अभिप्राय है कि जैसे शिल्पी किसी शिल्पको हथियार आदि-कोंसे बनाता है और उसकी मजूरी पाकर उसके फलको भी भोगता है परन्तु वह शिल्पी वास्तवमें उस शिल्पसे, हथियारोंसे, व उसके फलसे जुदाही है—सत्ता शिल्पकी उनसे भिन्न है। शिल्पी केवल उनका निमित्त कारण है। ऐसे ही यह जीव भी अपने मन वचन कायके व्यापारोंसे द्रव्यकर्मको बांधता है पर वास्तवमें जीव इन सबसे भिन्न ही है जीव केवल निमित्त कर्त्ता है। निश्चय नयसे तो जीव इन सबसे भिन्न ही है। इसलिये निश्चय नयसे कर्त्ता कर्म

भिन्न नहीं होसक्ते। दोनों एक ही वस्तु है॥ ३७८-३७९-३८०-३८१ ॥

आत्मा अपने भावोंका आप कर्त्ता है इसलिये उसके भाव ही उसके कर्म हैं। इसीको और भी कहते हैं:—

गाथाः—एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥३८२॥

संस्कृतार्थः—एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥ ३८२ ॥

सामान्यार्थः—इसतरह व्यवहार नयका सिद्धान्त संक्षेपसे कहा गया। अब हे शिष्य! निश्चय नयकी बात सुनो जो कि परिणाम द्वारा किया हुआ भाव होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(एवं) ऊपर लिखे प्रमाण ४ गाथाओंके द्वारा हे शिष्य! (ववहारस्स दंसणं) द्रव्य-कर्मोंका कर्त्ता व भोक्तारूप व्यवहार नयका सिद्धान्त (समासेण) संक्षेपसे वत्तव्वं) व्याख्यान करना योग्य है। (णिच्छयस्स वयणं सुणु) अब निश्चय नयका वचन सुनो (जं तु परिणाम कदं-होदि) जो रागद्वेषादि विकल्पके निमित्तसे उत्पन्न होता है॥ ३८२ ॥

गाथाः—जह सिप्पिओ दु चिट्ठं कुव्वदि हवदिय तहा अणण्णो सो।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो ॥३८३॥

संस्कृतार्थः—यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥ ३८३ ॥

सामान्यार्थः—जैसे कारीगर चेष्टा करता है और उस चेष्टासे एकमेक होता है तैसे जीव भी भाव कर्मको करता है और उससे एकमेक होजाता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (सिप्पिओ दु) सुवर्णकार आदि कारीगर (चिट्ठं कुव्वदि) मैं कुंडल आदिकोंको इस तरह बनाऊं, इसतरह बनाऊं ऐसी मनमें चेष्टा याने उत्साह करता है (तहाय) तथा (सो अणण्णो हवदि) उस चेष्टा या उत्साहके साथ वह एकमेक व तन्मय होजाता है (तह) तैसे (जीवो विय) यह अज्ञानी जीव भी (कम्मं कुव्वदि) केवलज्ञान आदि स्वभावोंकी प्रकटता रूप जो कार्य समयसार उसको सिद्ध करनेवाला जो विकल्परहित समाधिभाव रूप कारण समयसार है उसको न पाकर अशुद्ध निश्चय नयसे व अशुद्ध उपादान रूपसे मिथ्यात्व व राग-द्वेष आदि रूप भावकर्मको करता है (सो अणण्णो हवदिय) और उस भाव कर्मके साथ अनन्य याने एकमेक तन्मय हो जाता है॥ ३८३ ॥

इस तरह भाव कर्मका कर्त्तापना कहा गया आगे भोक्तापना कहते हैं:—

गाथाः—जह चिट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि।
तत्तोसिय अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३८४ ॥

संस्कृतार्थः—यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥ ३८४ ॥

सामान्यार्थः—जैसे शिल्पी कुंडलादि बनानेकी चेष्टा करता हुआ नित्य दुःखित होता है और उस चेष्टासे अनन्य याने एकमेक होजाता है तैसे ही यह जीव अपने भाव कर्मोंसे एकमेक होकर दुःखी होता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह) जैसे (सिप्पिओ) वही सुवर्णकार कारीगर (चेट्ठं कुव्वंतो दु) कुंडल आदिको इस तरह करूं, इसतरह करूं ऐसी मनमें चेष्टा या उद्यम करता हुआ णिच्च नित्य ही (दुक्खिदो होदि) चित्तके खेदसे दुःखी होता है। केवल दुःखी ही नहीं होता (अणण्णो सेय) उस दुःख विकल्पके अनुभवरूप भावसे तन्मय होजाता है (तह) तैसे (चेट्ठंतो) विशुद्ध ज्ञान, दर्शन आदिकी प्रकटतारूप कार्य समयसारका साधक जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप कारण समयसार है उसको न पाकर सुख दुःख भोगनेके वक्तमें हर्ष या विषाद-रूप चेष्टाको करता हुआ (जीवो) यह अज्ञानी जीव (दुही) मनमें दुःखी होता है और उस हर्ष व विषादरूप अपने भावोंके परिणमनरूप चेष्टासे अशुद्ध निश्चय व अशुद्ध उपादान रूपसे एकमेक होजाता है। भावार्थः—जैसे शिल्पी कुंडलादिको हथौड़े आदि उपकरणोंसे बनाता है और उसके द्रव्य व भोजन पान प्राप्तिरूप फल को भोगता है तौ भी वह कुंडल, व उसके बनानेके उपकरण व द्रव्य व भोजनादि यह सब परद्रव्य हैं इनसे शिल्पीका सरूप एकमेक नहीं होता। परंतु जो वह कुंडल बनानेरूप भावोंको अपनेमें करता है उनभावोंसे तो वह अवश्य तन्मय होजाता है। तैसे ही अज्ञानी जीव व्यवहार नयसे जो द्रव्य कर्म, नोकर्म व अन्य घट पटादि पादार्थोंका कर्त्ता कहनेमें आता है सो यह जीव इन पदार्थोंसे अन्य है, उनमें तन्मई नहीं होता परंतु जो वह रागद्वेषरूप व सुख व दुःखके अनुभवरूप भावको करता है उससे अवश्य तन्मई हो जाता है। अर्थात् जीवका परिणमन जीवमें और पुद्गलका पुद्गलमें होता है। इसतरह पूर्वकी गाथाओंमें कहे प्रमाण अज्ञानी जीव विकल्प रहित स्वसंवेदनज्ञानसे गिरा हुआ सुवर्णकार आदिके दृष्टान्तसे व्यवहार नय करके द्रव्यकर्मोंको करता है और भोगता है तैसे ही अशुद्ध निश्चय नयसे रागद्वेषादिभाव कर्मोंका करता और भोगता है ॥ ३८४ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंको जानता है तौभी जैसे सफेद दीवालमें सफेद चूना निश्चयसे दीवालसे एकमेक नहीं होता ऐसे ही ज्ञान ज्ञेयोंके साथ तन्मय नहीं होता है। इसतरह निश्चय नयकी मुख्यतासे पांच गाथाएं हैं तथा जैसे श्वेत मिट्टी या खड़िया या चूना दीवालको सफेद करता है ऐसा व्यवहार किया जाता है तैसे ही ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंको मात्र जानता ही है ऐसा व्यवहार है इसतरह व्यवहारकी मुख्यतासे पांच गाथाएं हैं इस तरह समुदायसे १० गाथाएं हैं।

गाथा:—जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सोदु ॥३८५॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सोदु ॥३८६॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सोदु ॥३८७॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तंतु ॥ ३८८॥

संस्कृतार्थः—यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥ ३८५ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च स भवति।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥ ३८६ ॥
यथा सेटिकातु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥ ३८७ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥ ३८८ ॥

विशेष व सामान्यार्थः-(जह) इस लोकमें (सेटिया) खड़िया मट्टी (परस्स) भीत आदि परद्रव्यके साथ निश्चयसे तन्मयी (णदु) नहीं होती, बाहरके ही भागमें रहती है अर्थात् (सा सेटिया) वह खड़िया मिट्टी (सेटिया दु होदि) खड़िया मिट्टी ही रहती है अपने स्वरूपको नहीं छोड़ती (तह) तैसे ही (जाणगो) जाननेवाला ज्ञाता, दृष्टा (दु) भी (परस्स ण) पर जो घटपट आदि ज्ञेय पदार्थ उनका अर्थात् उनरूप निश्चयसे नहीं होता अर्थात् तन्मई नहीं होता (जाणगो सोदु जाणगो) जो जाननेवाला है सो ही जाननेवाला होता है अर्थात् ज्ञाता अपने स्वरूपमें ही ठहरता है (आगेका शब्दार्थ सुगम है।) इस गाथामें यह कहा गया कि ब्रह्म अद्वैतवादी कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेयरूपसे परिणमन कर जाता है उस तरह यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय जो पर है उसरूप परिणमन नहीं करता। इसी ही श्वेत मृत्तिकाके दृष्टान्तसे देखनेवाला आत्मा दृश्य--देखने योग्य जो घट, पट आदि पदार्थ उनका निश्चयसे देखनेवाला नहीं है अर्थात् तन्मयी नहीं होता है। अर्थात् जो दर्शक है, सो दर्शक ही रहता है, अपने स्वरूपमें ही ठहरता है ऐसा अर्थ है। इसतरह दर्शकका सत्ता मात्र अवलोकनरूप दर्शन गुण दृश्य--जो देखने योग्य पदार्थ उस रूपसे नहीं परिणमन करता है। इसी प्रकार इसी ही श्वेत मृत्तिकाके दृष्टान्तसे संजद अर्थात् संयम रूप आत्मा त्यागने योग्य जो परिग्रह आदि पर द्रव्य उनका निश्चयसे

त्यागनेवाला नहीं होता अर्थात् त्याग करनेके विषैं तन्मयी नहीं होता तो फिर क्या होता है। संयमी संयमी ही रहता है। अर्थात् विकार रहित अपने आत्माके मनोहर आनंदमई स्वरूप रूप लक्षणको रखनेवाले अपने स्वभावमें ही ठहरता है। इसतरह वीतराग चारित्रकी मुख्यतासे कहा। उसी ही प्रकारसे इसी ही श्वेत मृत्तिकाके दृष्टान्तसे (परस्स दंसणं णदु) परका अर्थात् जीवादि पदार्थोंका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन नहीं होता अर्थात् निश्चय नयसे उनका श्रद्धान करनेवाला नहीं होता अर्थात् पर पदार्थोंके श्रद्धानमें तन्मई नहीं होता तो फिर क्या होता है कि सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मा सम्यग्दर्शन स्वरूप ही रहता है, अपने ही स्वरूपमें ठहरता है। इस तरह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शनकी मुख्यतासे गाथा हुई। भावार्थः—निश्चय नयसे आत्मा स्वयं ज्ञाता, दृष्टा, संयमरूप, व श्रद्धान रूप है क्योंकि यह सर्व ही आत्माका परिणाम है॥ ३८५–३८६–३८७–३८८॥

आगे फिर भी वही कहते हैं:—

गाथाः—एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्सय वत्तव्वं से समासेण ॥ ३८९ ॥

संस्कृतार्थः—एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३८९॥

सामान्यार्थः—इस प्रकार निश्चय नयसे सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रको कहा गया। अब व्यवहार नयका कथन सुनो जो कि संक्षेपसे कहा जाता है।। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(एवंतु) ऊपर कही हुई चार गाथाओंसे) (णाण दंसण चरित्ते) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके सम्बन्धमें (णिच्छय णयस्स) निश्चय नयके द्वारा (भासिदं) कथन किया गया। (च) अब हे शिष्य! (से) उस रत्नत्रयका (समासेण) संक्षेपसे (वत्तव्वं) कथन (ववहारणयस्स) व्यवहार नयके द्वारा (सुणु) सुनो ॥ ३८९ ॥

इसतरह निश्चय नयके द्वारा ५ गाथाएं कही गईं।

अब व्यवहार नयका वर्णन करते हैं—

गाथाः—जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादावि सएण भावेण ॥ ३९० ॥

संस्कृतार्थः—यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३९० ॥

विशेष सहित सामान्यार्थः—(जह) जैसे व जिस प्रकारसे इस लोकमें (सेटिया) श्वेत (मिट्टी) (अप्पणो सहावेण) अपने ही श्वेत भावसे (परदव्वं) भीत आदि पर द्रव्यको (सेटदिहु) व्यवहार नयसे सफेद करदेती है परन्तु भीत आदि पर द्रव्योंके साथ तन्मयी याने एकमेक नहीं होती (तह) तैसे इसी श्वेत मिट्टीके दृष्टान्तसे (णादा वि) जाननेवाला आत्मा भी (सयेण

भावेण) अपने ही ज्ञान भावसे (परदव्वं) घट आदि ज्ञेयरूप पर द्रव्योंको (जाणदि) व्यवहार नयसे जानता है परन्तु उनके साथ तन्मयी नहीं होता। भावार्थः—जैसे पहले कहा था कि निश्चय नयसे ज्ञाता अपने स्वरूपमें ही रहता है वैसे यहां भी कहा कि यद्यपि व्यवहार नयसे हम कहते हैं कि आत्मा पर वस्तुओंको जानता है तौ भी वह उनके साथ तन्मई न होकर अपने स्वरूपमें ही रहता है ॥ ३९० ॥

गाथाः—जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि जीवोवि सएण भावेण ॥ ३९१ ॥

संस्कृतार्थः—यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति जीवोऽपि स्वकेन भावेन ॥ ३९१ ॥

सामान्यार्थ विशेष सहितः—(जह) जैसे (सेटिया) खड़िया मिट्टी (परदव्वं) भींत आदि पर द्रव्यको (अप्पणो सहावेण) अपने स्वभावसे (सेटदिहु) व्यवहार नयसे सफेद करती है (तह) तैसे (जीवोवि) यह जीव भी (सएण भावेण) अपने ही दृष्टामई स्वभावसे (परदव्वं) घट पट आदि पर द्रव्योंको (पस्सदि) व्यवहार नयसे देखता है परन्तु उनमें तन्मयी नहीं होता। भावार्थः—जैसे पहले कहा था कि निश्चय नयसे दृष्टा अपने स्वरूपमें ही रहता है वैसे यहां भी कहा है कि यद्यपि व्यवहार नयसे हम कहते हैं कि आत्मा पर वस्तुओंको देखता है तौ भी वह उनके साथ तन्मई न होकर अपने स्वरूपमें ही रहता है। ॥ ३९१ ॥

गाथाः—जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विरमदि णादावि सएण भावेण ॥ ३९२ ॥

संस्कृतार्थः—यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३९२ ॥

शब्दार्थ सहित अर्थः—(जह) जैसे (सेटिया) सफेद मिट्टी (अप्पणो सहावेण) अपने ही स्वभावसे (परदव्वं सेटदिहु) भींत आदि परद्रव्यको सफेद करती है (तह) इसी तरह (णादा वि) ज्ञाता आत्मा भी (सएण भावेण) अपने ही विकल्प रहित समाधि परिणामसे (पर दव्वं विरमति) परग्रहादिक परद्रव्योंको त्यागता है ऐसा व्यवहार नयसे कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञाता परद्रव्यके साथ तन्मई नहीं होता। ॥ ३९२ ॥

गाथाः—जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ३९३ ॥

संस्कृतार्थः—यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन ॥ ३९३ ॥

शब्दार्थ सहित अर्थः—(जह) जैसे (सेटिया) सफेद मिट्टी (अप्पणो सहावेण) अपने ही सफेद स्वभावसे (परदव्वं) भींत आदि परद्रव्यको (सेटदिहु) सफेद करती है (तह) तैसे

(सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि जीव (सद्दावेन) अपने ही श्रद्धानरूप परिणामसे (परदव्वं सद्दहदि) जीवादि परद्रव्योंका श्रद्धान करता है ऐसा व्यवहार नयसे कहा जाता है पर वास्तवमें वह परद्रव्योंके साथ तन्मई नहीं होता ॥ ३९३ ॥

गाथाः—**एसो ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।**
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥ ३९४ ॥

संस्कृतार्थः—एषः व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥ ३९४ ॥

सामान्यार्थः—इसतरह व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रका निश्चय कहा गया। इसी तरह और पर्यायोंमें भी समझना चाहिये। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(एसो) इस प्रकार पूर्वमें कही हुई चार गाथाओंके द्वारा (ववहारस्स) व्यवहार नयसे (णाण दंसण चरित्ते) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका (विणिच्छओ) व्यवहारका अनुयायी व व्यवहार सम्बन्धी निश्चयरूप (भणिदो) कथन कहा गया (अण्णेसु पज्जएसु वि) और पर्यायोंमें भी (एमेव) इसी तरह (णादव्वो) जानना चाहिये। यह लाड्डू आदि मेरे द्वारा खाया गया, यह विष कंटक आदि मेरे द्वारा छोड़ा गया, यह घर आदि मेरेसे बनवाया गया यह सब व्यवहार नयसे कहा जाता है। निश्चयसे तो केवल अपना रागद्वेषरूप परिणाम ही किया गया और वही भोगा गया, इसी तरह और पर्यायोंमें भी निश्चय व्यवहार नयका विभाग जानना चाहिये। यहां पर कोई वादी पूर्व पक्ष करता है कि जो सर्वज्ञ व्यवहार नयसे परद्रव्यको जानते हैं तो निश्चयसे सर्वज्ञ नहीं हैं, इसका समाधान आचार्य करते हैं कि जैसे अपने आत्मीक सुख आदिको तन्मय होकरके जानते हैं तैसे बाह्य द्रव्यको नहीं जानते इस कारणसे कहा जाता है कि व्यवहार नयसे सर्वज्ञ जानते हैं, यदि दूसरोंके सुख आदिको अपने आत्मीक सुखके समान तन्मय होकर जानें तो जैसे अपने आत्मीक सुखके अनुभवमें सुखी होते हैं तैसे दूसरेके सुख दुःखके अनुभवके कालमें सुखी और दुःखी हो जावें सो ऐसा हो नहीं सक्ता, यद्यपि अपने आत्मीक सुखके अनुभवकी अपेक्षा निश्चय और परके सुख अनुभवकी अपेक्षा व्यवहार है तौ भी छद्मस्थ जनकी अपेक्षा सो ही निश्चय है, (क्योंकि छद्मस्थ सर्वज्ञ नहीं और केवली सर्वज्ञ हैं) यहां फिर शिष्यने कहा कि सौगत अर्थात् बौद्ध भी कहता है कि व्यवहारसे सर्वज्ञ है उसको दूषण क्यों दिया जाता है। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि बौद्ध आदिकोंके मतमें जैसे निश्चयकी अपेक्षा व्यवहार मिथ्या है वैसे व्यवहाररूपसे भी व्यवहार सत्य नहीं है। परन्तु जैनमतमें व्यवहारनय यद्यपि निश्चय नयकी अपेक्षासे मिथ्या है तौ भी व्यवहाररूपसे सत्य है। यदि लोक व्यवहार व्यवहाररूपसे भी सत्य न होय तो सर्व ही लोक व्यवहार मिथ्या हो जावे ऐसा होनेपर अति प्रसंग हो जाय, अर्थात प्रसंगसे बाहर हो जाय इससे यह

कहना ठीक है कि यह आत्मा व्यवहार नयसे परद्रव्योंको देखता जानता है, परन्तु निश्चयमें तो अपने ही आत्म द्रव्यको ही देखता और जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ब्रह्म अद्वैतवादी ऐसा कहते हैं कि ग्राम बाग आदि सर्व यह ब्रह्मरूप ज्ञेय पदार्थ कुछ भी नहीं है उनका निषेध है। तथा जो सौगत याने बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान ही घट, पट आदि ज्ञेयके आकाररूपसे परिणमता है ज्ञानसे भिन्न कोई भी ज्ञेय पदार्थ नहीं है उनका कथन भी निषेधा गया, क्योंकि यदि ज्ञान ज्ञेयरूपसे परिणमन करे तो ज्ञानका अभाव हो जाय, और यदि ज्ञेय पदार्थ ज्ञानरूपसे परिणमन करे तो ज्ञेयका अभाव हो जाय ऐसा होनेपर दोनोंको शून्यपना आजायगा यह प्रत्यक्षसे विरोध है। इसतरह निश्चय व्यवहारकी मुख्यतामें समुदायसे सातवें स्थलमें १० सूत्र पूर्ण हुए। भावार्थः—ऊपरके कथनका खुलासा यह है कि निश्चय नयसे प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्यत्वमें परिणमन करता है परद्रव्यके विषें परद्रव्य केवल निमित्त कारण है—उस निमित्तकी अपेक्षा एकको दूसरेका कर्ता कहा जाता है। सो ही कहा गया कि आत्मा शुद्ध दशामें अपने शुद्ध भावोंका कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध दशामें अपने अशुद्ध राग आदि भावोंका कर्ता और भोक्ता है। किसीने कहा कि मुझे लाडू खानेसे सुख भया सो सुख तो उसके उस राग भावके अनुभवसे हुआ जो उसने राग परिणति उस लाडूके खानेमें की, इसी तरह सर्वज्ञ भी निश्चयसे अपने स्व स्वरूपके ज्ञाता हैं उसीमें तन्मय हैं, उनका स्वभाव स्व पर ज्ञायक स्वरूप है इससे उनके ज्ञानमें सर्व ही ज्ञेय स्वयं झलकते हैं वह जगतको जानते हैं यह कहना व्यवहार है। इसीसे वह बात कही गई कि निश्चयमें आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्ररूप हैं ॥ ३९४ ॥

आगे उपदेश करते हैं कि निश्चय प्रतिक्रमण निश्चय प्रत्याख्यान निश्चय आलोचनामें परिणमन करनेवाला तपोधन अर्थात् मुनि अभेद निश्चय नयसे निश्चय चारित्ररूप होता है।

गाथाः—**कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।**
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ ३९५ ॥

संस्कृतार्थः—कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषं ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥ ३९५ ॥

सामान्यार्थः—जो पहले शुभ या अशुभ अनेक विस्ताररूप भेदको लिये हुए कर्म किये हों उससे जो अपने आत्माको हटाता है वह प्रतिक्रमणरूप है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जं पुव्व कयं) जो पहले बांधे गए या किये गए (सुह असुहं) शुभ या अशुभ (अणेयवित्थर विसेसं) मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदोंसे अनेक विस्तारको रखनेवाले (कम्मं) कर्म हैं (तत्तो) उन कर्मोंसे (जो दु) जो कोई इस लोक व परलोककी इच्छारूप अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व देखे, सुने, अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छारूप निदान बंध आदि सर्व पर

द्रव्योंके आलम्बनसे पैदा होनेवाले शुभ और अशुभ विकल्पोंसे रहित अर्थात् शून्य और विशुद्ध-ज्ञान दर्शन स्वभावमई आत्मीक तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप अभेद अर्थात् निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प परम समाधिसे पैदा होनेवाले वीतराग और सहज परमानंद स्वभावका सुख रसका आस्वाद रूप जो समरसी भाव अर्थात् समता भावसे पूर्ण भरे हुए ऐसे केवल ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टयको प्रकाश करनेवाले कार्य समयसारके उत्पन्न करनेवाले कारण समयसार अर्थात् कारणरूप शुद्धात्माके अनुभवमें ठहरकर (अप्पयं) अपने आत्माको (णियत्तदे) हटाता है (सो पडिक्कमणं) सो पुरुष अभेद नयसे निश्चय प्रतिक्रमण रूप होता है। भावार्थः—जो पुरुष सर्व पर द्रव्योंके आलम्बनसे रहित होकर व सर्व प्रकारकी इच्छाओंको रोक कर व्यवहार रत्नत्रयमें सावधान होता हुआ निश्चय रत्नत्रय जो कि वास्तवमें शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान, चारित्ररूप है और साक्षात् आत्मानुभव स्वरूप है उसमें ठहरे कर अपने शुद्ध आत्माको ध्याता है वह वास्तवमें निश्चय प्रतिक्रमणरूप है क्योंकि वह पूर्वमें बांधे हुए समस्त कर्मोंसे अपने रागको छोड़ देता है। निश्चय प्रतिक्रमणका यही स्वरूप है। व्यवहार प्रतिक्रमण गत दोषोंके दूर करनेके लिये उनका मननरूप व अपनी निंदारूप है पर निश्चय निज स्वभावमें तन्मय रूप है ॥ ३९९ ॥

आगे निश्चय प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं:—

गाथाः—**कम्मं जं सुहमसुहं जह्मिय भावेण वज्झदि भविस्सं।**
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवे चेदा ॥ ३९६ ॥

संस्कृतार्थः—कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्त्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥ ३९६ ॥

सामान्यार्थः—जो शुभ या अशुभ कर्म भविष्यमें जिस भावसे बंध होगा उससे जो कोई अपनेको हटाता है वह आत्मा प्रत्याख्यानरूप होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जं सुहम्) जो शुभ तथा (असुहं) अशुभ (कंमं) कर्म अनेक प्रकार (भविस्सं) आगामी कालमें (जह्मिय भावे) जिस मिथ्यात्त्व व रागद्वेष आदि परिणामोंके होते हुए (वज्झदि) बंध होता है (तत्तो) उस शुभ या अशुभ कर्मसे (जो) जो कोई अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख, अनंत वीर्य आदि स्वरूपमई आत्मद्रव्यके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, और अनुभवमई अभेद रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले परम सामायिक भावमें ठहरकर (णियत्तदे) अपनेको निर्वर्त्त करता है याने हटाता है (सो चेदा) वह चेतनेवाला तपोधन आत्मा ही (पच्चक्खाणं) अभेद नयसे निश्चय प्रत्याख्यान रूप (हवे) होता है। **भावार्थः**—यद्यपि व्यवहार नयसे आगामी दोषोंके न करनेकी प्रतिज्ञा ही व दृढ़ संकल्प ही प्रत्याख्यान है परन्तु निश्चयसे अपने शुद्ध आत्म स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान, तथा अनुभव जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप है वही प्रत्याख्यान है तथा जो पुरुष अर्थात् तपस्वी इस निश्चय प्रत्या-

ख्यानमें तन्मय होता है वह स्वयं प्रत्याख्यानरूप है। क्योंकि भाव और भाववानमें एकता है। ऐसा जानना ॥ ३९६ ॥

आगे निश्चय आलोचनाको कहते हैं:—

गाथाः—जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि स खलु आलोयणं चेदा॥ ३९७॥

संस्कृतार्थः—यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं।
तं दोषं यश्चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ३९७ ॥

सामान्यार्थः—जो शुभ या अशुभ अनेक प्रकारके उदयमें आए हुए वर्तमानके कर्मोंको अर्थात् इस वर्तमानके अपने दोषको जो कोई वेदता है, भले प्रकार जानता है या अनुभव करता है वह आत्मा वास्तवमें आलोचना स्वरूप है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जं) जो (संपडि) वर्तमानमें (उदिण्णं) उदयमें आए हुए (अणेय वित्थरविसेसं) अनेक विस्तारको लिये हुए मूल और उत्तर प्रकृतिरूपी (सुहं असुहं) शुभ और अशुभ कर्मोंको (तं दोसं) यह मेरा दोष है, मेरा निज स्वरूप नहीं है ऐसा (जो) जो (चेदा) कोई आत्मा नित्य आनंदमई एक स्वभावरूप शुद्ध आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव स्वरूप अभेद रत्नत्रयमें, अर्थात् सुख, दुःख, जीना, मरना आदिके सम्बन्धमें सब तरहसे उपेक्षा करनेवाले संयममें ठहरकर (वेददि) अनुभव करता है तथा जानता है (सो) वह ज्ञानी पुरुष ही (खलु) निश्चयसे (आलोयणं) अभेद नयके द्वारा विचारनेपर निश्चय आलोचना स्वरूप होता है ऐसा जानना योग्य है। **भावार्थः**—जो कोई वर्तमानमें उदय आए हुए कर्मोंको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे भिन्न अनुभव करता है तथा अपने अभेद रत्नत्रयमें तन्मय होता है उसीके निश्चय आलोचना होती है तथा भाव और भाववान प्रदेशोंकी अपेक्षा एक ही हैं इससे वह आलोचना करनेवाला मुनि स्वयं आलोचना स्वरूप है ॥ ३९७ ॥

आगे समुदायरूप गाथा कहते हैं—

गाथाः—णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो पडिक्कमदि।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा॥ ३९८॥

संस्कृतार्थः—नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यमपि यस्तु प्रतिक्रामति।
नित्यमालोचयति स खलु चारित्रं भवति चेतयिता ॥ ३९८ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई नित्य प्रत्याख्यान करता है, जो कोई नित्य ही प्रतिक्रमण करता है, व नित्य ही आलोचना करता है, वही निश्चयसे आत्मा चारित्ररूप है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जो हु) जो कोई निश्चय रत्नत्रय लक्षणको रखनेवाले शुद्ध आत्माके स्वरूपमें ठहरकर (णिच्चं) नित्य ही (पच्चक्खाणं) निश्चय प्रत्याख्यानको (कुणदि) करता

है व (णिच्चंपि) सर्व कालमें ही पड़िक्कमदि) निश्चय प्रतिक्रमण करता है तथा (णिच्चं) नित्य ही (आलोचेयदि निश्चय आलोचना करता है (सो चेदा हु वह चेतनेवाला आत्मा ही (चरित्रं हवदि) अभेद नयसे निश्चय चारित्ररूप होता है, क्योंकि शुद्ध आत्मीक स्वरूपमें चलना सो चारित्र है ऐसा आगमका वचन है। भावार्थः—शुद्ध आत्मस्वरूपका श्रद्धान ज्ञान करके जो अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन होता है। उसके निश्चयसे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना व चारित्र सर्व है। ॥ ३९८ ॥

इस तरह निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना तथा चारित्रको व्याख्यान करते हुए आठवें स्थलमें ४ गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे कहते हैं कि मिथ्याज्ञानमें परिणमन करता हुआ ही जीव पांच इन्द्रिय और मनके विषयोंमें राग और द्वेष करता है।

गाथाः—**णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।**
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३९९॥

संस्कृतार्थः—निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥ ३९९ ॥

सामान्यार्थः—निन्दा व स्तुतिके वचनरूप बहुत प्रकारके पुद्गल परिणमन करते हैं। उनको सुनकर अज्ञानी जीव यह समझता है कि वे वचन मुझे कहे गए ऐसा जान क्रोध करता है, तथा खुश होता है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(पोग्गला) पुद्गल द्रव्य अर्थात् भाषावर्गणारूप पुद्गलद्रव्य (बहुगाणि) नाना प्रकारके (णिंदिद संथुद वयणाणि) निन्दा और स्तुतिके वचनरूप (परिणमंति) परिणमन करते हैं। (ताणि सुणिऊण) उनको सुन करके (पुणो अहं भणिदो) फिर वे वचन मुझे कहे गए ऐसा समझ (रूसदि य तूसदि) अज्ञानी जीव रोष करता है और हर्षित होता है। वह अज्ञानी जीव वस्तुस्वरूपको नहीं पहचानता है। क्योंकि उसको निश्चय कारण समयसारका लाभ नहीं हुआ है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदिका भव ही पाना परंपरासे बहुत ही दुर्लभ है अर्थात् एकेन्द्रियसे त्रस होना अति कठिन है तो भी वह अज्ञानी जीव इन भवोंमें भ्रमण करता हुआ बीते हुए अनंतकालमें देखे, सुने, अनुभए मिथ्यात्त्व व विषय कषाय आदि विभाव परिणामोंके आधीन रहता है। इससे बड़ी कठिनतासे पाने योग्य काल आदि लब्धिके वशसे अर्थात् क्षयोपशम आदि लब्धियोंके वशसे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके तैसे ही चारित्र मोहनीयके उपशम, क्षयोपशम व क्षय होनेसे छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, ९ पदार्थ आदिकोंका श्रद्धान ज्ञान व रागद्वेषके त्यागरूप ऐसा भेदरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमई व्यवहार मोक्ष मार्ग नामके व्यवहार कारण समयसारको पाता है। फिर उसके द्वारा साधन योग्य विशुद्ध ज्ञान, दर्शन, स्वभावरूप शुद्ध आ-

त्मीक तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप अभेद रत्नत्रय मई निर्विकल्प समाधि-मई निश्चय कारण समयसारको पाता है जो कि केवलज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनंत चतुष्टयकी प्रकटतामई कार्य्य समयसारका पैदा करनेवाला है ॥

भावार्थः—अज्ञानी जीव व्यवहार व निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गको न पाता हुआ शब्दादिकोंको सुनके ऐसा समझता है कि यह मेरेको लग गए और उनसे कभी क्रोध करता है व कभी हर्षित होता है। ज्ञानी जीव व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्ग स्वरूप दो प्रकारके कारण समयसारको जान करके बाह्यके इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें राग और द्वेष नहीं करता है। शब्दोंको भी पुद्गलमई भाषा वर्गणाका कार्य समझता है। ज्ञानी जीव निज शुद्ध आत्म स्वरूपका यथार्थ श्रद्धानी रहता है इससे बाह्य इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको विचार समभाव रखता है। ॥ ३९९ ॥

आगे अज्ञानी जीवको फिर भी समझाते हैं।

गाथाः—**पोग्गलदव्वं सद्दुत्तह परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।**
तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससे अबुहो ॥४००॥

संस्कृतार्थः—पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वां भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुधः ॥ ४०० ॥

सामान्यार्थः-पुद्गल द्रव्य शब्दरूप परिणमन होता है यदि उसका गुण शुद्ध आत्मासे भिन्न है तब वह शब्द तुम्हें कुछ भी नहीं कहा गया। यह अज्ञानी जीव क्यों क्रोध करता है? **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(पुग्गल दव्वं) भाषा वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य (सद्दुत्तह परिणदं) 'तूसर' 'तूजी' इस तरहके निन्दारूप व स्तुति रूप शब्दोंकी अवस्थाको परिणमन होते हैं। (जदि) यदि (तस्स गुणो) उस पुद्गल द्रव्यका गुण (अण्णो) शुद्ध आत्माके स्वरूपसे भिन्न जड़रूप है तो फिर इस जीवका क्या बिगड़ा? कुछ भी नहीं बिगड़ा। यहां पर आचार्य उस अज्ञानी जीवको सम्बोधन करके कहते हैं, जो पूर्वमें कहे हुए प्रमाण व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसारसे रहित है। कि हे (अबुहो) अबुध बहिरात्मा जीव! क्योंकि निन्दा और स्तुतिके वचनरूप पुद्गलोंका परिणमन हुआ है (तह्मा) इसकारण (तुमं) तुमको (किंचिवि) कुछ भी (ण भणिदो) नहीं कहा गया है (किंरूससे) तू क्यों क्रोध करता है। **भावार्थः**—अज्ञानी बहिरात्मा जीव क्रोधादिके व निन्दाके वचन सुनके चित्तमें बुरा मानता है तथा क्रोध करता है उसको आचार्य समझाते हैं कि हे अज्ञानी जीव! तू निश्चयसे निन्दा व स्तुतिके शब्दोंके स्वरूपको विचार कर। तुझे प्रकट होगा कि इन शब्दोंकी पर्यायमें भाषावर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्यने परिणमन किया है और यह सर्व निश्चयसे जड़रूप हैं तेरे शुद्ध आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं। तू इनको अपने आत्मासे क्यों सम्बन्धित

करता है और कषायरूप परिणमन करता है। यदि तू उन शब्दोंको ग्रहणकर ऐसा न माने कि मेरी आत्माके लगे तो तुझे कषाय नहीं पैदा होगी ॥ ४०० ॥

फिर भी कहते हैं:

गाथा:—असुहो सुहोव सद्दो ण तं भणदि सुणसु मंति सो चेव।
णय एदि विणिग्गहिदुं सोदु विसयमागदं सद्दं ॥ ४०१ ॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणदि पेच्छ मंति सो चेव।
णय एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥ ४०२ ॥
असुहो सुहोय गंधो ण तं भणदि जिग्घ मंति सो चेव।
णय एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ॥ ४०३ ॥
असुहो सुहोय रसो ण तं भणदि रसय मंति सो चेव।
णय एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥४०४॥
असुहो सुहोय फासो ण तं भणदि फासमंति सो चेव।
णय एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥ ४०५ ॥

संस्कृतार्थः—अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥ ४०१ ॥
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपं ॥ ४०२ ॥
अशुभः शुभोवा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधं ॥ ४०३ ॥
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥ ४०४ ॥
अशुभः शुभोवा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ॥ ४०५ ॥

सामान्यार्थः—हे अज्ञानी जीव! शुभ या अशुभ शब्द तुमको यह नहीं कहता है कि तुम मुझे सुनो, और न वह शब्द तेरे द्वारा ग्रहण किये जानेके लिये आता है। शब्द श्रोत्र इन्द्रियका केवल विषयरूप होनेसे श्रोत्रमें आता है। शुभ या अशुभ रूप तुझको यह नहीं कहता कि तू मुझे देख और न वह रूप तेरेसे गृहण किये जानेके लिये आता है, रूप चक्षु इन्द्रियका विषय होनेसे चक्षुमें झलकता है। शुभ या अशुभ गंध तुझको यह नहीं कहती कि तू मुझे सूंघ और न वह गंध तेरे द्वारा ग्रहण किये जानेके लिये आती है। किन्तु गंध घ्राण इन्द्रियका विषय है इससे नासिका द्वारा मालूम होती है। अशुभ या शुभ रस तुझको यह नहीं कहता कि तू मेरा स्वाद ले और न वह रस तेरेसे ग्रहण किये जानेको आता है रस

रसना इन्द्रियका विषय है इससे रसनासे मालूम होता है। अशुभ या शुभ स्पर्श तुझको यह नहीं कहता कि तू मुझे स्पर्शन कर और न वह तेरेसे ग्रहण किये जानेके लिये आता है। स्पर्श शरीरका विषय है इससे काया द्वारा मालूम होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः— (असुहो) अशुभ (व) या (सुहो) शुभ (सद्दो) शब्द (तं) उस अज्ञानी जीवको (ण भणदि) नहीं कहता है कि (मंतिसुणसु मुझे सुनो (सोचे व) और वह शब्द (विणिग्गहिदुं ण एदि) तेरे द्वारा ग्रहण किये जानेके लिये नहीं आता है (सद्दं) शब्द (सोदु विसयम) श्रोत्र इन्द्रियका विषय रूप (आगदं) आता है। जैसा शब्दार्थ एकका वैसा अन्योंका भी जानना। विशेषार्थ सबका यह है— वही अज्ञानी जीव व्यवहार और निश्चय कारण समयसारसे रहित है इस से उसको और भी समझाते हैं—हे अज्ञानी! शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श मई मनोज्ञ या अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियोंके विषय तुझे यह कुछ भी नहीं कहते हैं कि हे देवदत्त मुझे सुन, मुझे देख, मुझे सूंघ, मेरा स्वाद ले, या मुझे स्पर्शन कर। यह बात सुनकर अज्ञानी फिर कहता है कि यह शब्द आदिक कर्ता होकर मुझे कुछ भी नहीं कहते हैं किन्तु मेरे कर्ण आदि इन्द्रियोंके विषयके ग्रहण करने योग्य स्थानोंमें आ जाते हैं। आचार्य उत्तर कहते हैं कि हे मूढ़, यह शब्द आदि पंचेन्द्रियोंके विषय तेरेसे पकड़े जानेके लिये नहीं आते हैं किन्तु यह विषय श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके अपने२ विषय भावको प्राप्त होते हैं क्यों कि यह वस्तुका स्वभाव है। अर्थात् श्रोत्र इन्द्रियका स्वभाव शब्द ग्रहण, चक्षुका रूप निरखन आदि इन्द्रियोंका जातीय स्वभाव है। इससे ये इन्द्रियां इन विषयोंको जानती हैं। अज्ञानी जीव इन्द्रियोंसे इनको ग्रहण करके इष्ट विषयोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष करता है इसीसे कर्मोंसे बंध जाता है। परंतु जो परम तत्त्वज्ञानी जीव है वह पूर्वमें कहे हुए व्यवहार और निश्चय कारण स्वरूप बाह्य और अभ्यंतर रत्नत्रयसे भरा हुआ इष्ट या अनिष्टशब्द आदि विषयोंके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण हो जानेपर उनमें राग और द्वेष नहीं करता है किन्तु अपने स्वरूपमें ठहरे हुए भावसे शुद्ध आत्माके स्वरूपका अनुभव करता है. यह तात्पर्य है। भावार्थः—अज्ञानी जीव इष्ट विषयोंको अपने जान उनमें रागद्वेष करता है किन्तु ज्ञानी विषयोंको इन्द्रियोंके द्वारा जानते हुए भी वस्तुके स्वरूपका विचार करता है, उनमें रागद्वेष नहीं करता है ॥ ४०१—४०२—४०३—४०४—४०५ ॥

जैसे अज्ञानी जीव पांचों इन्द्रियोंके सम्बन्धमें इष्ट या अनिष्ट संकल्पोंके आधीन होकर राग और द्वेष करता है तैसे ही पर द्रव्योंके जानने योग्य गुणों व जानने योग्य परद्रव्योंमें भी अर्थात् मन सम्बन्धी विषयोंमें भी राग और द्वेष करता है उस अज्ञानी जीवको फिर भी आचार्य संबोधन करके कहते हैं।

गाथाः—असुहो सुहोव गुणो ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥ ४०६॥

असुहं सुहं च दव्वं ण तं भणदि वुज्झमंति मो चेव।
णय एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥ ४०७ ॥

संस्कृतार्थः—अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥ ४०६ ॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
नचैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु द्रव्यं ॥ ४०७ ॥

सामान्यार्थः—पर वस्तुओंके शुभ या अशुभ गुण हे अज्ञानी जीव! तुझको नहीं कहते हैं कि तू मुझे जान और न वह गुण तेरे द्वारा ग्रहण किये जानेके लिये आता है। वह गुण अपनी बुद्धिके विषयमें मात्र ग्रहण होता है। ऐसे ही अशुभ या शुभ द्रव्य तुझको नहीं कहते कि तू मुझे जान और न वह द्रव्य तेरे द्वारा ग्रहण किये जानेके लिये आता है किंतु वह द्रव्य अपनी बुद्धिके विषयमें मात्र ग्रहण होता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—हे अज्ञानी जीव! दूसरेके शुभ या अशुभ गुण वा दूसरेके चेतन या अचेतन द्रव्य तुझको यह नहीं कहते हैं कि हे मन! या बुद्धि या हे अज्ञानी जनका चित्त तु मुझे जान। तब अज्ञानी जीव कहता है कि वे इसतरह नहीं कहते हैं परन्तु मेरे मनमें पर द्रव्योंके गुण व पर द्रव्य जानने मात्रके संकल्परूपसे स्फुरायमान होते हैं अर्थात् झलकते हैं। इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि पर द्रव्यका गुण व परका द्रव्य मनकी बुद्धिमें प्राप्त हुआ तेरे द्वारा ग्रहण किये जानेके लिये नहीं आता है किंतु मन द्वारा जाना जाता है क्योंकि ज्ञेय और ज्ञायकका सम्बन्ध कोई मेट नहीं सक्ता। इस हेतुसे जो रागद्वेष करना है सो अज्ञान है। परन्तु जो ज्ञानी है सो पूर्वमें कहे प्रमाण व्यवहार और निश्चय कारण-समयसारको जानता हुआ हर्ष और विषाद नहीं करता है। यह तात्पर्य है। भावार्थः—अज्ञानी जीव परके द्रव्योंको व गुणको जानता हुआ रागद्वेष करता है किंतु ज्ञानी अपने ज्ञानन स्वभावसे जानता तो है पर उनमें रागद्वेष नहीं करता है ॥४०६—४०७॥

फिर भी कहते हैं:—

गाथाः—एवं तु जाणि दव्वस्स उवसमेणेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्सय सयंच बुद्धिं सिवमपत्तो ॥ ४०८ ॥

संस्कृतार्थः—एवं तु ज्ञातद्रव्यस्य उपशमेनैव गच्छति मूढः ।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य तु स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥ ४०८ ॥

सामान्यार्थः—मूढ़ मिथ्यादृष्टी इसप्रकार पर द्रव्योंको जानकर भी शांत भावको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उसका मन पर वस्तुसे हटता नहीं है तथा उसको स्वयं भेदज्ञान रूप परमानंदकी प्राप्ति नहीं है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(एवंतु) इसतरह पूर्वमें कहे प्रमाण (जाणिदव्वस्स) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि पंचेन्द्रियोंके विषयरूप पर द्रव्योंके गुणोंको

व परके द्रव्योंको जो मनके द्वारा जानने योग्य हैं जानता हुआ अर्थात् उनका जैसा कुछ स्वरूप है उसको जान करके भी (मूढो) मूर्ख बहिरात्मा (परस्स णिग्गह मणा) उन पर रूप पंचेन्द्रिय और मनके विषयरूप शब्दादिकोंमें अपने राग सहित मनको नहीं रोकता हुआ (य) तथा (सयं बुद्धि) अपने शुद्धात्माके अनुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञानको (च) और (सिवम) वीतराग सहज परमानंदरूप सुखको (अपत्तो) नहीं पाताहुआ (उवसमे) उनमें उपशम या उदासीन या शांत भावको (णेव गच्छदे) निश्चयसे नहीं पाता है। तात्पर्य यह है जैसे चुम्बक पत्थरसे खींची हुई सुई अपने स्थानसे हटकर चुम्बक पत्थरके पास जाती है ऐसे यह शब्द आदि चित्तमें क्षोभ रूप विकार पैदा करनेके लिये जीवके पास नहीं जाते हैं, तथा जीव भी निश्चयसे उनके पास नहीं जाता है, परन्तु अपने ही स्थानमें अपने स्वरूपसे ही रहता है। इस प्रकार वस्तुका स्वभाव होने पर भी अज्ञानी जीव अपने उदासीन भावको छोड़ कर जो राग और द्वेष करता है सो केवल उसका अज्ञान है। भावार्थ:—जैसे चुम्बक पत्थर लोहेको खींचता है और वह खिंच जाता है इस तरह न तो पांचों इन्द्रियोंके विषय शब्दादि जीवसे खींचे जाते और न जीव खिंच करके जाता है। अर्थात् जैसे बलपूर्वक चुम्बक सुईको खींचता है ऐसे ये शब्दादि जीवको नहीं खींचते, इन्द्रियोंका स्वभाव जाननेका है सो वे अपने २ विषयको जानती हैं। ज्ञानी जानता हुआ मात्र ज्ञाता दृष्टा रहता है रागद्वेष नहीं करता है किन्तु अज्ञानी जीव मोह और अज्ञानके वशमें इष्ट विषयोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष करता है।

यहां पर शिष्यने प्रश्न किया कि पहले बंधके अधिकारमें आपने यह गाथा "णवणाणी सुद्धो णसयं परिणमदि रायमादीहिं" गहज्जदि अण्णेहिंदु सो रत्तादीहिं भावेहिं" कहकर ऐसा बताया कि रागादि भावोंका ज्ञानी कर्ता नहीं है किन्तु यह परद्रव्यसे पैदा होनेवाले भाव हैं तथा यहां आपने कहा कि अपनी ही बुद्धिके दोषसे रागादि भाव पैदा होते हैं दूसरोंका कोई दोष नहीं है सो इसतरह कथन करनेसे तो पूर्वापर विरोध नाम दोष आता है क्योंकि पहले कथनसे अबका कथन विरुद्ध है। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि वहां बंधके अधिकारके व्याख्यानमें ज्ञानी जीवकी मुख्यता है। ज्ञानी जीव रागादि भावोंमें नहीं परिणमन करता है इस लिये वहां इन भावोंको परद्रव्यसे पैदा होते हैं ऐसा कहा गया है—यहां अज्ञानी जीवकी मुख्यता है, अज्ञानी जीव अपनी ही बुद्धिके दोषसे परद्रव्यका निमित्त मात्र पाकर रागादि भावरूप परिणमन करता है इस कारणसे यह कहा गया है कि शब्द आदि जो पंचेन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थ हैं वे पर हैं उनका क्या दोष है। इस तरह अपेक्षाका विचार करनेसे पूर्वापर विरोध नहीं आसक्ता। ॥ ४०८ ॥

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग स्वरूप निश्चय कारण समयसार और व्यवहार कारण समयसार दोनोंको ही नहीं जानता हुआ अज्ञानी जीव अपनी ही अज्ञान बुद्धिके

दोषसे रागादिरूप परिणमन करता है इसमें शब्द आदि पर पदार्थोंका कोई दोष नहीं है इस तरहके व्याख्यानकी मुख्यतासे नवमें स्थलमें १० गाथाएं पूर्ण हुई।

आगे कहते है कि मिथ्यात्व व राग द्वेष आदि भावोंमे परिणमन करनेवाले जीवके अज्ञान चेतना होती है सो ही केवल ज्ञान आदि गुणोको आवरण करनेवाले कर्म बंधको पैदा करती है।—

गाथाः—वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि वंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४०९॥
वेदंतो कम्मफलं मयेकदं जो दु मुणादि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि वंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठ विहं ॥४१०॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि वंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४११॥

संस्कृतार्थः—वेदयमानः कर्मफलमात्मानं यस्तु करोति कर्मफलं।
स तत्पुनरपि वध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ४०९ ॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं यस्तु जानाति कर्मफलं।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ४१० ॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति चेतयिता।
स तत्पुनरपि वध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ४११ ॥

सामान्यार्थः—कर्मके फलको भोगता हुआ जो कोई उस कर्म फलको अपना कर लेता है अर्थात् तन्मय हो जाता है सो फिर भी दुःखके वीज ऐसे आठ तरहके कर्मोंको वांधता है। कर्मोंके फलको भोगता हुआ जो ऐसा जानता है कि यह कर्मका फल मेरे द्वारा किया गया सो फिर भी दुःखके वीज ऐसे ८ प्रकार कर्मोंको वांधता है। जो कोई आत्मा कर्मके फलको भोगता हुआ सुखी और दुःखी होता है सो फिर भी दुःखके वीज ऐसे ८ प्रकार कर्मोंको वांध लेता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—ज्ञान और अज्ञानके भेदसे चेतना दो प्रकारकी होती है एक ज्ञान चेतना दूसरी अज्ञान चेतना यहां पहले अज्ञान चेतनाका वर्णन करते हैं। (जोदु) जो कोई अज्ञानी जीव (कम्मफलं वेदंतो) उदयमें आए हुए शुभ या अशुभ कर्मका फल भोगता हुआ स्वस्थ भावसे भ्रष्ट होकर (कम्मफलं) उस कर्मके फलको (अप्पाणं मुणदि) मेरा ही कर्म फल है ऐसा मानता है अर्थात् उस कर्म फलके साथ तन्मय हो जाता है सो जीव (पुणोवि) फिर भी (दुक्खस्स वीयं) आगामी दुःख पैदा करनेका वीजभूत (तं अट्ठविहं) ज्ञानावरणीय आदि ८ प्रकार कर्मोंको (वंधदि) बांधता है। तथा (जोदु) जो कोई अज्ञानी जीव (कंमफलं वेदंतो) कर्मोंके फलको भोगता हुआ (कंमफलं) उस कर्मके फलको (मएकदं) मेरे द्वारा किया गया ऐसा (मुणदि) मानता है (सो पुणोवि) सो फिर भी (दुःखस्स वीयं अट्ठविहं तं वंधदि

दुःखोंका बीजरूप आठ प्रकार कर्म बांधता है। इन दो गाथाओंमें अज्ञान चेतना स्वरूप कर्म चेतनाका व्याख्यान किया गया कर्म चेतनाका क्या अर्थ है इसका उत्तर कहते हैं कि मेरा ही कर्म है या मेरे द्वारा किया गया कर्म है, इसतरहके अज्ञान भावसे जो इच्छा पूर्वक इष्ट या अनिष्टरूपसे मन, वचन, कायका व्यापार रागद्वेष रहित शुद्धात्माके अनुभवसे गिर करके करना सो नवीन कर्म बंधको करनेवाली कर्म चेतना कही जाती है। तथा (जो चेदा) जो कोई आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं अनुभव करता हुआ (कम्मफलं वेदंतो) उदयमें आए हुए कर्मोंके फलको भोगता हुआ (सुहिदो दुहिदो दु हवदि) इष्ट और अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंका निमित्त पाकर सुखी और दुःखी होता है (सो) वह जीव (पुणोवि) फिर भी (दुक्खस्स बीयं अट्ठविहं तं बंधदि) आगामी दुःखका कारणरूप आठ प्रकार कर्मोंको बांधता है। इस एक गाथामें कर्मफल चेतनाका वर्णन किया गया। कर्मफल चेतनाका क्या अर्थ है इसके उत्तरमें कहते हैं कि आत्मामें तल्लीनपनेके भावसे रहित हो अज्ञान भावसे यथासंभव प्रकट या अप्रकट स्वभावसे इच्छापूर्वक इष्ट या अनिष्ट विकल्प करते हुए हर्ष या विषादरूप सुख और दुःखका अनुभव करना सो बंधकी कारणभृत कर्मफल चेतना कही जाती है। यह कर्मचेतना या कर्मफल चेतना दोनों ही स्वरूप अज्ञान चेतना छोड़ने लायक है, क्योंकि कर्मबंधकी कारण है। भावार्थः—अज्ञान चेतनाके दो भेद हैं जो रागद्वेष सहित कर्मोंके उदयमें तन्मय होकर उस कर्मको अपना समझकर उसमें जो मन, वचन, कायका व्यापार है सो कर्मचेतना है तथा दुःखको और सुखको अनुभव करना सो कर्मफल चेतना है। इस कर्मफल चेतनाका अव्यक्त याने अप्रकट अनुभव अर्थात् जो हमको यकायक बाहरसे प्रकट नहीं होता सो एकेन्द्रिय जीवोंको होता है। शेष सबको दोनों चेतनाएं अज्ञान अवस्थामें होती हैं। क्योंकि यह विकल्प नवीन कर्म बंधका कारण है इससे छोड़ने लायक है ॥४०९–४१०–४११॥

आगे टीकाकार कहते हैं कि भेद विज्ञानी आत्मा इन दोनों कर्म चेतना और कर्म फल चेतनामेंसे पहले निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचनाका जो स्वरूप पूर्वमें कह चुके हैं उसमें लवलीन होकर शुद्ध ज्ञानकी चेतनाके बलसे कर्मचेतनाके सन्यास अर्थात् त्यागकी भावनाको अपनेमें नचाता है अर्थात् कर्म चेतनाके त्यागकी भावनाको कर्मोंके बंधको विनाश करनेके लिये इसतरह करता है—कि जो मैंने किया हो, जो मैंने कराया हो, जो मैंने दूसरे प्राणी द्वारा किये जाते हुए को अच्छा समझा हो मनसे, वचनसे और कायसे वह मेरा दुष्कृत अर्थात् अशुभ कर्म मिथ्या होहु यह १ भंग हुआ (१) तथा जो मैंने किया हो, जो मैंने कराया हो, जो मैंने दूसरे प्राणीसे किये जाते हुए की अनुमोदना की हो मनसे और वचनसे वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या होहु, यह पांचके संयोगसे मन, वचन कायोमेंसे एक २ बदलनेसे पांचके तीन भंग होंगे (३) इसतरह फैलानेसे ४९ भंग हो

जायँगे, अथवा उन्हींको ही सुखसे जाननेके लिये कहते हैं—कि करना, कराना, अनुमोदना इन तीनोंके अलग २ तीन भंग तो ये भए, करना और कराना, करना और अनुमोदना, कराना और अनुमोदना ऐसे दो दोके मिलके ३ भंग ये भए; करना, कराना और अनुमोदना इन तीनोंके संयोगसे एक भंग यह हुआ ऐसे ७ हुए इसीतरह मन, वचन और काय इन तीनोंके अलग २ तीन भंग, मन और वचन, मन और काय, वचन और काय ऐसे दोके संयोगसे तीन भंग ये हुए, तथा मन, वचन और काय तीनोंके संयोगका भंग १ हुआ ऐसे ७ भंग हुए, इन सातोंसे किया हो, कराया हो, करतेकी अनुमोदना की हो, तथा एक साथ करा और कराया हो, व एक साथ करा और अनुमति की हो, व एक साथ कराया और अनुमोदना की हो, तथा एक साथ करा हो, कराया हो व अनुमोदना की हो, इसतरह सातोंसे सात जगह किये जानेसे ४९ भंग केवल प्रतिक्रमणके हुए। भावार्थः-इस तरह ४९ तरहसे पाप होता है इसीसे ४९ तरहसे किये हुए दोषकी शुद्धिके लिये जो मनन करना सो प्रतिक्रमण है इसतरह मनन करनेसे भावोंमें निर्मलता होती है-कषाय मंद होती है जिससे पिछले बांधे हुए अशुभ कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग घट जाता है तथा उस समय बंध भी बहुत हलका होता है। इसतरह प्रतिक्रमण कल्प कहा गया। अब प्रत्याख्यान कल्प कहते हैं।

जो मैं करूंगा, जो मैं कराऊंगा, जो मैं दूसरे प्राणीको करते हुएको अनुमोदन करूंगा, अपने मन, वचन और कायसे वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो इस तरह छः के संयोगसे १ भंग हुआ (६) तथा जो मैं करूंगा, जो मैं कराऊंगा, जो मैं दूसरेको करते हुए अच्छा समझूंगा. मन और वचनसे वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो इसतरह पहिलेकी तरह एक २ घटानेसे पांच संयोगसे तीन भंग होंगे (५/३) इसी तरह पहले कहे प्रमाण ४९ भंग जानने चाहिये। ऐसा प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ।

अब आलोचना कल्पको कहते हैं—कि जो मैं कर रहा हूं, जो मैं करा रहाहूं, जो मैं दूसरे प्राणीको करते हुए अच्छा समझ रहा हूं मन, वचन और कायसे वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो, इसतरह छः का १ (६/१) हुआ—तथा जो मैं करता हूं, जो मैं कराता हूं, तथा जो मैं दूसरे प्राणीको करते हुए अच्छा समझ रहा हूं, मन और वचनसे वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या होहु इसतरह एक २ कम करनेसे ५ संयोगके भंग तीन होंगे—इसी तरह करनेसे ४९ भंग हो जायँगे ऐसे ४९ प्रकार आलोचना कल्प पूर्ण हुआ। भावार्थः—ज्ञानी जीवको प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाको उनचास उनचास भंगोंसे हरएककी भावना करनी चाहिये। कल्प, पर्व, परिच्छेद, अधिकार, अध्याय, प्रकरण इन शब्दोंके एक ही अर्थ हैं ऐसा जानना चाहिये। इसतरह निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना रूपसे शुद्ध ज्ञान चेतनाकी भावनाको कहते हुए दो गाथाओंके व्याख्यानसे कर्म चेतनाके त्यागकी

भावनाको पूर्ण किया, अब शुद्ध ज्ञान चेतनाकी भावनाके बलसे ज्ञानी जीव कर्मफल चेतनाके त्यागकी भावनाको नचाता है अर्थात् कर्मफल चेतनाको त्यागता हुआ ज्ञान चेतनाको धारण करता है-सो किस तरह भावना करे सो ही कहते हैं:—न मैं मतिज्ञानावरणीय कर्मका फल भोगता हूं तो फिर क्या करता हूं-शुद्ध चैतन्य स्वभावरूप आत्माको ही भले प्रकार अनुभव करता हूं। न मैं श्रुत ज्ञानावरणीय कर्मका फल भोगता हूं तो फिर करता हूं-शुद्ध चैतन्य स्वभावरूप आत्माको ही भले प्रकार अनुभव करता हूं। न मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्मका फल भोगता हूं-तो मैं क्या करता हूं-शुद्ध चैतन्य स्वभावरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। न मैं मन, पर्यय ज्ञानावरणीय कर्मका फल भोगता हूं-तो फिर क्या करता हूं-मैं शुद्ध चैतन्य स्वभावरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। न मैं केवल ज्ञानावरणीय कर्मका फल भोगता हूं तो मैं क्या करता हूं-शुद्ध चैतन्य स्वभावरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। इस प्रकार पांच तरहके ज्ञानावरणीय कर्मके फलके त्यागकी भावना कही। न मैं चक्षुदर्शना-वरणीय कर्मके फलको भोगता हूं-तो मैं क्या करता हूं, मैं शुद्ध चैतन्य स्वभावरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। इसतरहके क्रमसे इस नीचे लिखी गाथामें कहे प्रमाण १४८ उत्तर प्रकृतियोंके कर्मफलके त्यागकी भावनाको अपने भीतर नचाना चाहिये। गाथा—"पणाणवदु अट्ठवीसा, चउ तिय णउदीय दोण्णिते पंचेव। वावण्ण हीण विमया पयड़ि विणासेण होन्ति सिद्धा" यह किसी अन्य ग्रंथकी गाथा है अर्थात् ज्ञानावरणीयकी ५, दर्शनावरणीयकी ९, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकी ९३, गोत्रकी २ व अंतरायकी ५ ऐसे २००में ५२ कम याने १४८ कर्म प्रकृतियोंके नाश होनेसे जो होते हैं, उनको सिद्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि तीन जगत व तीन काल सम्बन्धी मन, वचन, काय, व कृत, कारित, अनुमोदनासे किये हुए, और अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ, व देखे, सुने, अनुभए हुए भोगोंकी इच्छारूप निदानबंध आदि समस्त परद्रव्योंके आलंबनसे होनेवाले ऐसे शुभ और अशुभ संकल्प और विकल्पोंसे रहित तथा चिदानंदमई एक सभावरूप शुद्ध आत्मीक तत्त्वके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, और अनुभवरूप अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि भावसे पैदा होनेवाला वीतराग और स्वभाविक परमानंदरूप सुख रसका आस्वाद सो ही है परम समरसी भाव उसके अनु-भवके आलंबनसे पूर्ण भरा हुआ और केवल ज्ञान आदि अनंत चतुष्टयरूप प्रकाशमान साक्षात् ग्रहण करने योग्य जो कार्य समयसार उसको उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो निश्चय कारण समयसार उसरूप शुद्ध ज्ञान चेतनाकी भावनामें ठहर कर मोक्षार्थी पुरुषको उचित है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतनाके त्यागकी भावनाको करे। भावार्थः—यह संसारी जीव संसार अवस्थामें कर्म चेतना व कर्मफल चेतनाके अनुभवमें पड़ा हुआ अज्ञान भावका निरन्तर अनुभव किया करता है जिससे कर्म बंधोंसे लिप्त होता हुआ अपने सुख रसके स्वादको

नहीं पाता है। उस जीवको आचार्य शिक्षा करते हैं कि हे भव्य जीव! तू अभेद रत्नत्रय स्वरूप जो कारण समयसाररूप मोक्षका मार्ग उसमें ठहर कर निरन्तर ज्ञान चेतनाकी भावना कर। निज ज्ञान चेतनाकी भावनाका करना ही कर्मफल और कर्म चेतनाके त्यागकी भावना है। अतएव परमानंदमई सुखको अपने हीमें भोगनेके इच्छुक पुरुषको प्रमाद त्याग निज ज्ञानानंदमय स्वभावका अनुभव करना परम उपादेय है यही एक सार वस्तु है।

इसतरह गाथा दो कर्म चेतनाके सन्यासकी भावनाकी मुख्यतासे और गाथा एक कर्मफल चेतनाके सन्यासकी भावनाकी मुख्यतासे वर्णन की इस १०वें स्थलमें ३ गाथाएं समाप्त हुईं।

अब यहां आगे उस परमात्म तत्त्वका प्रकाश करते हैं जो व्यवहार नयसे कहे हुए जीव आदि नव पदार्थोंके प्रपंचसे भिन्न है तौ भी टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा एक पारमार्थिक पदार्थ है तथा गद्य पद्य आदि विचित्र रचनासे रचे हुऐ शास्त्रोंसे व शब्द आदि पांचों इन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको आदि लेकर समस्त पर द्रव्योंसे शून्य है तौ भी रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित सदा आनंदमई एक लक्षणको रखनेवाले सुखामृत रसके आस्वादसे भरा हुआ है।

गाथाः—सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ४१२ ॥
सद्दो णाणं ण हवदि जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥ ४१३ ॥
रूवं णाणं ण हवदि जह्मा रूवं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥ ४१४ ॥
वण्णो णाणं ण हवदि जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥ ४१५ ॥
गंधो णाणं ण हवदि जह्मा गंधो ण याणदे किंचि।
तह्मा णाणं अण्णं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥ ४१६ ॥
ण रसो दु होदि णाणं जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंति ॥ ४१७ ॥
फासो णाणं ण हवदि जह्मा फासो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ ४१८ ॥
कम्मं णाणं ण हवदि जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥ ४१९ ॥
धम्मच्छिओ ण णाणं जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥ ४२० ॥
ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥ ४२१ ॥
कालोवि णत्थि णाणं जह्मा कालो ण याणदे किंचि।
तह्मा ण होदि णाणं जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं ॥४२२॥
आयासंपि य णाणं ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णायासं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥ ४२३ ॥
अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ ४२४ ॥
जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥ ४२५ ॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अज्झवंति बुहा ॥ ४२६ ॥

संस्कृतार्थः—शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना वदंति ॥ ४१२ ॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना वदंति ॥ ४१३ ॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना वदंति ॥ ४१४ ॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना वदंति ॥ ४१५ ॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित्।
तस्माज्ज्ञानमन्यदन्यं गंधं जिना वदंति ॥ ४१६ ॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो अचेतनो नित्यं।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना वदंति ॥ ४१७ ॥
स्पर्शो ज्ञानं न भवति यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना वदंति ॥ ४१८ ॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना वदंति ॥ ४१९ ॥
धर्मास्तिकायो न ज्ञानं यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना वदंति ॥ ४२० ॥
न भवति ज्ञानमधर्मास्तिकायो यस्मान्न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना वदंति ॥ ४२१ ॥
कालोऽपि नास्ति ज्ञानं यस्मात्कालो न जानाति किंचित्।

तस्मान्न भवति ज्ञानं यस्मात्कालोऽचेतनो नित्यं ॥ ४२२ ॥
आकाशमपि ज्ञानं न भवति यस्मान्न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्याकाशमन्यज्ज्ञानं जिना वदंति ॥ ४२३ ॥
अध्यवसानं ज्ञानं न भवति यस्मादचेतनं नित्यं ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥ ४२४ ॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥ ४२५ ॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं खु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयंति बुधाः ॥ ४२६ ॥

भावार्थ सहित सामान्यार्थः---(सत्थं) शास्त्र अर्थात् द्रव्य शास्त्र (णाणं) ज्ञान अर्थात् आत्माका ज्ञानोपयोग (ण हवदि) नहीं है (जह्मा) क्योंकि (सत्थं) शास्त्र (किंचि) कुछ भी (ण याणदे) नहीं जानता है। (तह्मा) इसलिये (णाणं) ज्ञान (अण्णं) अन्य है (सत्थं) शास्त्र (अण्णं) अन्य है (जिणावेंति) ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। आगेके शब्दार्थ इसीके समान हैं, इससे न लिखके केवल उनका अर्थ ही लिखा जाता है:--- शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानता है इस लिये ज्ञान अन्य है शब्द अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। रूपज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है, रूप अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ नहीं जानता है। इस लिये ज्ञान अन्य है, गंध अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। रस भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस कुछ नहीं जानता है। इसलिये ज्ञान अन्य है, रस अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ नहीं जानता है, इसलिये ज्ञान अन्य है, स्पर्श अन्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है, कर्म अन्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म द्रव्य कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है, धर्म द्रव्य अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। अधर्मास्तिकाय भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म द्रव्य कुछ नहीं जानता है। इसलिये ज्ञान अन्य है, अधर्म अन्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। काल द्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ नहीं जानता है, इससे ज्ञान अन्य है, काल अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। आकाश द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ नहीं जानता है इससे आकाश अन्य है, ज्ञान अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। रागादि अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये (शुद्ध निश्चय नयसे) ज्ञान अन्य है और रागादि भाव अन्य है। क्योंकि नित्य ही जाननेवाला है इसलिये जीव ही ज्ञायक है, यही ज्ञानी है ज्ञान ज्ञायक

या जाननेवालेसे जुदा नहीं है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान ही वास्तवमें सम्यग्दर्शन है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही द्वादशाङ्ग व १४ पूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म या अधर्म (पुण्य या पाप) हो जाता है तथा ज्ञान ही मुनि दीक्षा है, ऐसा बुद्धिमान पुरुष मानते हैं। इन गाथाओंमें भेद विज्ञान की भावनाका वर्णन है। इसीके लिये टीकाकार फिर भी कहते हैं कि द्रव्य शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इसलिये ज्ञान और श्रुतकी भिन्नता है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इससे ज्ञान और शब्दकी भिन्नता है। रूपज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है, इससे रूप और ज्ञानकी भिन्नता है, वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है, इससे ज्ञान और वर्णकी भिन्नता है। गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है, इससे ज्ञान और गंधकी भिन्नता है। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इससे रस और ज्ञान भिन्न २ हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इससे ज्ञान और स्पर्श भिन्न २ हैं, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि ज्ञान नहीं हैं क्योंकि अचेतन हैं, इससे ज्ञानसे कर्मोंकी भिन्नता है। धर्म्म द्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है, इससे ज्ञान और धर्म भिन्न २ हैं। अधर्म्म द्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है, इससे अधर्म और ज्ञानमें भिन्नता है। काल भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इससे ज्ञान और कालमें भिन्नता है। आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इससे ज्ञान और आकाशकी भिन्नता है। रागादि अध्यवसान शुद्ध निश्चय नयसे ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इससे ज्ञान (शुद्ध ज्ञान) अध्यवसानसे भिन्न है। इसीतरह ज्ञानका सर्व ही परद्रव्योंके साथ व्यतिरेकपना है यह निश्चयसे साधने योग्य है। वस्तुकी सिद्धि अन्वय व्यतिरेकसे यथार्थ होती है। सो जहां २ अजीवत्व है वहां २ ज्ञानपना नहीं है यह सिद्ध है ऐसे ही जीव ही एक ज्ञान रूप है क्योंकि चेतन है, इससे जीव और ज्ञानमें अव्यतिरेकपना अर्थात् अभिन्नता याने एकपना है अर्थात् जीवके साथ ज्ञानका अन्वयपना है। जीवका स्वभाव ही ज्ञानमय है इससे जीव और ज्ञानकी अभिन्नता किसी भी तरहसे शंका करने योग्य नहीं है। इसीतरह ज्ञान जीवकी भिन्न २ अवस्थाओंमें भी अभिन्न है इस बातके दिखलानेको कहा है कि ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंग पूर्व सूत्र है, ज्ञान ही धर्म या अधर्म रूप है, ज्ञान ही दीक्षा है इसीतरह ज्ञानका जीवकी पर्यायोंके साथ भी अव्यतिरेकपना याने अभिन्नपना है। अर्थात् कोई भी जीवकी पर्याय ऐसी नहीं है जहां ज्ञान न हो ऐसा निश्चयसे साधने योग्य है। इस प्रकार जीवका स्वभाव सर्व परद्रव्योंसे रहित होनेके कारणसे व सर्व दर्शन ज्ञान आदि जीवके निज स्वभावोंसे अभिन्न याने एक होनेके कारणसे अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषको दूर करता हुआ तथा अनादि विभ्रमका मूल जो धर्म और अधर्मरूप पर समय अपने शुद्ध आत्मासे भिन्न है उसमें नहीं। स्वयमेव मोक्षके मार्गको अपने आत्मामें ही परिणमन करता हुआ सम्पूर्ण विज्ञानके स्वरूप रूप स्वयमेव

पाकर त्याग और ग्रहणसे शून्य जो साक्षात् समयसार रूप परमार्थ शुद्ध ज्ञान है उसी एकको ही अपनेमें ठहरा हुआ देखना चाहिये।

ऐसा ही श्री अमृतचंद सूरिने कहा है:—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथ_ वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः।
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ ४२ ॥
उनमुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृत सर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जो अन्योंसे अलग है, आत्मामें निश्चल है, अपने वस्तु स्वभावको अलग रखनेवाला है, त्याग और ग्रहणसे शून्य है ऐसा जो निर्मल ज्ञान है वह उसी रूपमें आत्मामें ठहर गया, तथा जो मध्य, आदि और अन्तके विभागसे रहित स्वभावमें स्फुरायमान होती हुई प्रभासे चमकनेवाला शुद्ध ज्ञानका समूह ऐसी जिसकी महिमा है वह आत्मा नित्य उदय-रूप स्थिर होजाता है। जो अपनी सर्व शक्तिको संकोचे हुए पूर्ण आत्मा है उसका अपने आत्मस्वरूपमें जो धारण करना है इसीसे इस जगतमें मानो जो कुछ त्यागने योग्य था वह तो सर्वथा छोड़ दिया गया और जो ग्रहण करने योग्य था वह सब तरहसे ग्रहण कर लिया गया, तपश्चरण करता हुआ वह कौनसी नय है जिसमे उस सर्व दर्शन, संयम आदिको ज्ञान कहा है अन्य नहीं, इसका समाधान करते हैं कि मिथ्यादृष्टीसे लेकर क्षीण कषाय बारहवें गुणस्थान तक अपने २ गुणस्थानमें उस उसके योग्य अशुभ, शुभ, व शुद्ध उपयोग होता है उसीके साथ कहेजाने वाली अर्थात् उससे अविनाभूत प्रसिद्ध अशुद्ध निश्चय नय या अशुद्ध उपादानरूपसे नीच अवस्थाओंको भी ज्ञान कहा है इसीसे यह सिद्ध है कि शुद्ध परिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे व शुद्ध उपादान रूपसे जीव आदि व्यवहारमें कहे हुये नव पदार्थोंसे भिन्न आदि मध्य अंतसे रहित एक अखंड प्रकाशमयी अपना ही निरंजन सहज ही शुद्ध परम समयसाररूप व सर्व तरहसे उपादेयभूत जो शुद्ध ज्ञान स्वभाव शुद्ध आत्माका तत्त्व है, वही निश्चयसे श्रद्धान करने, जानने व ध्यावने योग्य है। ऐसा तात्पर्य है। **भावार्थः**—ज्ञान आत्माका असाधारण लक्षण है। यह जीव जाति सर्वमें पाया जाता है इससे अव्याप्ति नामा दोष नहीं है क्योंकि जो गुण एक जातिमें कुछमें पाया जावे कुछमें नहीं वहां अव्याप्ति दोष आता है। जीवका असाधारण लक्षण ज्ञान है क्योंकि यह जीव द्रव्यके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं पाया जाता इससे इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है यदि यह ज्ञान किसी भी जड़ द्रव्यमें पाया जाता तो यह दोष दूर नहीं होता—यह जीवमें है ऐसा स्वसंवेदन रूप अनुभव भी है इससे ज्ञान लक्षण विपरीत भी नहीं है इससे

तीनों दोषोंसे रहित ज्ञान जीवका असाधारण गुण है, यह ज्ञान शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा वीतरागरूप हैं। यही शुद्ध वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानका अनुभव करनेसे आत्माके संयमादि सर्व गुणोंका होना कहा जाता है। ऐसा ज्ञान सर्वसे भिन्न पर आप, आपरूप जो ज्ञानानंदमय परम वीतरागरूप है उसका श्रद्धान व ज्ञान करके उसीका मनन हितकारी है इस तरह व्यवहार नयसे जाने हुए नव पदार्थोंके मध्यमें सत्यार्थ जो शुद्ध निश्चय उसके द्वारा शुद्ध जीव ही एक वास्तवमें स्वरूपमें स्थिर होता है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे ११ स्थलमें १९ गाथाएं पूर्ण हुईं।

आगे कहते हैं कि मति आदि पांच ज्ञान तो पर्यायरूप हैं तथा शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। जीव पदार्थ न तो केवल द्रव्य है न पर्याय है किन्तु परस्पर अपेक्षासे द्रव्य और पर्यायों दोनों धर्मोंका आधारभूत धर्मी है। तब यहां यह विचारा जाता है कि पांच ज्ञानोंमेंसे किस ज्ञानके द्वारा मोक्ष होती है। केवलज्ञान तो केवल फलरूप है जोकि उत्पन्न होनेवाला है अवधि और मनःपर्यय ज्ञान दोनों रूपी मूर्तिक पदार्थको जानते हैं जैसा कि श्री तत्वार्थ सूत्रमें कहा है "रूपिष्ववधेः" तदनंतभागे मनः पर्ययस्य" इससे यह दोनों भी मोक्षके कारण नहीं हैं तब इस कथनके बलसे ही यह सिद्ध है कि बाह्य विषयोंके ज्ञानमें उलझे हुए मतिज्ञान श्रुतज्ञानके विकल्पोंसे-रहित अपने शुद्ध आत्माके सन्मुख होकर जानने रूपी लक्षणको रखनेवाले निश्चय निर्विकल्पभावरूप मन सम्बन्धी मति ज्ञान और श्रुतज्ञान सो ही मोक्षके कारण ज्ञान हैं। यह ज्ञान पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे परे रहनेसे अतीन्द्रिय हैं तथा शुद्ध पारिणामिक भावके सम्बन्धमें जो भावना उस रूप हैं व इनको विकार रहित स्वसंवेदन भी कहते हैं। संसारी जीवोंके विना तेरहवें गुणस्थानके क्षायिकज्ञान नहीं होता यद्यपि क्षायोपशमिक ज्ञान है तौभी विशेष भेद ज्ञानरूप है और यह मोक्षका कारण इसलिये है कि समस्त मिथ्यात्व व रागद्वेष विकल्पोंकी उपाधिसे रहित अपने शुद्धात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले परम आल्हादमई एक लक्षणको रखनेवाले सुखामृत रसके आस्वादरूप एक आकार परम समता रसमई भाव या परिणामके द्वारा कार्यभूत जो अनंत ज्ञान अनंत सुख आदि मोक्षका फल उसका एक देश शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध उपादान कारण है जैसा कि श्री अमृतचंद्रजीने कहा है। "भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन। तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धाये किल केचन" अर्थात् भेदज्ञानसे ही जितने सिद्ध होते हैं वे होते हैं तथा उस भेद विज्ञानके अभावमें जितने संसारमें बद्ध हैं वे बंधे पड़े हुए हैं। भावार्थ:—आत्मानुभवमें मनके द्वारा आत्माका गृहण व मनन होता है और यही भेद विज्ञान है तथा यही मोक्षका साधन है। इससे मनके द्वारा होनेवाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको मोक्षका साधन कहा है ऐसा जानना॥ २१२-२१३॥

आगे कहते हैं जब यह आत्मा ज्ञान स्वभाव है तब इसके शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्म तत्त्वके देह ही नहीं हो सक्ती जिससे यह आहारक होवे।

गाथाः—**अत्ता जस्स अमुत्तो णहु सो आहारओ हवदि एवं।**
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ दु ॥ ४२७ ॥

संस्कृतार्थः—आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥ ४२७ ॥

सामान्यार्थः—जिस शुद्ध नयसे आत्मा वास्तवमें अमूर्त्तिक है। तब ऐसा होनेपर वह आहारक नहीं है। आहार वास्तवमें मूर्त्तिक है क्योंकि वह असलमें पुद्गलमई है। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जस्स) जिस शुद्ध निश्चयनयके अभिप्रायसे (अत्ता) आत्मा (अमुत्तो) अमूर्त्तिक है (एवं) इसप्रकार रूप, रस, गंध, वर्णादिसे रहित होनेपर (सो) वह आत्मा (हु) वास्तवमें (आहारओ) आहारक अर्थात् पुद्गल कर्म वर्गणाओंको ग्रहण करनेवाला (ण हवदि) नहीं होसक्ता (आहारो) आहार अर्थात् पुद्गलकर्म वर्गणाका ग्रहण (खलु) वास्तवमें (मुत्तो) मूर्त्तीक है (जह्मा) क्योंकि (सो) वह नोकर्म आदिका आहार (दु) असलमें (पोग्गलमओ) पुद्गलमयी है—जड़रूप है ॥ ४२७ ॥

और भी कहते हैं।

गाथाः—**णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं।**
सो कोवि य तस्स गुणो पाउग्गिय विस्ससो वापि ॥४२८॥

संस्कृतार्थः—नापि शक्यते गृहीतुं यन्न मुंचति चैव यत्परं द्रव्यं।
स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्रसो वापि ॥ ४२८ ॥

सामान्यार्थः—ऐसा कोई भी उस आत्माका प्रायोगिक या स्वाभाविक गुण नहीं है जो कि पर द्रव्यको ग्रहण करनेमें व उसे त्यागनेमें समर्थ हो। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(सोकोविय) सो कोई भी (पाउग्गिय) प्रायोगिक याने कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला व (विस्ससो) स्वभावसे होनेवाला (तस्सगुणो) उस आत्माका गुण है (वापि) क्या? अर्थात् शुद्ध निश्चयनयसे आत्मामें कोई ऐसा गुण नहीं है जिससे वह आहारक है इसीसे कहते हैं कि (जे) जो कोई भी गुण (जं परदव्वं) उस परद्रव्य आहार आदिकको (णविघित्तुं णचेव मुंचिदं सक्कदि) ग्रहण करनेको व छोड़नेको समर्थवान नहीं होता है। इस पर शिष्यने कहा कि अहो भगवन्! कर्मोंके द्वारा प्रेरित होकर अर्थात् शरीर नामा नाम कर्मके उदयसे अपनी योगशक्तिमें परिणमन होनेसे यह संसारी आत्मा नोकर्म्म वर्गणादिको लेता हुआ कैसे अनाहारक हो सक्ता है?। इसका समाधान आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य, तुमने बहुत ठीक कहा परन्तु यह आत्मा निश्चय नयसे उस पुद्गलमई आहारमें तन्मयी नहीं होता है वह कथन व्यवहार नयसे है यहां पर शुद्ध निश्चय नयसे व्याख्यान किया गया है ॥ ४२८ ॥

और भी कहते हैं:—

गाथाः—तह्मा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिह्नदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाणदव्वाणं ॥ ४२९ ॥

संस्कृतार्थः—तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित्।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥ ४२९ ॥

सामान्यार्थ—इसलिये जो विशुद्ध आत्मा है सो पर जीव या अजीव द्रव्योंमें कुछ भी नहीं ग्रहण करता है और न कुछ भी छोड़ता है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(तह्मा दु) इसी कारणसे ही अर्थात् क्योंकि निश्चय नयसे आहारक नहीं है इससे (जो विसुद्धो चेदा) जो रागद्वेषादिसे रहित आत्मा है (सो) सो (जीवाजीव दव्वाणं) जीव और अजीव द्रव्योंमेंसे (किंचि) कोई भी आहार को (णेव गिह्नदे) नहीं ही गृहण करता है अर्थात् आहार छः प्रकारका है १ कर्मोंका आहार, २ नोकर्मोंका आहार, ३ कवलाहार याने ग्रासरूपसे भोजन, ४ लेप आहार याने स्पर्श मात्रसे आहार जैसे वृक्षोंके, ५ उष्माहार, गर्मीका आहार जैसे अंडोंके, ६ मनसे आहार, याने मानसिक आहार, जैसे देवोंके, इच्छा होते ही मन द्वारा तृप्ति हो जाती है इन छः प्रकारोंमेंसे किसी भी सचित्त या अचित्त आहारको नहीं लेता है (णेव) और न (किंचिवि) किसीको भी (विमुंचदि) छोड़ता है। इसीसे यह कहा गया है कि नोकर्म वर्गणाओंके ग्रहणसे बननेवाला शरीर जीवका स्वरूप नहीं है। शरीरका ही अभाव असल्में होनेपर शरीर सम्बन्धी जो द्रव्यलिंग मात्र है सो भी जीवका स्वरूप नहीं है। इसप्रकार निश्चयसे जीवके आहार नहीं है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे १२वें स्थलमें तीन गाथाएं कहीं।

आगे कहते हैं कि विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी परमात्माके कर्म आदि आहारके न होते हुए आहारमई देह नहीं है। देहके अभावमें देहमई द्रव्यलिंग अर्थात् शरीरका भेष है सो निश्चयसे मोक्षका कारण नहीं है।

गाथाः—पाखंडियलिंगाणि य गिहलिंगाणिय बहुप्पयाराणि।
धित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥ ४३० ॥

संस्कृतार्थः—पाखंडिलिंगानि च गृहलिंगानि च बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदंति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥ ४३० ॥

सामान्यार्थः—पाखंडी साधुके बाह्य चिन्ह या भेष तथा नाना प्रकारके गृहस्थके भेष धारण करके मूढ़ पुरुष ऐसा कहते हैं कि यह लिंग या भेष ही मोक्षका मार्ग है। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(पाखंडी लिंगाणि) पाखंडी साधुओंके भेष (बहुप्पयाराणि) और बहुत तरहके (च गिह लिंगाणि) गृहस्थियोंके भेष (धित्तुं) गृहण करके (मूढा) रागद्वेष आदि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित परम समाधिरूप भाव लिंगको नहीं जानते व नहीं अनुभव करते हुए मूढ़ मिथ्यादृष्टी (इणंलिंगं) यह द्रव्य लिंग ही (मोक्खमग्गोत्ति वदंति) मोक्षका मार्ग

है ऐसा कहते हैं। भावार्थ—जैन मुनिका वाह्य नग्न भेष व अन्य पाखंडी साधुके नाना प्रकारके भेष तथा गृहस्थोंके क्षुल्लक ऐलक आदिकोंके भेष मात्र केवल मुक्तिके साधक नहीं हैं, जब तक भावलिंग अर्थात् आत्मानुभव न हो तब तक यह भेष कार्य्यकारी नहीं हैं तथापि कोई २ मूढ़ आग्रह करके एकान्तसे इन बाह्य चिन्होंको ही मोक्ष मार्ग मान बैठते हैं॥ ४३०॥

उन्हींके लिये आचार्य फिर कहते हैं:—

गाथाः—णय होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति॥ ४३१॥

संस्कृतार्थः—न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममका अर्हंतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते॥ ४३१॥

सामान्यार्थः—लिंगमात्र मोक्षका मार्ग नहीं है क्योंकि देहके ममत्त्व रहित अर्हंत लिंगका ममत्त्व छोड़ करके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी सेवा करते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(लिंगं) भाव लिंगसे रहित केवल द्रव्यलिंग (मोक्खमग्गो) मोक्षका मार्ग (णय-होदि) नहीं हो सकता है (जं) क्योंकि (देहणिम्ममा) देहके ममत्त्वसे रहित (अरिहा) अर्हंत भगवान (लिंगं) लिंगका आधार जो शरीर उस शरीरसे जो ममत्त्व उसको (मुइत्तु) मन, वचन, कायसे छोड़ करके फिर (दंसणणाण चरित्ताणि) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी सेवा या भावना करते हैं। भावार्थः-निश्चय रत्नत्रयमई आत्मीक भावना या आत्मानुभव या आत्मामें तल्लीनता जिस परिणाममें होती है वह परिणाम अवश्य देह आदि पर वस्तुओंके ममत्त्वसे रहित होता है यदि देहसे ममत्त्व रहे तो आत्माधीन ध्यान हो नहीं सकता क्योंकि वास्तवमें यही निश्चय रत्नत्रय मोक्षका साधन है, अतएव बाह्य देह व उसका भेष केवल निमित्त कारण मात्र है। निश्चय उपादान कारण आत्माका परिणाम ही है सो ही यहां दिखलाया है॥ ४३१॥

आगे इसी व्याख्यानको और भी दृढ़ करते हैं—

गाथाः—णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति॥ ४३२॥

संस्कृतार्थः—नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदंति॥ ४३२॥

सामान्यार्थः—पाखंडी लिंग व गृहस्थीके लिंग मात्र होना यह मोक्षका मार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र इन तीनोंकी एकता ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः-(पाखंडि गिहमयाणि लिंगाणि) निर्विकल्प समाधिरूप भाव लिंगसे निरपेक्ष अर्थात् रहित जो पाखंडी साधुओंके व गृहस्थियोंके भेष हैं जैसे निर्ग्रन्थ

नग्न दिगम्बररूप व कोपीन मात्र ऐलक श्रावकका लिंग यह सर्व ही भेष (ण्हु मोक्खमग्गो णवि) वास्तविक मोक्ष मार्ग नहीं है (जिना) जिनेन्द्र भगवान (दंसणणाणचरित्ताणि) शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप ही जो परमात्म तत्त्व है उसका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और अनुभव रूप जो अभेद निश्चय रत्नत्रय स्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है उसको (मोक्खमग्गं) मोक्षका मार्ग (विंति) कहते हैं। भावार्थः—निश्चयसे शुद्धात्मतत्त्वका अभेद रत्नत्रय स्वरूप अनुभव ही मोक्षका मार्ग है। केवल मुनि या श्रावक लिंग मात्र नहीं। यह बाह्य लिंग तो केवल निमित्त मात्र है ॥ ४३२ ॥

आगे इसी मोक्ष मार्गकी सेवाका उपदेश करते हैं:—

गाथाः—जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहि वा गहिदं।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४३३ ॥

संस्कृतार्थः—तस्मात् हित्वा लिंगानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥ ४३३ ॥

सामान्यार्थः—इसलिये गृहस्थ व यती जनोंके द्वारा ग्रहण किये हुए द्रव्य लिंगोंका अर्थात् उनके ममत्त्वका त्याग करके सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र स्वरूप निश्चय रत्नत्रयमई मोक्ष मार्गमें अपनेको लगाओ। शब्दार्थ सहित विशेषार्थः—(जह्मा) इसलिये (सागारणगारि एहिवा) विकार रहित स्वसंवेदन रूप भाव लिंगके विना सागार अर्थात गृहस्थी श्रावकों द्वारा वा अनगार अर्थात् मुनियोंके द्वारा गृहण किये हुए (लिंगो) बाहरी आकाररूप द्रव्य लिंगोंको अर्थात् उनके मोहको (जहत्तु) त्याग करके (दंसण णाण चरित्त मोक्ख पहे) केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय स्वरूप शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान, उसका यथार्थज्ञान व उसका यथार्थ अनुभवन व चारित्ररूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षके मार्गमें (अप्पाणं जुंज) हे भव्य! तू अपने आत्माको योजन कर अर्थात् अपने आपको तन्मय कर। भावार्थः—उपादान स्वरूप अभेद रत्नत्रय मई मोक्ष मार्गमें तन्मयता करना ही भव्य जीवका यथार्थ मोक्षमार्ग है। बाह्य मोह छोड़ उसमें तल्लीनता ही कर्मोंसे जीवको छुड़ानेवाली है ॥४३३॥

आगे कहते हैं कि निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्माका अनुभव लक्षण मोक्षमार्ग मोक्षके अर्थी पुरुषके द्वारा सेवने योग्य है

गाथाः—मुक्खपहे अप्पाणं ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं माविहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४३४ ॥

संस्कृतार्थः—मोक्षपथे आत्मानं स्थापय वेदय ध्यायस्व तं चैव।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥ ४३४ ॥

सामान्यार्थः—मोक्षके मार्गमें आत्माको स्थापितकर, उसीका अनुभव कर तथा उसीका ही ध्यानकर तथा उसीमें ही नित्य विहारकर, अन्य द्रव्योंमें विहार मतकर ॥ शब्दार्थ सहित

विशेषार्थ—हे भव्य ! (अप्पाणं) अपने आत्माको (मुक्खपहे) विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप आत्मतत्वका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, और आचरणरूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षके मार्गमें (ठवेहि) स्थापितकर अर्थात् औरोंसे हटाकर निज स्वरूपमें आपको धारणकर, (वेदयहि) उसी ही मोक्षके मार्गको चेत अर्थात् अपने परम समता रसमई भावसे अनुभवकर (तं चेव झायहि) तथा उसीका ही ध्यानकर अर्थात् बिकल्परहित समाधिमें ठहरकर उसीकी भावनाकर (तत्थेव) तथा उसी ही स्वरूपमें ही (णिच्चं) सर्वकाल (विहर) विहारकर या वर्त्तनकर या निज स्वरूपमई परिणति कर। (अण्णदव्वेसु) अपने शुद्धात्मासे भिन्न देखे, सुने, अनुभए हुए भोगोंकी इच्छारूप निदानबंध आदि पर द्रव्योंके आलम्बनसे होनेवाले शुभ और अशुभ संकल्प और विकल्पोंमें (मा विहरसु मत विहार कर, मत जा, मत परिणति कर ॥

भावार्थः—आचार्य शिष्यको प्रेरणा करके कहते हैं कि तू यदि मोक्षका इच्छुक है तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्गमें ठहरकर उसीका ध्यानकर उसीका अनुभव कर। जिसको ध्यावेगा वैसा हो जायगा ॥ ४३४ ॥

आगे कहते हैं जो स्वभावसे शुद्ध परमात्माके अनुभव रूपी लक्षणको रखनेवाले भावलिंगसे रहित होकर द्रव्यलिंगमें ममता करते हैं वे अभी समयसारको नहीं जानते हैं।

गाथाः—**पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।**
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ॥ ४३५ ॥

संस्कृतार्थः—पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वंति ये ममतां तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥ ४३५ ॥

सामान्यार्थः—जो साधुओंके बाह्य भेषोंमें व नानाप्रकार गृहस्थीके भेषोंमें ममता करते हैं उन्होंसे समयसार याने शुद्धात्मा नहीं जाना गया। **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—(जे) जो कोई वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान लक्षणमई भावलिंगसे रहित (पाखंडि लिंगेसु व बहुप्पयारेसु गिहलिंगेसु) निग्रन्थ रूप पाखंडी द्रव्यलिंगोंमें व नानाप्रकारके कोपीन आदि चिन्होंको रखनेवाले गृहस्थके लिंगोंमें (ममत्तिं कुव्वंति) ममता करते हैं (तेहिं) उन जीवोंसे (समयसारं) तीन जगत व तीन कालसम्बन्धी अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ, व मिथ्यात्त्व, काम, क्रोध आदि समस्त परद्रव्योंके आलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले शुभ और अशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित या शून्य, तथा चिदानंदमई एक स्वभावरूप शुद्धात्मतत्वका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप अभेद रत्नत्रयमई विकल्परहित समाधिसे उत्पन्न वीतराग सहज अपूर्व परमा—ल्हादरूप सुखरसका अनुभवमई परम समतारसके भाव सम्बन्धी परिणामसे उसीके आलम्बन सहित पूर्ण कलशकी तरह भरा हुआ—और केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टयकी प्रकटतारूप साक्षात् उपादेय भूत कार्य समयसारका

उत्पन्न करनेवाला जो कोई निश्चय कारण समयसार है सो (ण णादं) नहीं जाना गया। भावार्थः—जो अज्ञानी केवल साधु व गृहस्थके बाह्य भेषोंमें मोह करते हैं और अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानकर उसका अनुभव नहीं करते हैं वे समयसार ग्रंथको पढ़ते हुए भी अज्ञानी हैं—उन्होंने शुद्धात्मतत्त्वके सारको नहीं पहचाना है ॥४३५॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारनय शुद्धात्माका अनुभवमई लक्षणको रखनेवाले भावलिंगके साथ २ निर्ग्रन्थ यतिका नग्न परिग्रह रहित भेष व कोपीन धरना आदि नानाप्रकार गृहस्थीके लिंगको अर्थात् भाव लिंग और द्रव्यलिंग दोनोंको ही मोक्षमार्ग मानते हैं परंतु निश्चय नय सर्व ही द्रव्य लिंगोंको नहीं मानती हैः—

गाथाः—ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे
णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४३६॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयस्तु नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४३६ ॥

सामान्यार्थः—व्यवहार नय मोक्षमार्गमें द्रव्य और भाव दोनोंही लिंगोंको कहती है परंतु निश्चय नय मोक्ष मार्गमें सर्व लिंगोंको नहीं चाहती है। (पुण) तथा (ववहारिओणओ) यह व्यवहार नय (दोण्णिवि लिंगाणि) दोनों ही द्रव्य और भावरूप लिंगोंको (मोक्खपहे) मोक्षका मार्ग (भणदि) कहती है क्योंकि निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणमई भावलिंगका द्रव्यलिंग बाहरी सहकारी कारण है। (णिच्छय णओदु) परंतु निश्चय नय या निश्चयमें आरूढ़ ज्ञानी (मोक्खपहे) मोक्ष मार्गमें (सव्वलिंगाणि णिच्छदि) निर्विकल्प समाधिरूप मन, वचन, कायकी गुप्तिके बलसे मैं निग्रन्थ लिंगी हूं या कोपीनधारक हूं इत्यादि सर्व लिंग सम्बन्धी विकल्पोंको उसी तरह नहीं चाहता जैसे रागद्वेष आदि विकल्पोंको नहीं चाहता। क्योंकि वह स्वयं निर्विकल्प समाधिमई स्वभावको रखनेवाला है। यहां आचार्य शिष्यको सम्बोधन करके कहते हैं कि अहो शिष्य! "पाषंडी लिंगाणिय" इत्यादि सात गाथाओंके द्वारा द्रव्यलिंग सर्वथा निषेध ही किया गया है ऐसा तुम मत जानो। किन्तु इन गाथाओंके द्वारा उन साधुओंको खास तौरसे कहा गया है जो निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंगसे रहित हैं। इसतरहसे कहा गया कि हे तपोधन! द्रव्यलिंग मात्र हीसे सन्तोष मत करो किन्तु इस द्रव्यलिंगके आधारसे निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप भावना करो। यहां पर तुम फिर यह शंका कर सक्ते हो कि ऐसा जो आपने कहा कि द्रव्यलिंगका निषेध नहीं किया सो आपकी कल्पना है, इस ग्रंथमें तो यह लिखा ही है कि 'णयहोदि मुक्खमग्गो लिंगं' लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है इत्यादि। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है 'णयहोदि मुक्खमग्गो लिंगं' इत्यादि वचनसे भावलिंगसे रहित द्रव्यलिंगका निषेध किया गया है किन्तु

भावलिंग सहित द्रव्यलिंगका निषेध नहीं । क्योंकि द्रव्यलिंगका आधारभूत जो यह देह है उसकी ममताका निषेध किया गया है द्रव्यलिंगका निषेध नहीं किया गया है । क्योंकि पहले मुनि दीक्षाके समयमें सर्व परिग्रहका ही त्याग किया गया है परंतु देहका नहीं किया गया, क्योंकि देहके आधारसे ध्यान, ज्ञान और चारित्र होता है तथा जैसे और परिग्रहको अपनेसे अलग कर सकते हैं इस तरह देहको अलग नहीं कर सकते तथा वीतराग स्वरूप ध्यानके समयमें तो मेरी देह है मैं लिंग धारीहूँ इत्यादि विकल्प व्यवहार नयसे भी नहीं करने चाहिये । यदि कहोगे कि देहसे ममता त्याग करानेका ही अभिप्राय है ऐसा कैसे जाना गया तो उसके लिये यह कहना है कि "जंदेह णिम्ममा अरिहा दंसणणाण चरित्ताणि सेवंते" अर्थात् क्योंकि देहकी ममतासे रहित अर्हंत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी सेवा करते हैं इत्यादि पूर्वमें कहे हुए वचनसे प्रकट है । जैसे धान्यके बाहरका छिलका रहते हुए अंतरंगके तुप या छिलकेका त्याग नहीं किया जासकता । परन्तु जो अंतरंगका तुप छुड़ाया जायगा तो नियमसे बाहरका छिलका हटाना ही होगा इसी ही तरह सर्व परिग्रहका त्यागरूप बाहरी लिंग या भेष होते हुए भाव लिंग हो वा न हो नियम नहीं है परंतु अभ्यंतर भाव लिंग होते हुए सर्व संगका त्यागरूप द्रव्यलिंग होना ही चाहिये। शिष्यने कहा कि हे भगवन्! भावलिंग होते हुए बाहरी द्रव्यलिंग हो वा न हो नियम नहीं है क्योंकि ऐसा कहा भी है कि "साहारणा साहारणे" (यह वाक्य कहांका है सो समझमें नहीं आया) इसका आचार्य्य समाधान करते हैं कि इसका भाव यह है कि कोई तपस्वी ध्यानमें आरूढ़ बैठा हो या खड़ा हो उस समय कोई भी दुष्ट अपने भावोंसे वस्त्र लपेट देवे व आभरण आदि पहना देवे तौ भी वह साधु निर्ग्रंथ ही है क्योंकि उसने वस्त्र या आभूषणोंमें बुद्धिपूर्वक ममत्व नहीं किया है जैसे कि पांडवादिने तथा जो दो घड़ीमें ही मोक्ष गए ऐसे भरत चक्रवर्त्ती आदि हो गए हैं वे भी निर्ग्रंथ रूपसे ही मोक्ष गए हैं । यद्यपि थोड़ा काल होने पर उनके परिग्रहके त्यागकी बात लोग नहीं जानते हैं । इस तरह भावलिंगसे रहित साधुओंके लिये केवल द्रव्यलिंग—बाहरी भेष मोक्षका कारण नहीं होसकता तौ भी जो भावलिंग सहित हैं उनके लिये यह द्रव्यलिंग सहकारी कारण है इसतरह व्याख्यानकी मुख्यतासे १२वें स्थलमें सात गाथाएं पूर्ण हुई । भावार्थ—बाह्य मुनिका दिगम्बर भेष मुनिके चारित्रका व कोपीन चद्दर आदिका ऐलक व क्षुल्लकका भेष श्रावकके चारित्रका बाह्य सहकारी कारण है विना निमित्तके उपादान शक्ति होने पर भी वस्तु अपने फलको नहीं दिखला सकती । भावलिंग अर्थात् शुद्धात्माका अनुभव तो मोक्षका उपादान साधन है। और द्रव्यलिंग निमित्त कारण है । जैसे अशुद्ध सुवर्णमें शुद्ध होनेकी शक्ति होने पर भी बाह्य निमित्त अग्नि व मसाला आदिका निमित्त न मिलाया जाय तो वह शुद्ध नहीं होसक्ता इसीतरह जब

उत्पन्न करनेवाला जो कोई निश्चय कारण समयसार है सो (ण णादं) नहीं जाना गया। भावार्थः—जो अज्ञानी केवल साधु व गृहस्थके बाह्य भेषोंमें मोह करते हैं और अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानकर उसका अनुभव नहीं करते हैं वे समयसार ग्रंथको पढ़ते हुए भी अज्ञानी हैं—उन्होंने शुद्धात्मतत्त्वके सारको नहीं पहचाना है ॥४३५॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारनय शुद्धात्माका अनुभवमई लक्षणको रखनेवाले भावलिंगके साथ २ निर्ग्रन्थ यतिका नग्न परिग्रह रहित भेष व कोपीन धरना आदि नानाप्रकार गृहस्थीके लिंगको अर्थात् भाव लिंग और द्रव्यलिंग दोनोंको ही मोक्षमार्ग मानते हैं परंतु निश्चय नय सर्व ही द्रव्य लिंगोंको नहीं मानती हैः—

गाथाः—ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे
णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४३६॥

संस्कृतार्थः—व्यवहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयस्तु नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४३६ ॥

सामान्यार्थः—व्यवहार नय मोक्षमार्गमें द्रव्य और भाव दोनोंही लिंगोंको कहती है परंतु निश्चय नय मोक्ष मार्गमें सर्व लिंगोंको नहीं चाहती है। (पुण) तथा (ववहारिओणओ) यह व्यवहार नय (दोण्णिवि लिंगाणि) दोनों ही द्रव्य और भावरूप लिंगोंको (मोक्खपहे) मोक्षका मार्ग (भणदि) कहती है क्योंकि निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणमई भावलिंगका द्रव्यलिंग बाहरी सहकारी कारण है। (णिच्छय णओदु) परंतु निश्चय नय या निश्चयमें आरूढ़ ज्ञानी (मोक्खपहे) मोक्ष मार्गमें (सव्वलिंगाणि णिच्छदि) निर्विकल्प समाधिरूप मन, वचन, कायकी गुप्तिके बलसे मैं निग्रन्थ लिंगी हूं या कोपीनधारक हूं इत्यादि सर्व लिंग सम्बन्धी विकल्पोंको उसी तरह नहीं चाहता जैसे रागद्वेष आदि विकल्पोंको नहीं चाहता। क्योंकि वह स्वयं निर्विकल्प समाधिमई स्वभावको रखनेवाला है। यहां आचार्य शिष्यको खुलासा करके कहते हैं कि अहो शिष्य! "पाषंडी लिंगाणिय" इत्यादि सात गाथाओंके द्वारा द्रव्यलिंग सर्वथा निषेध ही किया गया है ऐसा तुम मत जानो। किन्तु इन गाथाओंके द्वारा उन साधुओंको खास तौरसे कहा गया है जो निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंगसे रहित हैं। इसतरहसे कहा गया कि हे तपोधन! द्रव्यलिंग मात्र हीसे सन्तोष मत करो किंतु इस द्रव्यलिंगके आधारसे निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप भावना करो। यहां पर तुम फिर यह शंका कर सक्ते हो कि ऐसा जो आपने कहा कि द्रव्यलिंगका निषेध नहीं किया सो आपकी कल्पना है, इस ग्रंथमें तो यह लिखा ही है कि 'णयहोदि मुक्खमग्गो लिंगम्' लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है इत्यादि। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है 'णयहोदि मुक्खमग्गो लिंगं' इत्यादि वचनसे भावलिंगसे रहित द्रव्यलिंगका निषेध किया गया है किन्तु

जीव दर्शन मोह और चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम, या क्षयका लाभ करता है और वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन रूपसे परिणमन करता है तब इसके शुद्धता होती है सोही शुद्धता औपशमिक, क्षयोपशमिक, व क्षायिक तीन भाव सम्बन्धी मुख्यतासे और परिणामिक भाव सम्बन्धी गौणतासे होती है। तथा शुद्ध पारिणामिक भावके बंध और मोक्षके कारणका रहितपना है सो पंचास्तिकायकी व्याख्यामें इस श्लोकसे कहा गया है।

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिक क्षायिकाविधाः
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणमिकः

अर्थात् औपशमिक, क्षयोपशमिक व क्षायिक भाव मोक्षको करते हैं, औदयिक भाव बंधको करता है तथा परिणामिक भाव क्रिया रहित है न बंधका कारण है न मोक्षका।

इससे सिद्ध हुआ कि विकल्प रहित शुद्धात्माके अनुभव लक्षणको रखनेवाले वीतराग सम्यक्त्व और चारित्रसे अविनाभूत अर्थात् वीतराग सम्यक्त्व चारित्रकी जहां अवश्य प्राप्ति होती है ऐसा जो भाव है सो ही अभेदनयसे शुद्धात्मा शब्दसे कहा जाता है उसीको ही क्षयो-पशमिक भाव तथा भाव श्रुत ज्ञान भी कहते हैं सो ही मोक्षका कारण है। शुद्ध पारिणामिक भाव जो है सो एक देश व्यक्ति लक्षणरूप ऐसी कथंचित् भेद और अभेदरूप द्रव्यपर्याय स्वरूप जीव पदार्थकी शुद्धभावनाकी अवस्थामें ध्येयभूत द्रव्यरूपसे रहता है अर्थात् भाव-नाके समय शुद्ध पारिणामिक भाव ध्यान करने योग्य है ध्येय है, ध्यान पर्यायरूप नहीं है क्योंकि ध्यान की पर्याय विनाशनीय है और शुद्ध पारिणामिक भाव अविनाशी जीवका स्वभाव है। भावार्थः—यहां प्रयोजन कहनेका यह है कि वीतरागताका अंश कर्मोंकी निर्जरा और सरागताका अंश बंधका कारण है। ऐसा श्री अमृतचंद्र आचार्य्य कहते हैं "येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।" (पुरुषार्थ सि० २१४.) अर्थात् जितने अंशसे चारित्र अर्थात् वीतराग चारित्र होता है उतने अंशसे इस जीवके कर्मका बंध नहीं होता और जितने अंशसे रागभाव है उतने अंशसे कर्मोंका बंधन होता है। तथा मोक्षका कारण निर्जरा है इससे वह भाव भी जिससे कर्मकी निर्जरा हो मोक्षका कारण है। क्षायिक केवलज्ञान होनेके पहले क्षयोपशमिक ज्ञान होता है, यह क्षयोपशमिक श्रुतज्ञान सम्यग्दर्शन सहित होनेसे वीतरागताके अंश सहित होता है तथा जब वही ज्ञान स्वात्माके अनुभवमें लीन होता है तब विशेष वीतरागता प्रकट होती है। उसी वीतरागतामें तन्मयता प्रबल अविपाक निर्जराका कारण है जिससे अनेक समय प्रबद्ध एक कालमें झड़ जाते हैं। और ज्यों २ अभ्यास बढ़ता है अधिक २ शुद्धता भावोंकी होती है अर्थात् वीतरागताके अंश बढ़ते जाते हैं और सरागताके घटते जाते हैं—इसी ही तरह मोहका सर्वथा क्षय करके बारहवें गुणस्थानमें जाता है वहांपर भी क्षयोपशमिक भाव श्रुतज्ञानकी परिणति

है-परम एकाग्र है, उसके बलसे तीन घातिया कर्मोंका नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त होता है तब क्षायिक शुद्ध ज्ञान होता है, तथा यह ज्ञान आत्माका निज स्वभाव है और सिद्धोंके भी होता है इसीसे इसको शुद्ध पारिणामिक भाव भी कह सके हैं-तथा जो आत्मानुभव स्वभावरूप भाव पहले था वह भी अपने ही पारिणामिक भावके सन्मुख था इससे उसको एक देश शुद्ध पारिणामिक भाव कहते हैं । चारित्रकी अपेक्षासे उसी भावको बारहवें गुणस्थानसे पहले क्षयोपशम चारित्र, उपशम चारित्र व क्षपकश्रेणीकी अपेक्षा एक देश क्षायिक चारित्र और फिर क्षायिक या यथाख्यात चारित्र कहते हैं । सम्यक्त्वकी अपेक्षासे उसी आत्मानुभवरूपी भावको उपशमसम्यक्त्वमें उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्वमें क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्वमें क्षायिक भाव कहते हैं । ऐसा जानना ॥ ४३६ ॥

आगे उपदेश करते हैं कि इस शुद्ध आत्मतत्त्वको निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अर्थात् स्वानुभवमें तन्मयतारूप आत्मानुभवके द्वारा भाता हुआ यह आत्मा परम अविनाशी आनन्दको पाता है:-

गाथाः—**जो समयपाहुडमिणं पढिदूणय अच्छतच्चदो णादुं ।**
अच्छे ठाहिदि चेदा सो पावदि उत्तमं सुक्खं ॥ ४३७ ॥

संस्कृतार्थः—यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा चार्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स प्राप्नोत्युत्तमं सौख्यं ॥ ४३७ ॥

सामान्यार्थः—जो इस समयप्राभृत नामा शास्त्रको पढ़ करके और ग्रन्थके अर्थ और भावोंसे इसको जान करके शुद्ध आत्मीक पदार्थमें ठहरेगा सो अनुभवी आत्मा उत्तम सुखको पावेगा । **शब्दार्थ सहित विशेषार्थः**—यहां इस गाथामें श्री कुंदकुंदाचार्य देव समयसार ग्रंथकी समाप्ति करते हुए उसके फलको दिखलाते हैं-(जो) जो कोई भव्य जीव (इणं समय पाहुडम्) इस समयप्राभृत नामके शास्त्रको (पढिदूण) पढ़ करके (य) और (अच्छतच्चदो) इस ग्रंथके अर्थ याने माने और उनका भाव इन दोनों प्रकारसे (णादुं) जानकरके (अच्छे) फिर उपादेय-रूप शुद्धात्मा रूपी लक्षणको धारनेवाले पदार्थमें अर्थात् निर्विकल्प समाधि भावमें (ठाहिदि) ठहरेगा-अर्थात् शुद्धात्माके अनुभवमें लीन होगा (सोचेदा) वह चेतनेवाला अनुभवी आत्मा (उत्तमं सुक्खं) अतीन्द्रिय वीतराग स्वाभाविक परमाल्हादरूप परमानन्दको जैसा कि नीचेके श्लोकमें कहा है (पावदि) भविष्यकालमें पावेगा ।

श्लोकः-आत्मोपादानसिद्धं, स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावं ।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालं,
उत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥

अर्थ—जो सुख आत्माके ही उपादानकारणसे सिद्ध होता है, स्वयं अतिशयरूप है, बाधा रहित है, महान् है, बढ़ने घटनेसे रहित है, पंचेन्द्रियोंके व मनके विषयोंसे दूर है, प्रतिद्वंद्व अर्थात् पर पदार्थ सम्बन्धी औपाधिक व रागादिक भावोंसे रहित है, अपने शुद्ध आत्मद्रव्यके सिवाय अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा रहित है, जिसकी कोई उपमा नहीं होसक्ती, जो मर्यादा रहित है, अविनाशी है, सर्वकालमें उत्कृष्ट, अनंत और सार है, ऐसा परमसुख श्री सिद्ध भगवानके उत्पन्न होता है।

अब यहांपर शिष्यने प्रश्न किया—हे भगवन्। आपने अतीन्द्रिय सुखका निरंतर व्याख्यान किया है पर वह सुख कैसा है ऐसा लोग नहीं जानते सो कहिये कैसा है ? तब भगवान आचार्य कहते हैं कि कोई भी देवदत्त नामका पुरुष स्त्री सेवनको आदि लेकर पंचेन्द्रियोंके विषयोंके व्यापारसे हटा हुआ आकुलता रहित चित्त होकर बेफिकर बैठा है उसको किसीने भी पूछा ? भो देवदत्त ! क्या तू सुखी है ? तब वह कहता है कि मैं सुखी हूं। इस समय उसके चित्तमें किसी इन्द्रियके विषय सेवनकी आकुलता नहीं है, मन सावधान है, तो वह अपनेको सुखी कहता है—यही अतीन्द्रिय सुखका एक सामान्य दृष्टान्त है क्योंकि सांसारिक सुख पंचेन्द्रियोंके विषयोंके सेवनसे पैदा होता है और यहां विषयसेवन न होते हुए भी देवदत्तके मनमें सुख झलक रहा है क्योंकि उसके मनमें आकुलता नहीं है। तथा जो अतीन्द्रिय सुख है सो पंचेन्द्रियोंमें व्यापारका अभाव होनेपर ही अनुभव होता है जैसे इस दृष्टान्तमें कहा गया। यहां तो सामान्यरूपसे अतीन्द्रिय सुखका लाभ है, पर जो पंचेन्द्रिय और मनसे होनेवाले सर्व विकल्पजालोंसे रहित, आत्माकी समाधिमें तल्लीन परमयोगी या ध्यानी साधु हैं उनको स्वसंवेदन गम्य अर्थात् अपने ही अनुभवसे प्रकट होने योग्य अतीन्द्रिय सुख विशेषरूपसे प्राप्त होता है। तथा इसी अनुमानसे परम जिन योगीश्वर मुक्त प्राप्त आत्माओंके अर्थात् सिद्धोंके यह अतीन्द्रिय सुख सिद्धहोता है तथा यह अनुमान गम्य है, हम लोगोंको अपेक्षा प्रत्यक्षके समान अगम्य है। यहां अनुमानका प्रयोग बतलाते हैं अनुमानमें साधन और साध्यकी आवश्यक्ता 'साधनात्साध्य विज्ञानमनुमानं' (परीक्षामुख) तो इस अनुमानके प्रयोगमें मुक्तात्माओंके इन्द्रियोंके विषयका व्यापारका अभाव होनेपर भी अतीन्द्रिय सुख है यह पक्ष है क्योंकि इस समय उसी इन्द्रिय विषयके व्यापारके अभावसे इन्द्रिय विषयोंके व्यापारसे दूरवर्ती निर्विकल्प समाधिमें रत परम मुनीन्द्रोंके स्वसंवेदनरूप आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती है, यह हेतु या साधन है। इस तरह पक्ष और हेतु रूपसे दो अंगी अनुमान जानना योग्य है। तथा आगममें आत्मोपादान सिद्धम् इत्यादि श्लोकमें कहे अनुसार अतीन्द्रिय सुख प्रसिद्ध ही है। इस कारणसे अतीन्द्रिय सुखमें सन्देह नहीं करना योग्य है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थमें कहा है—

यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवं ।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमं ॥ १ ॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं ।
भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं ॥ २ ॥
अनंतगुणितं तस्मादत्यक्षं स्व स्वभावजं ।
एकस्मिन् समये भुक्तं तत्सुखं परमेश्वरः ॥

सामान्यार्थः—जो सर्व देव और मनुष्य बाधा रहित और सर्व इन्द्रियोंको रंजाय-मान करनेको समर्थ ऐसे इन्द्रियोंके विषयोंसे पैदा होनेवाले सुखको अब भोगते हैं। व ऐसे महाऋद्धि सहित स्वादिष्ट और अपने अंतःकरणको रंजायमान करनेवाले सुखको सबोंने अतीत कालमें जो भोगा हो, और भावीकालमें भोगेंगे उससे अनंतगुणा अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे पैदा होनेवाले सुखको एक ही समयमें परमेश्वर भोगते हैं। भावार्थः—यहां भी जो इन्द्रियोंके विषयोंसे उपयोगको हटाकर आत्मानुभवमें लीन हो जाते हैं उनको इसी तरह अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है जैसा कि सिद्धोंके हैं इसीसे सिद्ध सुखकी महिमा अपार है और वह गृहण करने योग्य है ॥ ४३७ ॥

इसतरह पूर्वमें कहे प्रकारसे विष्णुके कर्त्तापनेके निराकरणकी मुख्यतासे सात गाथाएं हुईं। उसके बाद अन्य जीव करता है। अन्य जीव भोगता है इस बौद्ध मतके एकांतको निराकरणकी मुख्यतासे चार गाथाएं पूर्ण हुईं। उसके बाद आत्मा रागद्वेषादि भाव कर्मोंको नहीं करता है इस सांख्यमतके एकांतको निराकरण करते हुए सूत्र पांच कहे। उसके बाद कर्म ही सुख आदिक करता है आत्मा नहीं करता इस सांख्यमतके एकांतको हटाते हुए फिर भी १३ गाथाएं कहीं उसके पीछे अपने मनमें होनेवाले राग भावका घात करना चाहिये ऐसा जो नहीं जानता हुआ बाह्य शब्द आदि इन्द्रियोंके विषयोंका मैं घात करूं ऐसा सोचा करता है उसके सम्बोधनके लिये सात गाथाएं पूर्ण हुईं। उसके बाद आत्मा द्रव्य कर्मोंको व्यवहार नयसे और भावकर्मोंको निश्चय नयसे करता है इस कथनकी मुख्यतासे ८ गाथाएं पूर्ण हुईं। इसके पीछे ज्ञान जानने लायक ज्ञेयके रूपसे नहीं परिणमन करता है ऐसा कहते हुए १० सूत्र कहे। उसके पीछे शुद्धात्माकी प्राप्ति सो ही निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्या-ख्यान, आलोचना और चारित्र है इस व्याख्यानकी मुख्यतासे सूत्र चार कहे। उसके बाद पांच इन्द्रिय और मनके विषयोंका रोकना इस कथनसे सूत्र १० कहे. उसके बाद कर्म चेतना और कर्मफल चेतनाके विनाशके कथनकी मुख्यतासे गाथाएं तीन हुईं उसके पीछे शास्त्र व इन्द्रियोंके विषय आदिक ज्ञान नहीं हैं ऐसा कहते हुए गाथाएं १५ हुईं। उसके पीछे शुद्धात्मा निश्चयसे कर्म और नोकर्मोंके आहार आदिकको नहीं गृहण करता है इस व्याख्यान,

की मुख्यतासे गाथाएं तीन हैं। उसके बाद शुद्धात्माकी भावनारूप भावलिंगकी अपेक्षा विना द्रव्यलिंग मोक्षका कारण नहीं होता ऐसा प्रतिपादन करनेकी मुख्यतासे गाथाएं सात कहीं। उसके बाद मोक्षरूप फलको दिखलानेकी मुख्यतासे सूत्र एक है।

ऐसे शुद्धात्माकी अनुभूतिमई लक्षणस्वरूप समयसारकी तात्पर्यवृत्ति व्याख्यामें समुदायसे ९६ गाथाओंसे १२ अधिकारोंके द्वारा समयसार चूलिका नामा दशमां अधिकार समाप्त हुआ।

(भाषाटीकामें यह ११वां अधिकार समझना)

अब यहां टीकाकार कुछ विशेष लिखते हैं कि यहां स्याद्वादकी शुद्धि अर्थात् निश्चयके लिये वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था या व्याख्या तथा उपाय और उपेयभाव कुछ यहां विचार किया जाता है। उपाय मोक्षका मार्ग है। उपेय मोक्ष है। अब यहां स्याद्वाद शब्दका अर्थ क्या है इस प्रश्नपर आचार्य कहते हैं कि स्यात् अर्थात् कथंचित्, किसी अपेक्षासे या किसी विशेष प्रकारसे व अनेकांतरूपसे वाद अर्थात् कहना, जल्पना व प्रतिपादन करना सो स्याद्वाद है यही स्याद्वाद श्री अर्हंत भगवानका शासन है। यह भगवानका शासन सर्व वस्तुओंको अनेकांत रूप बतलाता है। अनेकांतका क्या अर्थ है सो कहते हैं। कि एक वस्तुमें वस्तुपनेको सिद्ध करनेवाली अस्तित्त्व, नास्तित्त्व आदि स्वरूप परस्पर विरुद्ध अपनी २ अपेक्षाको लिये जो दो शक्तियां हैं उनके कहनेके लिये कथंचित् अनेकांत कहा जाता है। वह अनेकांत क्या करता है? इसपर कहते हैं कि ज्ञानमात्र जो कोई भाव या जीवपदार्थ या शुद्धात्मा है सो तत्रूप है, अतत्रूप हैं, एकरूप है, अनेकरूप है; सत् रूप है, असत् रूप है; नित्यरूप है, अनित्यरूप है इत्यादि स्वभावरूप आत्मा है ऐसा वह अनेकांत कहता है। जैसे ज्ञानरूपसे तत्रूप है अर्थात् उसी स्वभावरूप है; ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ की अपेक्षासे यह जीव अतत्रूप है अर्थात् ज्ञानज्ञेय पदार्थ रूप नहीं है। द्रव्यार्थिक नयसे एक है, पर्यायार्थिक नयसे व पर्यायोंकी अपेक्षासे अनेक है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे सतरूप है; पर द्रव्यक्षेत्र कालभावकी अपेक्षासे असत् रूप है। द्रव्यार्थिक नयसे नित्य है, पर्यायार्थिकनयसे अनित्य है। पर्यायर्थिकनयसे भेदरूप है, द्रव्यार्थिकनयसे अभेदरूप है, इस तरह अनेक धर्म या स्वभावरूप यह ज्ञान स्वरूप जीव है।

इस स्याद्वादका स्वरूप श्री समन्त भद्राचार्य देवने भी कहा है:—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते ॥१॥
सर्वथा नियमत्यागी यदादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥२॥
अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।

अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात ॥३॥
धर्मिणोऽनंतरूपत्वं धर्माणां न कथंचन ।
अनेकांतोप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥४॥

भावार्थः—सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षी जो असत्, अनेक, अनित्य और अवक्तव्य नय हैं वे पदार्थ सर्वथा ही सत् रूप ही है या असत् रूप ही है इत्यादि सर्वथा भावको दोषित करते हैं और स्यात्पनेको पुष्ट करते हैं। सर्वथाके नियमका त्याग करनेवाला व अपेक्षाको करनेवाला ऐसा जो स्यात् शब्द सो आपके ही न्यायमें देखा गया है। अन्य जो आत्माके यथार्थ स्वरूपके नहीं माननेवाले हैं उनके यहां यह नहीं देखा गया। अनेकांत भी अनेकान्त है प्रमाणनयसे साधा जाता है प्रमाणसे तो अनेकान्त है है और नयकी अपेक्षासे एकांत है। धर्मी जो स्वभाववान वस्तु सो अनंत स्वभावमई है परन्तु स्वभावोंके अर्थात् प्रत्येक धर्मके अनंत स्वभाव किसी तरह नहीं हो सके इसलिये अनेकांत भी अनेकांत रूप है—इस कारण यह जैन मत भी अनेकांतरूप है। इस प्रकार कथंचित् शब्दका वाचक व अनेक धर्मरूप वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला स्यात् शब्द है ऐसा इसका अर्थ संक्षेपसे जानना योग्य है। तहां इस तरह अनेकांतके व्याख्यानसे ज्ञानमात्र भावमई जीव पदार्थ एक और अनेकरूप सिद्ध हुआ है। यह एक या अनेकरूप ज्ञानमात्र जीव पदार्थ नयकी अपेक्षासे भेद और अभेद रत्नत्रय स्वरूप निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग रूपसे मोक्षका उपाय या साधनेवाला होता, तथा मोक्ष रूपसे यही जीव पदार्थ उपेयभूत है साध्य रूप है ऐसा जानना योग्य है। अर्थात् यह अनेक धर्मरूप जीव पदार्थ रत्नत्रयके साधनकी अपेक्षासे उपाय या साधन और रत्नत्रयका फल स्वरूप मुक्त अवस्थाका भोक्ता होनेसे उपेयरूप या साध्यरूप है। भावार्थः—आत्मा ही साधक है आत्मा ही साध्य है। जब यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूपका अनुभव करता है अर्थात् अभेद रत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्माके अनुभवमें तल्लीन है तब यह साधक है और इसीकी आगेकी शुद्ध अवस्था साध्य है।

आगे प्राभृत और अध्यात्म शब्दका अर्थ कहते हैं:—जैसे कोई भी देवदत्त राजाके दर्शनके लिये जाता है तब कोई भी सारवस्तु राजाको भेट करता है वह सार वस्तु प्राभृत कही जाती है। तैसे ही परमात्माके आराधक पुरुषके लिये दोषरहित परमात्मरूप राजाके दर्शन या अनुभव करनेके प्रयोजनसे यह शास्त्र भी प्राभृत है क्योंकि सार वस्तुरूप है। यह प्राभृतका अर्थ है। भावार्थ—समयप्राभृतको समयसार कहते हैं। रागद्वेष आदि परद्रव्यके आलंबनसे रहित होकर अपने शुद्ध आत्मामें अर्थात् विशुद्ध आधार रूप पदार्थमें अनुष्ठान करना, आचरण करना सो अध्यात्म है। इस प्राभृत शास्त्रको जानकर क्या करना सो कहते हैं:-

कि इस शास्त्रको जानकर, अच्छीतरह अनुभव कर नीचे लिखे प्रमाण भावना करनी।

योग्य है। कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंदमई एक स्वभाव रूप हूं, मैं संकल्प विकल्परहित निर्विकल्प हूं, मैं उदासीन हूं, अपना ही निरंजन शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान, उसीका सम्यग्ज्ञान और उसीका अनुष्ठान या सम्यक्चारित्र या तन्मयपना इस रूप जो निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिभाव उससे उत्पन्न जो वीतराग सहज आनंदरूप सुखका अनुभव उतना ही है लक्षण जिसका ऐसा जो स्वसंवेदन ज्ञान उसीके द्वारा मैं अनुभवने योग्य हूं, जानने योग्य हूं, प्राप्त होने योग्य हूं या मैं उसी अनुभव रूपी रससे पूर्ण कलशकी तरह भरा हूं। मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापार, मन, वचन, कायका व्यापार, भावकर्म द्रव्यकर्म और नोकर्म, अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ, देखे, सुने अनुभवे हुए भोगोंकी इच्छारूप निदानशल्य, मायाशल्य, मिथ्याशल्य इत्यादि सर्व विभाव परिणामोंसे रहित व शून्य हूं तीन जगतमें भी व तीन कालमें भी मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना इन नवप्रकारसे भी शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध हूं ऐसे ही और भी सर्व जीव हैं जैसा मैं हूं ऐसी भावना करनी योग्य है। ऐसा इस ग्रंथका तात्पर्य है।

इस ग्रंथमें टीकाकार कहते हैं कि इसमें ज्यादातर पदोंकी संधि नहीं की गई व वाक्य भी भिन्न २ रक्खे गए इसी लिये कि पाठकोंको सुख पूर्वक ज्ञान हो इस कारणसे लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष, विशेषण, वाक्यसमाप्ति आदि दोष विवेकियोंको गृहण नहीं करना चाहिये तथा शुद्धात्मा आदि तत्त्वके व्याख्यान करनेमें जो कुछ अज्ञानसे कहीं भूल गया हूं सो भी क्षमा करने योग्य है। अब टीकाकार अन्तिम मंगलाचरण कहते हैं।

जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्च पाहुणस्सेलो,
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ, समप्पिओ, भव्वलोयस्स ॥ १ ॥
जंसेलीणा जीवा तरंति संसार सायर मणंतं,
तं भव्व जीव सरणं णंदउ जिण सासणं सुइरं ॥ २ ॥

इसका भावार्थ यह है कि " श्रीपद्मनंदि ऋषि " अर्थात् श्री कुंद कुंदाचार्य देव जयवन्त हों जिन्होंने महातत्त्वका लाभ लेकर अपनी बुद्धिके विभवसे उद्धार किया अर्थात् यह ग्रंथ रचा और भव्य जीवोंको समर्पण किया। जो भव्य जीव इस महातत्त्वमें लीन होते हैं वे इस अनंत संसार समुद्रको तिर जाते हैं। यह महा तत्त्वको बतानेवाला जिन शासन सदाकाल आनंदरूप रहो जो सर्व जीव मात्रका शरण है व संसारके क्लेशोंसे रक्षा करनेवाला है।

इति श्री कुंदकुंददेव व आचार्य विरचित समय प्राभृत नाम ग्रंथ सम्बन्धी तात्पर्य वृत्ति नामकी व्याख्या दश (यहां ११) अधिकारोंके द्वारा कहे हुए ४३९ चार सौ उनतालीस गाथाओंकी पूर्ण की। यहां वृत्तिकार आशीर्वाद सूचक मंगलाचरणका श्लोक कहते हैं:—

यश्चाभ्यस्यति, संश्रृणोति पठति प्रख्यापयात्यादरात्।

तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतं।
मध्रुद्रूपमलं विचित्रमकलं ज्ञानात्मकं केवलं।
संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिलल्नारक्तः सदा वर्त्तते॥

भावार्थ यह है कि जो कोई इस ग्रंथकी तात्पर्य वृत्ति नामकी व्याख्याको अभ्यास करता है, सुनता है, पढ़ता है, व अति आदरसे इसकी प्रसिद्धि करता है सो पुरुष स्वरूपके रसिक महात्माओंके द्वारा वर्णन किये हुए इस सार, अविनाशी स्वरूपमय, नाना प्रकारकी विचित्रताको रखनेवाले ज्ञान स्वरूप केवल भावको पाकर मुख्य अग्र जो सिद्ध पद उसमें रहता हुआ भी सदा ही मुक्तिरूपी ललनामें लवलीन रहता है। इति तात्पर्य वृत्तिसहित समयसार ग्रंथ समाप्त हुआ।

ग्रंथका भावार्थः—इस समयसार ग्रंथको रचकर श्री कुंदकुंदाचार्यदेवने बहुत बड़ा उपकार किया है जिस उपायसे उपेयकी प्राप्ति होती है वह वास्तविक उपाय व साक्षात् साधन जिसको कि साधकतम कहते हैं कि जिससे साध्यकी अवश्य सिद्धि हो व जो साध्यकी सिद्धिका मुख्य उपादान कारण है सो इस ग्रंथमें वर्णन किया गया है। जो भव्य जीव श्री उमास्वामिकृत तत्वार्थसूत्रके अर्थका ज्ञाता व गुणस्थानोंका स्वरूप व उनमें कर्मोंका बंध, उदय, सत्ता व कैसे २ भाव संभव हैं इन बातोंका भले प्रकार मर्मी है सो ही इस ग्रंथके वास्तविक स्वरूपको समझकर अपना हित कर सकता है। मोक्षका स्वरूप अपने शुद्ध परम पारिणामिक भावका लाभ है जहां आत्माके अनंतगुण अपने खास स्वरूपमें झलक जाते हैं, निर्मल हो जाते हैं, ऐसे शुद्ध हो जाते हैं कि वे फिर कभी भी मैले नहीं हो सकते उन गुणोंमेंसे जो कुछ गुण आगममें कहे गए हैं उनमें स्वाधीन आनन्द भी एक गुण है। यह आनन्दगुण अपने पूर्ण प्रकाशके साथ निरंतर बना रहता है। इस उत्तम सुखमई अवस्थाके प्राप्त करनेका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रकी एकतारूप है ऐसा ही श्री "कुंदकुंदाचार्य" देवका और ऐसा ही उनके "शिष्य श्री उमास्वामीका वाक्य है जैसे 'दंसणाण चरित्ताणि मोक्ख मग्गं' (स॰ सार २३२) और 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्वा॰ सू॰ १ अ॰ १ उमा॰) श्री उमास्वामी महाराजने इसीका स्वरूप व्यवहार नयकी मुख्यतासे और श्री कुंदकुंदाचार्य देवने निश्चयकी मुख्यतासे कहा है। दोनोंहीने सम्यग्दर्शनके विषयभूत नव पदार्थ या सात तत्वोंका स्वरूप व्यवहार और निश्चय नयसे इसतरह दिखलाया है कि जिससे दोनों नयोंका विरोध मिट जाता है। दोनोंका स्वरूप यथार्थमें झलक जाता है और दोनोंकी उपयोगिता प्रकट होती है। निश्चयनयरूप मोक्षमार्ग उपादान साधन है। और व्यवहार नयरूप मोक्षमार्ग इसीकी प्रकटताके लिये बाह्य सहकारीरूप निमित्तकारण है। हर एक कार्यमें उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी जरूरत पड़ती है। ज्यों २ उपादान कारण कार्यरूप होने लगता है निमित्त कारणकी शोभता होती जाती है।

पर जबतक पूरा कार्य नहीं होलेता है निमित्त कारणका संयोग सहकारी रहता है। इस ग्रंथमें आचार्यका यही उपदेश है कि जबतक स्वरूपका लाभ नहीं उससे नीची अवस्थामें व्यवहार हस्तावलम्बनरूप है-परन्तु परका आश्रय जहां तक है वहां तक आत्मामें निर्बलता है अतएव पुरुषार्थी आत्मा यही भावना करे कि मैं परके आश्रयसे छूट कर स्वाधीन कार्य करनेवाला अनंतबली हो जाऊँ-यद्यपि इस भावनामें वह पराश्रित व्यवहारको उपादेय न मान कर हेय ही समझता है परन्तु जब तक निश्चय स्वरूपकी स्वाधीनताको नहीं पालेता है व्यवहारके आश्रयको छोड़ता नहीं है-क्योंकि इसीका आश्रय उसके परिणामको और भी नीची अशुभोपयोगकी दशामें जानेसे मना करता है। ज्ञानी-अनुभवी उपादान व निश्चयरूप साधनको ही साक्षात् मोक्षका मार्ग और व्यवहारको केवल मात्र सहकारी परम्परा रूपसे मोक्षका मार्ग जानता है। इस ग्रंथमें नव पदार्थोंके असल तत्त्वको दिखलाते हुए आचार्यने बड़ा ही अपूर्व काम किया है कि उनके भीतरसे जगह २ शुद्धात्माको छांटकर अलग अनुभव करा दिया है। जीव पदार्थका यद्यपि संसार अवस्थामें कर्मोंके सम्बन्धसे विचित्रपना है; देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच अवस्थामें अनेक प्रकार विभावोंमें परिणमन है तौ भी जैसे अनेक नमकीन बने हुए भोजनके पदार्थोंमें जो कुछ मनोहरता है व स्वादिष्टपना है वह नमकके कारणसे है। यदि नमक न हो तो स्वादिष्ट नहीं लगते, उस नमकने ही सब व्यंजनोंमें प्रवेश कर उनको स्वादिष्ट कर दिया है तौ भी वह नमक अपने स्वरूपसे छूट नहीं गया है वह नमक अपने गुण और पर्यायोंका धारी आप स्वयं है जैसाका तैसा ही बना है, यद्यपि व्यंजनोंमें प्रवेश कर उन्हींमें तन्मय दीखता है तौ भी उस नमककी नमकीनता हरएक व्यंजनमें झलक रही है-ज्ञानी उन व्यंजनोंके अंदर उस नमकके असल स्वरूपका अनुभव करता है और प्रयोगका ज्ञाता प्रयोग करके नमकको अलग भी कर सक्ता है। इसी तरह यह जीव भी अपनी अनेक पर्यायोंमें अपने ज्ञान स्वभावसे झलक रहा है-उसका ज्ञानादि स्वस्वभाव संसारके भ्रमणमें खोया नहीं गया उसीका उसीमें है। ज्ञानी जीव अनेक पुद्गलकी संयोग रूप अवस्थाओंमें भी जीवको जैसाका तैसा शुद्ध निर्विकार ज्ञानानंद-मय अनुभव करता है और ध्यानादि प्रयोगोंसे उसको पुद्गलकी संगतिसे छुड़ा सक्ता है। इस तरहका कथन हरएक सुखके इच्छुक आत्माको अपने ही अन्दर अपने आत्माकी स्वाभाविक शुद्ध शक्तिका अनुभव करा कर परमानंद भोग करानेका कारण होजाता है।

अजीवसे यह जीव शुद्ध निश्चय नयसे सर्वथा भिन्न है-यद्यपि अजीवकी संगतिके कारण जीवको मनुष्य, नारकी, गोरा, काला, नीला, रागी, द्वेषी, मोही आदि कहते हैं परंतु यह सब कल्पना व जीवके लिये दुष्नाम पुद्गलकी संगतिसे हैं। पुद्गलके ही कारण जीव संसार-नाटक बनाता है। जब प्रत्येकका भिन्न२ लक्षण विचारा जाता है तो यह जीव अपने शुद्ध

चैतन्यमई लक्षणको लिये हुए प्रकट सर्व पुद्गलकृत विकारोंसे जुदा ही अनुभवमें आता है। मुमुक्षु व अतीन्द्रिय निराकुल सुखका अर्थी ज्ञानी जीव ज्ञाता, दृष्टा आत्मपदार्थको अजीवसे भिन्न देख उसीकी भावनामें तन्मय हो अपूर्व रसको वेदता हुआ अपनी महिमामें निःशंकपने प्रकाशित रहता है। यद्यपि व्यवहारमें इस जीवको परभावोंका कर्त्ता कहते हैं पर जब शुद्ध निश्चय दृष्टिसे विचारते हैं तो यह आत्मा ज्ञान स्वरूप है, परमशांत है, आनन्दमय है अतएव अपनी ज्ञान परिणतिके सिवाय अन्य पर परिणतिका कर्त्ता नहीं है। हां अपने अज्ञानमें यह आत्मा अपनेको परभावका करनेवाला भले ही मानले तथापि शुद्ध ज्ञानदृष्टिमें यह आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें व्यापक रहता हुआ उन्हींकी शुद्ध परिणतिका करनेवाला है। यद्यपि प्रथम साधक अवस्थामें यह आत्मा बंध और मोक्षका करता है अर्थात मैं बंधा हूं, या बंधता हूं, बंधा था, व मैं कर्मोंको छोड़ता हूं, छोड़ूंगा और मोक्ष पाऊंगा इत्यादि विकल्पोंका कर्त्ता होजाता है पर निर्विकल्परूप ऊंची अवस्थामें केवल अपनी शुद्ध परिणतिका विना किसी संकल्प विकल्पके कर्त्ता है। वास्तवमें ज्ञानी स्व समाधिमें लीन हो ऐसा ही अनुभव करता है कि मैं क्रोधादि भावोंको लेकर अनेक अशुद्ध भावोंका कदापि कर्त्ता नहीं, मैं तो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप परम गंभीर अपनी ज्ञानानंदमई परम शांत चंद्र समान ज्योतिसे परिपूर्ण सदा ही प्रकाशरूप हूं। यद्यपि जगतमें कोई जीव पुण्यात्मा, कोई जीव पापी पुण्यकर्म और पाप कर्मके संयोगसे व्यवहार दृष्टिमें नजर आता है और यह भी झलकता है कि जगतके जीव अपने शुद्ध जीवत्वको भूल व्यवहार धर्म और अधर्ममें लवलीन रहते हुए परद्रव्यके मोहके कारण पर पुद्गलमय पुण्य या पाप कर्मको बांधते हैं तथा उनके उदय होने पर उसी मोहके कारण सुखी या दुःखी होते और महा आकुलतामें लीन हो फिर नवीन पुण्य या पाप कर्मको बांधते हैं तथापि शुद्ध निश्चय दृष्टिसे देखनेवाला ज्ञानी इस पाप और पुण्य दोनोंको पुद्गलमई अपनेसे भिन्न अनुभव करता है और अपने अनंत गुणोंके विलासमें विरोधी व संसारका कारण जान इनको व इनके कारणरूप अशुद्ध भावों तकको त्याग देता है और स्वात्माको पूर्ण ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय अनुभव करता हुआ अपने स्वरूपमें तल्लीन रहता है। केवल जानकर ही आलसी की तरह नहीं बैठ रहता है किन्तु पुरुषार्थी हो परसे हट निजमें ठहरनेका अभ्यास करता है। ज्ञानी भव्य जीव यद्यपि व्यवहार दृष्टिसे जब देखता है तो मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगोंको आश्रवका कारण जानता है उनमें भी मुख्यतासे योगोंको प्रकृति प्रदेशका और कषायोंको स्थिति और अनुभागका कारण जान उनके हटानेको संवर करना चाहता है। तथापि जब वह ज्ञानी जीव, जीव और अजीवके भेद विज्ञानको ध्यानमें ले अपने स्वसंवेदन आत्मानुभवमें लीन होता है तब तुरत ही शुद्धात्माका लाभ कर आश्रवोंसे दूर हो संवर भूमिमें ठहर जाता है तथा पिछले बांधे हुए कर्मोंको छुड़ानेके लिये यद्यपि व्यवहारमें सर्व परिग्रहको त्याग

मुनि हो द्रव्यलिंगका आश्रय लेता है तथापि भावलिंगके विना स्वसाधनकी साक्षात् सिद्धि न जान शुद्ध ज्ञान और वैराग्यके पुंज आत्म स्वभावमें लीन हो जाता है। यद्यपि इस उद्यममें लगे हुए कोई पूर्ववद्ध कर्म अपना फल दिखलाते हैं तो भी वह ज्ञानी उनमें हर्ष व विषाद नहीं करता है, परम निर्भय हो स्व स्वरूपमें उपसर्ग पीड़ित पांडवोंकी तरह लीन रहता है। जब वह कर्मोंसे मोह छोड़ देता है तब वह कर्म अपने आप कुछ फल दे कुछ विना फल दे आत्माको छोड़ने चले जाते हैं। वह ज्ञानी भाव निर्जरारूपी भूमिमें दृढ़ खड़ा रहता है और वह भी विकल्प नहीं करता कि मैं कर्म शत्रुओंको हटाता हूं किन्तु निश्चल व निष्कम्प स्व अनुभूतिके विलासमें लीन हुआ आनन्दामृतका स्वाद लिया करता है। ज्ञानी भलेप्रकार जानता है कि, कर्म, नोकर्म. आदि अचेतन व चेतन पदार्थ जो मुझसे वाह्य हैं मुझे कर्मबंधके कर्त्ता नहीं है। किन्तु मेरेमें उन पदार्थोंके निमित्तसे व उनकी इच्छासे नाना प्रकारके रागद्वेषादिक जो भाव होते हैं वे भाव ही कर्मबंधके निमित्त हैं। इसीलिये ज्ञानी इन भावोंको न करके परम उदासीन व समता भावमें लीन रहता है और रागादि भावोंके होनेमें मूल कारण अपना ही मोह भाव है ऐसा जान तथा सर्व जगतके पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप अनुभव कर कर्मोंके उदयमें भी समभाव रखता हुआ स्वरूपमें तन्मई रहता है। इससे नवीनबंधको न करता हुआ पुरातनबंधको नाश करता है। परम तत्त्वज्ञानी व्यवहार प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनाको विषका कुंभ जान छोड़ता है और अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय प्रतिक्रमण आदिको अमृतका कुंभ जान गृहण करता है—परके गृहणका अभावकर निरपराधी होता है तथा ऐसा स्वरूपमें लवलीन रहता है कि जिससे चार घातिया कर्मोंका नाश कर भाव मोक्षका स्वामी हो जाता है। और सदाके लिये अनंत सुखका लाभ कर लेता है। इसतरह नव पदार्थोंकी कल्पना व्यवहार नयसे है इस कल्पनाको त्याग निर्विकल्प दशामें जब लीन रहता है तब केवल शुद्धात्माका परम अनुभव प्राप्त करता है। तथा उसी समय परम शुद्ध पारणामिक भावको भाता हुआ अथवा कारण समयसारको ध्याता हुआ उपादान वीर्यकी प्रकटतासे कार्य्य समयसार हो जाता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु जीवको उचित है कि जो वह परम आत्मीक आनन्दको प्राप्त करना चाहे और साक्षात् स्व स्वरूपको वर्त्तमानमें ही अनुभव करना चाहे तो वह या तो सर्वपरिग्रहका त्यागकर साधु हो विकल्परहित निश्चय चारित्रमें लीन होवे या श्रावक अवस्थामें रहता हुआ व्यवहार धर्मको साधन करे परंतु अंतरंगमें निश्चय रत्नत्रयरूपको ही उपादान जाने व्यवहारको हेय जाने और जिस तिस प्रकारसे हो परमात्मानुभवमें लीन रहे

दोहा—

श्री जिनचरण प्रसादते, भाषा हुई प्रकाश।
जे भवि धारें कंठमें, होवें स्व पर प्रकाश॥ १॥

निज अनुभूति अमूल्यता, परमानंद दातार ।

जे पावैं होवैं सुखी, भव संकट निवार ॥ २ ॥

अल्पमती गुणश्रुत रहित, मैं निर्बुद्धि अपार ।

अर्थ मात्रमें भूल कछु, निर्मल बुद्धि विचार ॥ ३ ॥

क्षम्य शम्य मम दोषको मूल ग्रन्थको पेख ।

इसे सुधारो गुणभवि, आतम तत्त्व गवेख ॥ ४ ॥

इति श्री समयसारकी तात्पर्यवृत्ति व्याख्याकी भाषा वचनिका मिती आश्विन सुदी ३, सोमवार वीर सं० २४४१ व विक्रम सं० १९७२ तारीख ११ अक्टूबर १९१५के दिन इन्दौरमें पूर्ण की । अब मैं भव्य जीवोंको धर्मप्रीतिकी वृद्धिके अर्थ अपना संक्षेप परिचय देता हूं । मेरे आत्माको इस मनुष्य भवके पर्यायका सम्बन्ध लक्ष्मणपुर—लखनऊ जिला अवधनिवासी अग्रवाल वंश गोयल गोत्रज धर्मात्मा तत्त्वज्ञ लाला मंगलसैनके सुपुत्र लाला मक्खनलाल स्वपिता और परम सुशील मार्दव गुण विभूषित पुरुषार्थी परदुःखहरण कुशला नारायण देई स्वमाताके द्वारा विक्रम सं० १९३२ मिती कार्तिक सुदी ११ को प्रातःकाल हुआ । बाल्यावस्था हीसे श्री जिनेन्द्रके दर्शनका नियम आजन्म प्राप्त किया जिससे जिन-वाणी श्रवणका लाभ बिघलाभ करते हुए होता रहा। प्रथम साधारण देशी गणित व मंदिरजीमें भक्तामर सूत्र पूजादि पाठ पढ़े । फिर संस्कृत सहित इंग्लिश विद्या प्रवेशिका तक प्राप्त की । कलकत्तेकी धर्मात्मा मंडलीके सम्बन्धसे शास्त्रस्वाध्यायकी रुचि हुई । तबसे स्वाध्याय करते २ व जैन समाचार पत्र पढ़ते २ व धर्मके व्याख्यान सुनते २ धर्मकी रुचि व धर्मका ज्ञान बढ़ता गया कलकत्तेमें जौहरीका व्यापार व लखनऊमें सर्कारी नौकरी की। महामारी प्रकोपसे स्वमाता, स्वस्त्री, स्व लघु भ्राताका वियोग अष्ट दिवसके मध्यमें देख व शास्त्रके अमोलक तत्त्वका विचार कर ज्ञानध्यानको विशेष बढ़ानेकी रुचि हुई और गृहजंजालमें फिर फंसनेमें अरुचि हुई । बम्बईके सेठ दानवीर जैन कुल भूषण माणिकचंद हीराचंद जे. पी. के सन ई० १९०४के अनुमान सहारनपुरमें धर्म कार्यमें सहायता प्राप्तिकी अभिलाषा जान तबसे बम्बई रहना स्वीकार किया। धर्मात्मा परोपकारी सेठने मित्रवत् साधर्मीके समान व्यवहार किया । आध्यात्मिक व संस्कृत शास्त्रोंके स्वाध्यायकी विशेष रुचि हुई। अधिक काल स्वाध्यायमें बीता। अचानक मेरे गुरुभ्राता लाला अनंतलालका मरण युवावस्थामें देख अधिक अरुचि प्राप्तकर उसी वर्ष वीर सं. २४३१में श्रीमान् ऐलक पन्नालालजी महाराजके निकट सोलापुरमें मिती सावन सुदी १ को ब्रह्म-चर्य व्रतके नियम धारण किये व सातवीं प्रतिमा सम्बन्धी क्रियाओंका अभ्यास शुरू किया।

बारम्बार श्री समयसार ग्रंथकी तात्पर्य संज्ञिका टीका बांचनेसे व इसकी देशभाषा न देखके अपने कल्याण व अन्य भाषा प्रेमी जीवोंके हितार्थ इसकी भाषा प्रारंभ की। आज शुभ दिवस व घड़ी है कि यह वचनिका श्री गुरुके प्रसादसे इन्दौर नगरमें साधर्मी उदासीन श्रावक अमरचंदजी और पन्नालालजी गोधाके संगतिमें पूर्ण की।

ता० ११-१०-१९

सर्व धर्मात्माओंका कृपापात्र—
शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी,

इति शुभं भवतु, कल्याणं भवतु, सर्वजीवानां उपकारो भवतु।



शुद्धिपत्र ।

पृ.	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
६	१७	त ण्यत्तविभत्तं	तं ण्यत्तविभत्तं
९	२८	च्छुत केवली	च्छुत केवली
१०	१६	श्रत केवली	श्रुत केवली
११	६	भावना	भावनां
१२	१६	व्यहवार	व्यवहार
२०	१५	द्राष्टान्तों	द्राष्टान्तों
२२	७	द्द्रय	द्रव्य
२३	१३	विवहारा	ववहार
३०	२६	दद्दता	दृढ़ता
३२	२२	जितमोहं	जिद मोहं
४०	७	उदयं	उदयं
४८	२५	जाणम	जाण
५०	८	दर्शक	दर्शन
५५	६	उक्त	उष्ण
६२	३	निश्चयक	निश्चय करके
६३	१३	याख्यान	व्याख्यान
७०	३०	णाविपरिणमंदि	णाविपरिणमदि
८०	२६	सम्यत्व	सम्यक्त्व
८१	२८	शुद्धोप्रयोग	शुद्धोपयोग
८४	१०	धोगगल	पोग्गल
९६	३०	जो	जे
९९	१९	मकुर्वन्त	मकुर्वंतम्
१०१	१७	कराना है	करता है
१०६	४	कुव्वति	कुव्वंति
११२	६	सांख्यमता	सांख्यमत
,,	१५	परिणमयति	परिणामयति
१४०	७	सम्मंतं	सम्मत्तं
१४०	१४	भिन्न	भिन्न
१४३	२८	२१	१०

पृ०	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१४९	७	कम्मे णोकम्मे	कम्मं णोकम्मं
१९६	१९	बंधो:	बंधो
१९७	३	प्रकृतियोंके	प्रकृतियोंको
,,	२३	१०	१६
१९८	२१	भावकर्मों	कर्मों
१९९	१	वह	यह
,,	१	जि	कि
१६०	३०	चा	चार
१६५	२७	घातक्वरणनि	घातकारणानि
१६९	२०	पं........प्पं	पच्चयावहुवियप्पं
१८२	१५	जोड़ दे	छोड़ दे
१८४	३०	एत्तु	एतत्तु
,,	३१	तद्द	तद
२०९	१	परिणामों	परिणामोंको
२५७	१८	जीवस्स	जीवस्सा
२६५	२२	कंमकलं	कंमफलं
२६९	११	कुणादि	कुणदि
२७१	२१	अत्मा	आत्मा
२७५	२८	द्रव्यथिक	द्रव्यार्थिक
२८३	९	पुराय	पुण्य
२९१	११	अमना	अपना
३१०	११	शब्दार्थ सहित विशेषार्थ	विशेपार्थ
३१२	३१	दु........वंददि	दुक्खम्सवीयं अट्ठ-विहं तं वंधदि
३१५	८	मन,पर्यय	मन:पर्यय
३१७	६	अज्वझसाणं	अज्झवसाणं
३२१	२६	बद्धाये	बद्धा ये
३२३	२९	घित्तुं	घित्तुं
३२६	२१	लिगेसु व	लिंगेसु